श्री जवाहर किरणावली

श्री भगवती सूत्र व्याख्यान

भाग-1 व 2

प्रवचनकार

आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा.

किरण-28

श्री जवाहर किरणावली

श्री भगवती सूत्र व्याख्यान
भाग १ व २

प्रवचनकार
आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

सम्पादक
पं. श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक
श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३

प्रकाशक :
श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३

प्रकाशन सौजन्य :
श्रीमान् धूलचन्दजी पन्नालालजी कटारिया

संस्करण :
सप्तम : सन् २००६

सर्वाधिकार : श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

मूल्य : पचास रुपये मात्र

मुद्रक :
कल्याणी प्रिन्टर्स
अलख सागर रोड़, बीकानेर
दूरभाष : २५२६८९०

प्रकाशकीय

साधुमार्गी जैन परम्परा में महान् क्रियोद्धारक आचार्यश्री हुक्मीचंदजी म.सा. की पाट–परम्परा में षष्ठ युगप्रधान आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. विश्व–विभूतियों में एक उच्चकोटि की विभूति थे, अपने युग के क्रांतदर्शी, सत्यनिष्ठ, तपोपूत संत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन, वैराग्य से ओत–प्रोत साधुत्व, प्रतिभा–सम्पन्न वक्तृत्वशक्ति एवं भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्व–पर–कल्याणकर था।

आचार्यश्री का चिन्तन सार्वजनिक, सार्वभौम और मानव मात्र के लिए उपादेय था। उन्होंने जो कुछ कहा वह तत्काल के लिए नहीं, अपितु सर्वकाल के लिए प्रेरणापुंज बन गया। उन्होंने व्यक्ति, समाज, ग्राम, नगर एवं राष्ट्र के सुव्यवस्थित विकास के लिए अनेक ऐसे तत्त्वों को उजागर किया जो प्रत्येक मानव के लिए आकाशदीप की भाँति दिशाबोधक बन गये।

आचार्यश्री के अन्तरंग में मानवता का सागर लहरा रहा था। उन्होंने मानवोचित जीवनयापन का सम्यक् धरातल प्रस्तुत कर कर्तव्यबुद्धि को जाग्रत करने का सम्यक् प्रयास अपने प्रेरणादायी उद्‌बोधनों के माध्यम से किया।

आगम के अनमोल रहस्यों को सरल भाषा में आबद्ध कर जन–जन तक जिनेश्वर देवों की वाणी को पहुंचाने का भगीरथ प्रयत्न किया। साथ ही, प्रेरणादायी दिव्य महापुरुषों एवं महासतियों के जीवन–वृत्तान्तों को सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया। इस प्रकार व्यक्ति से लेकर विश्व तक को अपने अमूल्य साहित्य के माध्यम से सजाने–संवारने का काम पूज्यश्रीजी ने किया है। अस्तु! आज भी समग्र मानवजाति उनके उद्‌बोधन से लाभान्वित हो रही है। इसी क्रम में श्री भगवती सूत्र व्याख्यान भाग–1, 2 किरणावली का यह अंक पाठकों के लिए प्रस्तुत है। सुज्ञ पाठक इससे सम्यक् लाभ प्राप्त करेंगे।

युगद्रष्टा, युगप्रवर्तक, ज्योतिर्धर, आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. का महाप्रयाण भीनासर में हुआ। आपकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने और आपके कालजयी प्रवचन–साहित्य को युग–युग में जन–जन को सुलभ कराने हेतु समाजभूषण, कर्मनिष्ठ, आदर्श समाजसेवी स्व. सेठ चम्पालालजी बांठिया का चिरस्मरणीय, श्लाघनीय योगदान रहा। आपके अथक प्रयासों और समाज के उदार सहयोग से

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की स्थापना हुई। संस्था जवाहर–साहित्य को लागत मूल्य पर जन–जन को सुलभ करा रही है और पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सम्पादकत्व में सेठजी ने 33 जवाहर किरणावलियों का प्रकाशन कर एक उल्लेखनीय कार्य किया है। बाद में संस्था की स्वर्णजयन्ती के पावन अवसर पर श्री बालचन्दजी सेठिया व श्री खेमचन्दजी छल्लाणी के अथक प्रयासों से किरणावलियों की संख्या बढ़ाकर 53 कर दी गई। आज यह सैट प्रायः बिक जाने पर श्री जवाहर विद्यापीठ में यह निर्णय किया गया कि किरणावलियों को नया रूप दिया जावे। इसके लिए संस्था के सहमंत्री श्री तोलाराम बोथरा ने परिश्रम करके विषय–अनुसार कई किरणावलियों को एक साथ समाहित किया और पुनः सभी किरणावलियों को 32 किरणों में प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्यजी म.सा. के साहित्य के प्रचार–प्रसार में जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की पहल को सार्थक और भारत तथा विश्वव्यापी बनाने में श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर की महती भूमिका रही। संघ ने अपने राष्ट्रव्यापी प्रभावी संगठन और कार्यकर्ताओं के बल पर जवाहर किरणावलियों के प्रचार–प्रसार और विक्रय–प्रबन्धन में अप्रतिम योगदान प्रदान किया है। आज संघ के प्रयासों से यह जीवन निर्माणकारी साहित्य जैन–जैनेतर ही नहीं, अपितु विश्व–धरोहर बन चुका है। संघ के इस योगदान के प्रति हम आभारी हैं।

धर्मनिष्ठ, सुश्राविका श्रीमती राजकुंवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व. डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ में समस्त जवाहर–साहित्य–प्रकाशन के लिए 60,000 रु. एक साथ प्रदान किये गये थे जिससे पूर्व में लगभग सभी किरणावलियाँ उनके सौजन्य से प्रकाशित की गई थीं। सत्साहित्य–प्रकाशन के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला संस्करण श्रीमान् रिद्धकरणजी एवं सोहनलालजी सिपानी, बैंगलोर के सौजन्य से प्रकाशित किया गया और प्रस्तुत किरण 28 (श्री भगवती सूत्र व्याख्यान भाग–1 व 2) के अर्थ सहयोगी श्रीमान् धूलचन्दजी पन्नालालजी कटारिया हैं। संस्था सभी अर्थ–सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती है।

निवेदक

चम्पालाल डागा
अध्यक्ष

सुमतिलाल बांठिया
मंत्री

आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	थांदला, मध्यप्रदेश
जन्म तिथि	:	वि.सं. 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	:	श्री जीवराजजी कवाड़
माता	:	श्रीमती नाथीबाई
दीक्षा स्थान	:	लिमड़ी (म.प्र.)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. 1948, माघ शुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	:	रतलाम (म.प्र.)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. 1976, चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	:	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. 1976, आषाढ़ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	:	भीनासर (राज.)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. 2000, आषाढ़ शुक्ला अष्टमी

आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

1. देश मालवा गल गम्भीर उपने वीर जवाहर धीर
2. प्रभु चरणों की नौका में
3. तृतीयाचार्य का आशीर्वाद एवं ज्ञानाभ्यास प्रारम्भ
4. नई शैली
5. मैं उदयपुर के लिए जवाहरात की पेटी भेज दूंगा
6. जोधपुर का उत्साही चातुर्मास, दयादान के प्रचार का शंखनाद
7. जनकल्याण की गंगा बहाते चले
8. कामधेनु की तरह वरदायिनी बने कॉन्फ्रेंस
9. धर्म का आधार– समाज–सुधार
10. महत्त्व पदार्थ का नहीं, भावना का है
11. दक्षिण प्रवास में राष्ट्रीय जागरण की क्रांतिकारी धारा
12. वैतनिक पण्डितों द्वारा अध्ययन प्रारम्भ
13. युवाचार्य पद महोत्सव में सहज विनम्रता के दर्शन
14. आपश्री का आचार्यकाल अज्ञान–निवारण के अभियान से आरम्भ
15. लोहे से सोना बनाने के बाद पारसमणि बिछुड़ ही जाती है
16. रोग का आक्रमण
17. राष्ट्रीय विचारों का प्रबल पोषण एवं धर्म–सिद्धांतों का नव विश्लेषण
18. थली प्रदेश की ओर प्रस्थान तथा 'सद्धर्ममंडन' एवं 'अनुकम्पाविचार' की रचना
19. देश की राजधानी दिल्ली में अहिंसात्मक स्वातंत्र्य आंदोलन को सम्बल
20. अजमेर के जैन साधु सम्मेलन में आचार्यश्री के मौलिक सुझाव
21. उत्तराधिकारी का चयन–मिश्री के कूंजे की तरह बनने की सीख
22. रूढ़ विचारों पर सचोट प्रहार और आध्यात्मिक नव–जागृति
23. महात्मा गांधी एवं सरदार पटेल का आगमन
24. काठियावाड़–प्रवास में आचार्यश्री की प्राभाविकता शिखर पर
25. अस्वस्थता के वर्ष, दिव्य सहनशीलता और भीनासर में स्वर्गवास
26. सारा देश शोक–सागर में डूब गया और अर्पित हुए अपार श्रद्धा–सुमन परिशिष्ट सं. 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7

आचार्यश्री जवाहर–ज्योतिकण

- विपत्तियों के तमिस्र गुफाओं के पार जिसने संयम–साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
- ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरंतर अभिवर्द्धित किया।
- संयमीय साधना के साथ वैचारिक क्रांति का शंखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
- उत्सूत्र सिद्धांतों का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धांतों की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थों में विजयश्री प्राप्त की।
- परतंत्र भारत को स्वतंत्र बनाने के लिए जिसने गांव–गांव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनों द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।
- शुद्ध खादी के परिवेश में खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस में खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
- अल्पारंभ–महारंभ जैसी अनेकों पेचीदी समस्याओं का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।
- स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर सम्मेलन में गहरे चिंतन–मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।
- महात्मा गांधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पं श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं ने जिनके सचोट प्रवचनों का समय–समय पर लाभ उठाया।
- जैन व जैनेत्तर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकार करता था।
- सत्य सिद्धांतों की सुरक्षा के लिये जो निडरता एवं निर्भीकता के साथ भू–मंडल पर विचरण करते थे।

——

"हुक्म संघ के आचार्य"

1. **आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1870, स्वर्गवास वि.स. 1917**
   ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।
2. **आचार्य श्री शिवलालजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1891, स्वर्गवास वि.स. 1933**
   प्रतिभा–सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।
3. **आचार्य श्री उदय सागरजी म.सा. – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि.स. 1954**
   विलक्षण प्रतिभा के धनी, वादी–मान–मर्दक, विरक्तों के आदर्श विलक्षण।
4. **आचार्य श्री चौथमलजी म.सा. – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि.स. 1957**
   महान क्रियावान, सागर सम गंभीर, संयम के सशक्त पालक, शांत–दांत, निरहंकारी, निर्ग्रन्थ शिरोमणि।
5. **आचार्य श्री श्रीलालजी म.सा. – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि.स. 1977**
   सुरा–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।
6. **आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. – दीक्षा 1947, स्वर्गवास वि.स. 2000**
   ज्योतिर्धर, महान क्रांतिकारी, क्रांतदृष्टा, युगपुरुष।
7. **आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. – दीक्षा 1962, स्वर्गवास वि.स. 2019**
   शांत क्रांति के जन्मदाता, सरलता की सजीव मूर्ति।
8. **आचार्य श्री नानालालजी म.सा. – दीक्षा 1996, स्वर्गवास वि.स. 2056**
   समता–विभूति, विद्वद्शिरोमणि, जिनशासन–प्रद्योतक, धर्मपाल–प्रतिबोधक, समीक्षण ध्यानयोगी।
9. **आचार्य श्री रामलालजी म.सा. – दीक्षा 2031, आचार्य वि.सं. 2056 से**
   आगमज्ञ, तरुण तपस्वी, तपोमूर्ति, उग्रविहारी, सिरीवाल–प्रतिबोधक, व्यसनमुक्ति के प्रबल प्रेरक, बालब्रह्मचारी, प्रशांतमना।

अर्थ–सहयोगी परिचय

श्रेष्ठीवर्य समतासाधक, शासननिष्ठ समाजसेवी, स्व. सेठ धूलचन्दजी पन्नालालजी सा. कटारिया, रतलाम

रतलाम नगर में पौष बदी 10 संवत् 1977 में जन्मे सेठ स्व. श्री पन्नालालजी कटारिया शुरू से ही सरल सेवाभावी, मेधावी, मृदुभाषी एवं धर्म में आस्था रखने वाले व्यक्ति थे।

आपने रतलाम में सोने–चांदी का व्यवसाय प्रारम्भ किया, जिसमें आपने अच्छी प्रामाणिकता एवं उत्तमता में ख्याति प्राप्त की। यह व्यवसाय आज भी निरन्तर उन्नति करते हुए लोगो के विश्वास का प्रतीक बना हुआ है, जो रतलाम मे 'कटारिया ज्वैलर्स' एवं 'डी. पी. ज्वैलर्स' के नाम से विख्यात है। जहाँ आपने सोने–चाँदी के व्यवसाय में सफलता प्राप्त की है, उद्योग जगत् में भी आपने कटारिया वायर्स प्राइवेट लिमिटेड, रतलाम वायर्स प्राईवेट लिमिटेड तथा डी. पी. वायर्स प्राईवेट लिमिटेड के नाम से ख्याति प्राप्त की। इनमें स्टील वायर्स, गेल्वेनाइज्ड वायर, पी.सी. वायर्स एवं प्लास्टिक फिल्म का उत्पादन होता है, जिसमें सैकड़ो व्यक्तियों को रोजगार मिल रहा है।

स्व. श्री पन्नालालजी सा. कटारिया अपने व्यावसायिक कार्य के अलावा सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में भी हमेशा आगे रहते थे। इसका मुख्य उदाहरण रतलाम में वृद्धाश्रम का संचालन है, जो कि अन्न क्षेत्र के नाम से भी जाना जाता है, जिसमें अनेक निराश्रित व्यक्तियों के रहने की व्यवस्था है। इसकी देखभाल आप स्वयं प्रतिदिन जाकर करते थे। आपके पदचिह्नों पर चलते हुए आपके परिवार के सदस्य भी इस सेवाकार्य में निरन्तर आश्रितों की देखभाल कर रहे हैं। साथ ही शिक्षा के क्षेत्र में आपका योगदान भी विशेष रहा है। जैन समाज के सभी स्कूलों में आप सहभागी बने थे। और उदात्त भाव से अग्रणी दानदाता के रूप में विख्यात थे।

सभी व्यक्ति स्व. सेठ श्री पन्नालालजी सा. कटारिया का नाम आज समाज में पूर्ण श्रद्धा एवं आदर के साथ लेते हैं। सच्चे अर्थों में आप गरीबों एवं असहायों के हमदर्द थे।

आपश्री की धर्मपत्नी श्रीमती सुगनदेवी कटारिया भी सहनशील, सेवाभावी एवं सरलमना है। आपके 6 पुत्र सर्वश्री अनोखीलालजी, मनोहरलालजी, कांतिलालजी, मदनलालजी, रतनलालजी एवंअशोककुमार जी कटारिया है एवं आपश्री की 3 सुपुत्रियां श्रीमती विमलादेवी गांधी, श्रीमती निर्मलादेवी पिरोदिया तथा श्रीमती पुष्पादेवी पिरोदिया हैं। आप सभी व्यवसाय के साथ-साथ धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियों से जुड़े हुए हैं। इस प्रकार आपका भरा-पूरा संस्कारवान, धर्मनिष्ठ परिवार है।

आपश्री का परिवार आचार्यश्री नानेश एवं वर्तमान आचार्यश्री रामेश का अनन्य भक्त है एवं परिवार की धर्मभावना सराहनीय है।

युगद्रष्टा युगपुरुष आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. के प्रवचनों की शृंखला जवाहर किरणावली के उक्त भाग के सहयोगी के रूप में आपने जो सहयोग प्रदान किया है, यह आपकी उदार दृष्टि एवं संघनिष्ठा का अनुपम उदाहरण है।

आपका व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व हम सभी के लिये निरन्तर प्रेरणादायी बने ऐसी मंगलभावना है।

।। णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स।।

श्रीमद् भगवतीसूत्रम्

(पंचमांगम्)

शास्त्र प्रस्तावना

श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट समस्त श्रुत द्वादशांगी कहलाता है अर्थात वह बारह अंगों में विभक्त है। श्री भगवतीसूत्र, जिसका दूसरा नाम 'विआहपण्णति' (विवाहप्रज्ञप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञप्ति) भी है, द्वादशांगी में पांचवां अंग है। अन्यान्य अंगों की भांति यह अंग भी श्री सुधर्मा स्वामी द्वारा प्रणीत है। यह अंग अत्यन्त गम्भीर है और शब्द एवं अर्थ की अपेक्षा विस्तृत भी है। अतएव इस अंग के प्रारंभ में अनेक विध मंगलाचरण किये गये हैं। मंगलाचरण के आदि सूत्र इस प्रकार हैं :–

(1) णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

(2) णमो बंभीए लिवीए।

(3) णमो सुअस्स।

इन तीन सूत्रों द्वारा मंगलाचरण करके शास्त्र प्रारंभ किया गया है। प्रथम सूत्र में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। द्वितीय सूत्र में लिपि को नमस्कार किया गया है और तृतीय सूत्र में श्रुत देवता को नमस्कार किया गया है। इस प्रकार इन तीन सूत्रों द्वारा नमस्कार करके शास्त्र आरम्भ किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र के टीकाकारों ने भी टीका करने से पहले मंगलाचरण किया है। अभयदेव सूरि द्वारा किया हुआ मंगलाचरण इस प्रकार है :–

सर्वज्ञमीश्वरमनन्तमसंगमग्र्यं,
सार्वीयमस्मरमनीशमनीहमिद्धम्।

सिद्धं शिवं शिवकरं करणव्यपेतम्
श्रीमज्जिनं जितरिपुं प्रयतः प्रणौमि।।
नत्वा श्रीवर्द्धमानाय, श्रीमते च सुधर्मणे।
सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो, वाण्यं सर्वविदस्तथा।।

अर्थात् :— मैं श्रीजिनेन्द्र देव को, जो जितरिपु हैं—जिन्होंने राग—द्वेष आदि शत्रुओ को जीत लिया है, विधिपूर्वक नमस्कार करता हूं। भगवान् सर्वज्ञ हैं। कई लोग राग आदि शत्रुओं का नाश होने पर भी सर्वज्ञता स्वीकार नहीं करते। उनके मत का विरोध करने के लिए भगवान् को यहां सर्वज्ञ विशेषण लगाया गया है। इसके अतिरिक्त राग आदि शत्रुओं को जीतने के लिए पहले ज्ञान की आवश्यकता होती है सो भगवान् सर्वज्ञ है। आचार्य ने हेतु—हेतुमद्भाव दिखाने के लिए सर्वज्ञ विशेषण दिया है। जो सर्वज्ञ होता है वह जितरिपु अर्थात् वीतराग अवश्य है।

जब पूर्ण रूप से आत्मधर्म प्रकट हो जाता है तब सर्वज्ञता आती है। अतएव भगवान् जिनेन्द्र ईश्वर हैं। उनके सब आत्मधर्म प्रकट हो चुके हैं। जिस आत्मा की प्रकृति चिदानन्द गुण मय हो जाती है, जो संसार के किसी भी पदार्थ की परतंत्रता में नहीं रहती वही आत्मा ईश्वर है। आचार्य ने यहां पर भी हेतुहेतुमद्भाव प्रदर्शित किया है। लोग अज्ञानी को भी ईश्वर मानते हैं, जो सांसारिक पदार्थों की परतंत्रता में है उसे भी ईश्वर मानते हैं। मगर परतंत्रता अनीश्वरत्व का लक्षण है। जो पराधीन है वह अनीश्वरत्व का लक्षण है। जो पराधीन है वह अनीश्वर है। उसमें ईश्वरत्व नहीं हो सकता।

जो ईश्वर होता है वह अनन्त होता है। जिसे अनन्त अर्थों का ज्ञान है वही ईश्वर है। जिसके ज्ञान का अंत नहीं है, जो अनंत अर्थों का ज्ञाता है, जिसे अनन्त काल का ज्ञान है, जिसका ज्ञान अनन्त काल तक विद्यमान रहता है, उसे अनन्त कहते हैं अथवा जो एक बार ईश्वरत्व प्राप्त करके फिर कभी ईश्वरत्व से च्युत नहीं होता उसे अनन्त कहते हैं। कई लोग ईश्वर का संसार में पुनरागमन—अवतार होना मानते हैं। उनकी मान्यता का निराकरण करने के लिए ईश्वर विशेषण के पश्चात् 'अनन्त' विशेषण दिया गया है।

ईश्वर अनन्त क्यों हैं? इस प्रश्न का समाधान 'अनन्त' विशेषण के पश्चात् दिये हुए 'असंग' विशेषण द्वारा किया गया है। तात्पर्य यह है कि संसार में उसी आत्मा को जन्म धारण करना पड़ता है जो संग अर्थात् बाह्य उपाधियों से युक्त होता है। जिस आत्मा के साथ राग—द्वेष आदि विकारों का संग—संसर्ग है उसे जन्म—मरण का कष्ट भोगना पड़ता है। ईश्वर सर्वज्ञ है,

वीतराग है, स्वाधीन है। किसी भी प्रकार की उपाधियां उसे स्पर्श तक नहीं करती हैं। ऐसी अवस्था में ईश्वर पुनः जन्म ग्रहण करके अवतीर्ण नहीं हो सकता। इस प्रकार 'असंग' अर्थात् निर्विकार होने के कारण ईश्वर अनन्त है—उसकी ईश्वरता का कभी अंत नहीं होता।

ईश्वर 'अग्र्य' अर्थात् सब में श्रेष्ठ है। संसार के सभी प्राणी, क्या मनुष्य और क्या स्वर्ग के देवता, सभी अज्ञान से ग्रसित हैं, सभी जन्म—मरण आदि की व्याधियों से पीड़ित हैं, सभी को इष्ट—वियोग और अनिष्ट—संयोग के द्वारा उत्पन्न होने वाले दुःख लगे हुए हैं। इन सब प्रकार के दुखों से मुक्त केवल ईश्वर ही है। अतएव ईश्वर अग्र्य है—सर्वश्रेष्ठ है।

भगवान् 'सार्वीय' है। सब का हित—कल्याण करने वाला सार्वीय कहलाता है। भगवान् वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करके पहले सर्वश्रेष्ठ—अग्र्य बने, फिर जगत् के कल्याण के लिए बिना किसी प्रकार के भेद भाव के जगत् के जीवों को कल्याण का मार्ग प्रदर्शित किया है। अतएव वह सार्वीय है।

भगवान सर्वश्रेष्ठ क्यों है? इस प्रकार का उत्तर सार्वीय विशेषण में निहित है। भगवान् सब का कल्याण करते हैं, इस कारण वह सर्वश्रेष्ठ—अग्र्य हैं। जो सब का हित करता है वही सर्वश्रेष्ठ कहलाता है।

भगवान् 'अस्मर' अर्थात् कामविकार से रहित हैं। जो काम—विकार से रहित होता है वही सब का हित कर सकता है।

भगवान् 'अनीश' हैं। जिनके ऊपर कोई ईश्वर न हो वह अनीश कहलाते हैं। जो स्वयं बुद्ध हैं, जिन्होंने अपने—आपसे बोध प्राप्त किया है, किसी दूसरे से नहीं, उनके ऊपर दूसरा कोई ईश्वर नहीं है। कई लोग मुक्तात्माओं से भी ऊपर अनादि ईश्वर की सत्ता मानते हैं। यह मान्यता समीचीन नहीं है। वस्तुतः मुक्तात्मा और ईश्वर में भेद नहीं है। जो मुक्तात्मा है वही ईश्वर है और मुक्तात्मा से उच्च कोई सत्ता नहीं है, यह सूचित करने के लिए भगवान् को 'अनीश' विशेषण लगाया गया है।

भगवान् 'अनीह' अर्थात् निष्काम हैं। अनीह होने के कारण वे अनीश हैं जो निष्काम होगा उसी पर कोई ईश्वर—स्वामी नहीं हो सकता। जिसमें कामना है उसी पर स्वामी—मालिक हो सकता है। निष्काम पुरुष का स्वामी नहीं हो सकता। क्या बादशाह साधुओं पर आज्ञा चला सकता है?

'नहीं'।

क्योंकि साधुओं को धन आदि की कामना नहीं है। जब साधुओं पर भी किसी का हुक्म नहीं चल सकता तो ईश्वर पर कौन हुक्म चला सकता है? अतएव अनीश वही हो सकता है जो अनीह—कामना रहित हो।

भगवान 'इद्ध' हैं। अनन्त ज्ञान–लक्ष्मी से देदीप्यमान है अथवा तप–तेज से अथवा शरीर की उस कान्ति से, जिसे देख कर देव भी चकित रह जाते हैं, देदीप्यमान हैं। ऐसे भगवान् जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूं।

जिनेन्द्र भगवान् 'सिद्ध' हैं। प्रश्न हो सकता है कि जिन्होंने सिद्धि–मुक्ति प्राप्त कर ली है उन्हें सिद्ध कहते हैं। अगर जिनेन्द्र भगवान् सिद्ध हैं तो फिर 'सार्वीय' (सब के हित कर) कैसे हो सकते है। अरिहंत भगवान उपदेश देने के कारण सार्वीय हो सकते हैं पर सिद्ध भगवान जगत का कुछ भी कल्याण नहीं करते। उन्हें सार्वीय विशेषण क्यों दिया? अगर इस मंगलाचरण में अरिहंत भगवान को नमस्कार किया गया है तो 'सिद्ध' विशेषण क्यों दिया गया है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि तीन बातों से अर्थात् कष, छेद और ताप–इन बातों से जिनके सिद्धान्त का अर्थ सिद्ध है, जिनके सिद्धान्त सिद्धार्थ हैं, ऐसे द्वादशांगी रूप सिद्धान्त जिन भगवान् ने बताये हैं उन्हें सिद्ध आगम कहते हैं। इसके अतिरिक्त जिनके सब काम सिद्ध हो चुके हों–जो कृतकृत्य हो गये हों उन्हें भी सिद्ध कहते हैं तथा संसार के लिए जो मंगलरूप हों उन्हें भी सिद्ध कहते हैं। इन विवक्षाओं से यहां अरिहंत भगवान् को भी 'सिद्ध' विशेषण लगाना अनुचित नहीं है।

अथवा इस मंगलाचरण में अरिहंत और सिद्ध दोनों परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। सिद्ध–नमस्कार के पक्ष में यह समझना चाहिए कि सिद्ध भगवान् आत्मविशुद्धि के आदर्श बनकर जगत् का कल्याण करते हैं, अतः वह सार्वीय हैं।

भगवान् शिव हैं। उन्हें किसी प्रकार का रोग या उपद्रव नहीं है अतएव वह शिव स्वरूप हैं तथा उनका स्मरण और ध्यान करने से अन्य जीवों के रोग एवं उपद्रव मिट जाते हैं। इसलिए भी भगवान् शिव हैं।

भगवान् 'करणव्यपेत' हैं अर्थात् शरीर और इन्द्रियों से रहित हैं। यहां फिर वही आशंका की जा सकती है कि अरिहन्त भगवान् शरीर सहित होते हैं और इन्द्रियां भी उनके विद्यमान रहती हैं, तब उन्हें 'करणव्यपेत' क्यों कहा गया है?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि यद्यपि अरिहंत भगवान् की इन्द्रियां विद्यमान रहती हैं फिर भी वह इन्द्रियों का उपयोग नहीं करते। अरिहंत भगवान् अपने परम प्रत्यक्ष केवल ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानते हैं। उनकी इन्द्रियां निरुपयोगी हैं। जैसे सूर्य का पूर्ण प्रकाश फैल जाने पर कोई दीपक भले ही विद्यमान रहे फिर भी उसका कुछ उपयोग नहीं होता, सब लोग

सूर्य–प्रकाश द्वारा वस्तुओं को देखते हैं। इसी प्रकार भगवान् इन्द्रियां होने पर भी इन्द्रियों से नहीं जानते–देखते हैं। उनकी इन्द्रियों का होना और न होना समान है। इस अपेक्षा से भगवान् को करणव्यपेत कहा है। यद्यपि अरिहंत भगवान् सशरीर हैं तथापि वह शरीरासक्ति से सर्वथा रहित हैं। उनमें तनिक भी देह की ममता नहीं है। अतएव शरीर के प्रति मोह रहित होने से उन्हें करणव्यपेत कहा गया है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषण से विशिष्ट श्री अरिहंत भगवान् को तथा सिद्ध भगवान् को, जिन्होंने कर्म रूपी रिपुओं को जीत लिया है, मैं प्रणाम करता हूं।

यह सामान्य रूप से जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति की गई है। अब टीकाकार आचार्य सन्निकट उपकारक और वर्तमान में जिनका शासन चल रहा है उनका नाम लेकर नमस्कार करते हैं।

'नात्वा श्री वर्द्धमानाय, श्रीमते च सुधर्मणे।'

अर्थात्–श्री वर्द्धमान भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं। यद्यपि इस सूत्र के मूल कर्त्ता श्री सुधर्मा स्वामी हैं, लेकिन सुधर्मा स्वामी ने इसकी रचना भगवान् महावीर से सुनकर की है। अतएव सुधर्मा स्वामी के श्री गुरु लोक कल्याणकारी भगवान् श्री वर्द्धमान को मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करता हूं।

भगवान् महावीर की दिव्य ध्वनि का आश्रय लेकर श्री सुधर्मा स्वामी यदि इस सूत्र की रचना न करते तो आज हम लोगों को भगवान् की वाणी का लाभ कैसे मिलता? अतएव श्री सुधर्मा स्वामी भी हमारे उपकारक हैं। इस कारण उन्हें भी नमस्कार करता हूं।

हीरा और मोती होता है खान और समुद्र में, मगर यदि होशियार शिल्पकार मोती और हीरे को आभूषण रूप में प्रस्तुत न करे तो क्या मोती या हीरा शरीर पर ठहर सकता है? नहीं।

अगर शिल्पकार असली हीरे या मोती को आभूषण में न लगाकर नकली लगावे तो क्या कोई शिष्ट पुरुष उस आभूषण की कद्र करेगा? नहीं।

अगर सच्चे मोती कुशलता के साथ आभूषण में लगाये गये हों तो उन्हें शरीर पर धारण करने में सुविधा होती है और पीछे वालों को भी इस आभूषण के धारण करने में आनन्द होता है इसी प्रकार भगवान् की अनन्त ज्ञान की खान से यह श्रुत–रत्न उत्पन्न हुआ है, तथापि सुधर्मा स्वामी जैसे कुशल शिल्पकार इसे आभूषण के समान सूत्र रूप में न रचते तो ज्ञान रत्न का यह आभूषण हमें प्राप्त न होता। अगर इसमें सुधर्मास्वामी ने अपनी ओर से कुछ

मिलावट की होती तो यह सच्चा आभूषण न कहलाता, मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने अपनी ओर से कुछ भी सम्मिश्रण नहीं किया है यह बात सुधर्मा स्वामी ने जगह-जगह स्पष्ट कर दी है। 'तेण भगवया एवमक्खायं' इत्यादि वाक्य इस सत्य की प्रतीति कराते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान् के अनन्त ज्ञान रूपी खान से निकले हुए ज्ञान रूपी रत्न को सुधर्मा स्वामी ने सूत्र रूपी आभूषण में जड़ दिया है, अतएव मैं श्रीमान् सुधर्मा स्वामी को भी नमस्कार करता हूं।

सुधर्मा स्वामी ने भगवान् के अनन्त ज्ञान से निकले हुए ज्ञान-रत्न को सूत्र-आभूषण में जड़ दिया, तथापि उनके पश्चात् होने वाले अनेक आचार्यों ने इसकी व्याख्या करते हुए इसे सुरक्षित रक्खा है। अतएव उक्त सब आचार्य भी महान उपकारक हैं। इसलिए टीकाकार ने कहा है-

"सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो"

अर्थात्-इससे पहले सूत्र की व्याख्या अनेक आचार्यों ने की है। उन आचार्यों के अनुग्रह से ही यह सूत्र रूपी रत्न का आभूषण हमें प्राप्त हुआ है। इसलिए उन सब अनुयोग वृद्ध आचार्यों को भी नमस्कार करता हूँ।

अन्त में टीकाकार आचार्य भगवान् की वाणी को नमस्कार करते हैं-

वाण्यै सर्वविदस्तथा

अर्थात्-जिनकी वाणी समस्त वस्तुओं के ज्ञान को प्रकाशित करने वाली है, जो वाणी भगवान् से निकली है, उस सर्वज्ञ वाणी को भी मैं नमस्कार करता हूं।

टीकाकार ने अपने मनोभाव प्रकट करते हुए मंगलाचरण पश्चात् कहा है-

एतट्टीका-चूर्णी जीवाभिगमादिवृत्तिलेशांश्च।
संयोज्य पञ्चमागं, विवृणोमि विशेषतःकिञ्चित्।।

अर्थात्-टीकाकार कहते हैं कि टीका रचने का मेरा यह प्रयास स्वयं बुद्धि से नहीं हैं, किन्तु टीका, चूर्णी जीवाभिगम की टीका के अंशों आदि की सहायता से कुछ विस्तार के साथ पांचवें अंग की कुछ विस्तृत यह टीका बना रहा हूं।

आचार्य के इस कथन से प्रकट है कि भगवती सूत्र पर इस टीका से पहले भी कोई टीका विद्यमान थी। वह टीका संभवतः कुछ संक्षिप्त होगी और इस कारण भगवती सूत्र के मूलगत भाव को समझने में अधिक उपयोगी न होती होगी, अतः सामान्य शिष्यों को भी समझाने के अभिप्राय से आचार्य ने

यह टीका 'किंचित् विशेषतः' अर्थात् कुछ विस्तार से लिखी है। इस प्रकार यद्यपि वह प्राचीन टीका आज देखने में नहीं आती, फिर भी आचार्य के कथन से उसका होना स्पष्ट रूप से सिद्ध है। आचार्य ने यहां भगवतीसूत्र की टीका का ही निर्देश नही किया है अपितु चूर्णी का भी निर्देश किया है। 'एतट्टीका–चूर्णी' इस पद में 'एतत्' सर्वनाम भगवती सूत्र के लिए ही आया है, यह निसन्देह है। यह एक समस्त पद है और इससे भगवती सूत्र की टीका का तथा चूर्णी का अभिप्राय प्रकट होता है। अतः जान पड़ता है कि भगवती सूत्र की यह टीका बनने से पहले टीका और चूर्णी दोनों थीं। इन में से चूर्णी तो आज भी उपलब्ध है, पर टीका अभी तक उपलब्ध नहीं है।

टीका रचने की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् आचार्य ने इस सूत्र की प्रस्तावना लिखी है। प्रस्तावना में वह सूत्र को कितने बहुमान से देखते हैं, यह जानने योग्य है। प्रस्तावना के संक्षिप्त शब्दों में ही उन्होंने सूत्र का सार भर दिया है। प्रस्तावना वास्तव में अत्यन्त भावपूर्ण और मनोहारिणी है।

प्रस्तावना में उन्होंने प्रस्तुत सूत्र के नाम की चर्चा की है। इस सूत्र का नाम 'विवाहपण्णति' या 'भगवती सूत्र' है। यह नाम क्यों है, इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

टीकाकार ने इस पंचम अंग को उन्नत और विजय में समर्थ जयकुंजर हाथी के समान निरूपण किया है। जयकुंजर हाथी में और भगवती सूत्र में किस धर्म की समानता है, जिसे आधार बनाकर भगवती सूत्र को कुंजर की उपमा दी गई है? यह स्पष्ट करते हुए आचार्य ने सुन्दर श्लेषात्मक भाषा का प्रयोग किया है। उसका ठीक–ठाक सौन्दर्य संस्कृतज्ञ ही समझ सकते हैं, पर सर्वसाधारण की साधारण जानकारी के लिए उसका भाव यहां प्रकट किया जाता है।

जयकुंजर अपनी ललित पदपद्धति से प्रबुद्धजनों का मनोरंजन करता है अर्थात् जयकुंजर हाथी की चाल सुन्दर होती है। वह इस प्रकार धीरे से पैर रखता है कि देखने में अतीव मनोहर प्रतीत होता है। इसी प्रकार भगवती सूत्र भी अपनी ललित पद्पद्धति से अर्थात् सुन्दर पदविन्यास से विज्ञजनों का मनोरंजन करने वाला है। इस सूत्र की पदरचना ऐसी ललित और मनोहर है कि समझने वाले का चित्त उसे देखकर आनंदित हो जाता है। मगर प्रबुद्धजन ही उस आनंद का अनुभव कर सकते हैं। अज्ञ नासमझ लोगों को अगर आनंद न आवे तो इसकी पद रचना में किसी प्रकार का दोष नहीं है, जैसे अंधा आदमी हाथी न देख सके तो इसमें हाथी का दोष नहीं है।

जयकुंजर हाथी उपसर्गनिपात–अव्यय रूप है और भगवती सूत्र भी उपसर्गनिपात–अव्यय रूप है। तात्पर्य यह है कि जयकुंजर एक संग्रामी हाथी है। शत्रुपक्ष की ओर से उस पर उपसर्गों का निपात होता है अर्थात् उसे कष्ट पहुंचाया जाता है, फिर भी जयकुंजर अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता है। इसी प्रकार भगवती सूत्र के लिए यह पांचवां आरा उपसर्ग रूप है। जैसे अन्य सब शास्त्रों पर पांचवें आरे रूप उपसर्ग का निपात हुआ, उसी तरह भगवतीसूत्र पर भी उपसर्ग पड़ा। लेकिन यह सूत्र अनेक अग्निकांड होने पर भी बचा रहा है। अतएव यह भी उपसर्गनिपात–अव्यय रूप है।

जब भारतवर्ष में साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश की प्रबलता थी, मतभेद–सहिष्णुता का नाम मात्र तक नहीं था, शास्त्र और ग्रंथ अग्नि की लपलपाती हुई ज्वालाओं में भस्म कर दिये जाते थे और कही–कहीं तो उनके पढ़ने वाले तक मौत के घाट उतार दिये जाते थे, उस समय में भी यह शास्त्र बचा रहा। ऐसे विकराल संकट–काल में भी इस सूत्र ने अपना स्वरूप नहीं त्यागा।

इसके अतिरिक्त प्रकृत सूत्र द्वादशांगी में सम्मिलित है और द्वादशांगी श्रुत, अर्थ की अपेक्षा शाश्वत है–उसका कभी अभाव नहीं होता। अतएव पंचम आरा आदि रूप उपसर्ग आने पर भी यह सूत्र सदा अव्यय–अविनश्वर है।

'उपसर्ग–निपात–अव्यय' पद की संघटना व्याकरण के अनुसार दूसरे प्रकार से भी होती है। जैसे जयकुंजर उपसर्गों का निपात होने पर भी अव्यय रहता है, उसी प्रकार भगवती सूत्र उपसर्ग निपात और अव्यय से युक्त है अर्थात् इसमें उपसर्गों का, निपातों का तथा अव्ययों का प्रयोग किया गया है।

'जयकुंजर का शब्द सुनकर प्रतिपक्षी घबड़ा उठते हैं, अतएव जयकुंजर घन और उदार शब्द वाला होता है। इसी प्रकार भगवती सूत्र के शब्द सुनकर भी प्रतिपक्षी घबड़ा जाते हैं। अतएव यह सूत्र भी घन और उदार शब्दों वाला है।

जैसे जयकुंजर पुरुषलिंग सहित होता है, इसी प्रकार प्रकृत भगवतीसूत्र भी लिंग और विभक्ति से युक्त है।

जैसे जयकुंजर सदा–ख्यात होता है उसी प्रकार यह सूत्र भी सदा–ख्यात है।

अर्थात्–इस सूत्र के सभी आख्यान–कथन स्वरूप हैं।

जैसे जयकुंजर सुलक्षण वाला होता है उसी प्रकार पकृत सूत्र भी सुलक्षण हैं, अर्थात् इसमें अनेक पदार्थों के जीवादि तत्वों के समीचीन लक्षण विद्यमान हैं।

जैसे सिंचामन ऐरावत आदि के रक्षक देव होते हैं, उसी प्रकार इस सूत्र के रक्षक अनेक देव हैं।

जैसे जयकुंजर का उद्देश्य अर्थात् मस्तक सुवर्ण (सोने) में मंडित होता है, इसी प्रकार सूत्र के उद्देशक सुवर्णो से अर्थात् सुन्दर अक्षरों से मंडित हैं।

जयकुंजर नाना प्रकार के अद्भुत चरितों वाला होता है अर्थात् अनेक चालों से शत्रु पर आक्रमण करता है अतएव वह नानाविध—अद्भुत चरितों से युक्त है, इसी प्रकार प्रस्तुत भगवती सुत्र में नाना प्रकार के अद्भुत चरित हैं, अर्थात् अनेकानेक चरितों का वर्णन है।

हाथी विशाल—काय होता है, इसी प्रकार यह शास्त्र भी विशालकाय है अर्थात् अन्य सभी अंगों की अपेक्षा विस्तृत है। छत्तीस हजार प्रश्न और उनके उत्तर इसमें विद्यमान है। अतः स्थूलता की दृष्टि से भी यह हस्ती के समान है।

हाथी चार चरण (पैर) वाला होता है, तो यह सूत्र भी चार चरण (अनुयोग) वाला है। जब अन्य शास्त्रों में प्रायः एक ही अनुयोग होता है, तब इसमें चारों अनुयोग अर्थात् द्रव्यानुयोग, गतितानुयोग, चरणानुयोग और अर्मन्धकथानुयोग हैं।

हाथी के दो नेत्र होते हैं, उसी प्रकार प्रकृत शास्त्र रूपी जयकुंजर के भी ज्ञान और चरित्र रूप दो नेत्र हैं। कोई—कोई लोग सिर्फ ज्ञान को सिद्धिदाता मानते हें, कोई केवल चरित्र को। मगर इस सूत्र में दोनों को ही सिद्धिदाता माना गया है। दोनों में से किसी भी एक के अभाव में मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

हाथी के मूसल के समान दो दांत होते हैं, जिनसे वह संग्राम में विजय लाभ करता है। इसी प्रकार इस सूत्र में द्रव्यास्तिकनय और पर्यायास्तिकनय रूपी दो सुदृढ़ दंत हैं, जिनके द्वारा प्रतिपक्षियों के समक्ष वह विजयशील है। द्रव्यास्तिकनय और पर्यायास्तिकनय अनेकान्तवाद के मूलाधार हैं और अनेकान्तवाद अजेय है।

जैसे हाथी के दो कुंभस्थल होते हैं, वैसे ही इस सूत्र के निश्चयनय और व्यवहारनय रूपी दो कुंभस्थल हैं। हाथी के दो कान होते हैं इसी प्रकार सूत्र रूपी कुंजर के योग और क्षेम रूपी दो कान हैं। (अप्राप्त वस्तु को प्राप्त होना योग कहलाता है और प्राप्त वस्तु की रक्षा होना क्षेम है)।

भगवती सूत्र की प्रस्तावना की वचनरचना जयकुंजर की सूंड के समान है और समाप्ति—वचल पूंछ के समान है। काल, आत्मरूप, संबंध,

संसर्ग, उपकार, गुणिदेश, शब्द और अर्थ रूप मनोहर प्रवचन–रचना जयकुंजर के तंग के समान है अथवा काल आदि आठ सूत्र के आचार इसके तंग हैं।

सामान्य विधि को उत्सर्ग कहते हैं और विशेष विधि को अपवाद कहते हैं। उदाहरणार्थ–साधु को सचित्त जल का स्पर्श करना चाहिए, यह उत्सर्ग विधि है, मगर कारण उपस्थित होने पर नदी पार करने का विधान अपवाद है। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद रूपी दो घंटा इस सूत्र रूपी हस्ती के विद्यमान हैं जिन्होंने दिक्–दिगंत को गुंजा रक्खा है।

जयकुंजर के आगे–आगे विविध प्रकार के वाद्य बजते हैं, इसी प्रकार सूत्र रूपी हस्ती के आगे यश का नक्कारा बजता है। यश रूपी नक्कारे की ध्वनि सारे संसार में फैल रही है।

हाथी पर अंकुश रहता है जिसके कारण वह वश में बना रहता है। अंकुश के अभाव में हाथी का वशीभूत होना कठिन है। इस सूत्र रूपी हस्ती को वश करने के लिए अंकुश क्या है? इसका उत्तर आचार्य ने दिया है– स्याद्वाद रूपी अंकुश के द्वारा यह शास्त्र वशीभूत होता है। जिस हाथी पर अंकुश नहीं होता वह बिगड़ने पर अपने पक्ष को हानि पहुंचाने लगता है, इसी प्रकार जिस शास्त्र पर स्याद्वाद का अंकुश नहीं, वह भी अपने ही पक्ष का घात करने लगता है। प्रकृत शास्त्र ऐसा नहीं है। यह स्याद्वाद से अनुगम है। अतः कुंजर के समान स्याद्वाद रूपी अंकुश से युक्त है।

हाथी जब चलता है तो उसके आगे पीछे या अगल–बगल में बर्छे वाले भाले वाले या तीरंदाज चलते हैं, जिससे हाथी किसी को हानि न पहुंचाने पावे इसी प्रकार इस सूत्र के पक्ष में अनेक हेतु चलते हैं। वे हेतु इससे किसी की हानि नहीं होने दें।

जयकुंजर राजाओं के पास होता है और राजा लोग संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए उसे नियुक्त करते हैं। जैसे कोणिक राजा का उदायन हाथी और इन्द्र का ऐरावत हाथी है। तो इस सूत्र रूपी हस्ती को नियुक्त करने वाला कौन है? इसका उत्तर यह दिया गया है कि भगवती सूत्र रूपी जयकुंजर के नायक या नियोक्ता महावीर भगवान् हैं। उन्होंने मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूपी शत्रुओं की सेना का दमन करने के लिए इसकी नियुक्ति की है।

राजाओं के हस्ती पर योद्धा रहते हैं तो भगवान् महावीर के इस जयकुंजर पर योद्धा कौन है? राजाओं के हस्ती को योद्धा सुशोभित करते हैं तो इसे कौन सुशोभित करता है? इसका उत्तर यह है कि कल्पगण का

नायक–संघ का आचार्य इसे सुशोभित करता है और मुनि रूपी योद्धा उसके पीछे–पीछे चलते हैं। जो कायर हैं, संसार के प्रपंच में पड़े हैं, वे इसकी रक्षा नहीं कर सकते। मुनि रूपी योद्धा उसके स्वरूप को भली–भांति जान सकें, इस उद्देश्य से पूर्वाचार्यों ने अनेक प्रकार की व्याख्याएं रची हैं। प्रश्न होता है कि जब पूवाचार्यों द्वारा विरचित व्याख्याएं विद्यमान हैं तो आपको नवीन व्याख्या करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि वे अनेक श्रेष्ठ गुणों से युक्त हैं, फिर भी बहुत बुद्धिशाली पुरुष ही उन्हें समझ सकते हैं क्योंकि वे संक्षिप्त हैं। उनसे अल्प बुद्धि वाले जिज्ञासुओं को विशिष्ट लाभ पहुंचना संभव नहीं है, अतः मैं प्राचीन टीका और चूर्णी रूपी नाडिका का सार लेकर एक नयी नाडिका तैयार करता हूं। जैसे कमजोर नेत्रों वाला पुरुष ऐनक का आश्रय लेकर देखता है, उसी प्रकार मैं प्राचीन टीका चूर्णी और जीवाभिगम आदि से विवरणों का सार लेकर नवीन विस्तृत और इसीलिए मंद–बुद्धि शिष्यों के लिए उपकारक यह यंत्र–घटिका निर्माण करता हूं।

तात्पर्य यह है कि–इस सूत्र की व्याख्याएं प्राचीनकाल के महान आचार्यों ने की है, वे संक्षिप्त और गंभीर होने के कारण विशेष बुद्धिसम्पन्न पुरुषों का उपकार करने में समर्थ हैं। थोड़ी बुद्धि वाले उन्हें नहीं समझ सकते अतएव मैं जयकुंजर नायक भगवान महावीर की आज्ञा लेकर, गुरुजनों की आज्ञा पाकर इस टीका का आरंभ करता हूं। मैं अपने गुरुजनों से अधिक कुशल नहीं हूं, न उनसे अधिक कौशल प्रदर्शित कर सकता हूं लेकिन शिल्पी के कुल में शिल्पी ही जन्म लेता है। जैसे शिल्पकार पिता का कार्य देखते–देखते पुत्र भी शिल्पकार बन जाता है, इसी प्रकार मेरे पूर्वाचार्य गुरु सूत्र–रचना में कुशल कारीगर हुए हैं। उन्हीं के कुल में मैंने जन्म–धारण किया है, अतः मैं टीका प्रारंभ करना चाहता हूं। प्रकृत रचना उनके लिए नहीं है जो मुझसे अधिक बुद्धि और ज्ञान के धनी हैं, बल्कि उनके लिए है जो मुझसे न्यून मति वाले हैं।

2. नाम की व्याख्या

भगवती सूत्र का एक नाम 'विआह पण्णति' सूत्र है। इस नाम का अर्थ क्या है? क्यों यह नाम पड़ा हैं? इन प्रश्नों का समाधान करने के लिए टीकाकार कहते हैं 'विआहपण्णत्ति' (वि–आ–ख्या प्रज्ञप्ति) नाम में 'वि' का अर्थ है विविध प्रकार से। 'आ' का अर्थ है अभिविधि या मर्यादा। 'ख्या' का अर्थ है कथन। और 'प्रज्ञप्ति' का अर्थ है प्ररूपणा। तात्पर्य यह है कि जिस शास्त्र में विविध प्रकार के जीव आदि पदार्थों संबंधी, समस्त ज्ञेय पदार्थों की मर्यादा पूर्वक अथवा परस्पर पृथक लक्षणों के निर्देशपूर्वक, श्री महावीर स्वामी से गौतम गणधर आदि द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर कथन का प्ररूपण किया गया है, वह 'विआहपण्णत्ति' (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र है।

तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर ने श्री गौतम को जो यथावस्थित उत्तर दिये, उन प्रश्नों और उत्तरों की प्ररूपणा सुधर्मा स्वामी ने अपने ज्येष्ठ अन्तेवासी जम्बू स्वामी को सुनाई। श्रीसुधर्मा स्वामी ने कहा– 'हे जम्बू! गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर के समक्ष ये प्रश्न उपस्थित किये और भगवान् ने उन प्रश्नों का यह उत्तर दिया। इस प्रकार गौतम और महावीर स्वामी के कथन का जिस–जिस सूत्र में निरूपण किया गया है वह व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र है। इस सूत्र में समस्त जीवादि पदार्थों का निरूपण किया गया है।

अथवा विविध प्रकार से या विशेष रूप से जिनका आख्यान किया जाये वह व्याख्या –अर्थात् पदार्थों की वृत्तियांधर्म। पदार्थों के धर्मों का (व्याख्याओं का) जिसमें प्ररूपण किया जाये वह सूत्र 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' है।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं–अभिलाप्य और अनभिलाप्य। वाणी द्वारा जिन पदार्थों का कथन किया जा सकता है वह अभिलाप्य हैं और जो पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित होता हो मगर वाणी द्वारा कहा न जा सकता हो वह अनभिलाप्य कहलाता है। जो अभिलाप्य पदार्थ विशेष रूप से कहे जा सकें

उन्हें 'व्याख्या' कहते हैं और उनका जहां निरूपण किया गया है वह 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' सूत्र कहलाता है।

अथवा–अर्थ का प्रतिपादन 'व्याख्या' कही जाती है। उस व्याख्या का अर्थात् पदार्थ के प्ररूपण का जिसमें प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) ज्ञान दिया गया है वह व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र है।

तात्पर्य यह है कि व्याख्या का अर्थ है–पदार्थ का कथन और प्रज्ञप्ति का अर्थ है–बोध। अर्थात् जहां पदार्थ के कथन का बोध कराया गया है, वह व्याख्या प्रज्ञप्ति है।

अथवा जिस शास्त्र का विधिपूर्वक अध्ययन करने से नाना प्रकार की व्याख्या फैल जावे या व्याख्यान करने की शक्ति आ जाये, वह शास्त्र व्याख्या प्रज्ञप्ति कहलाता है।

अथवा व्याख्या करने में अत्यन्त प्राज्ञ–कुशल भगवान् महावीर से जिसकी प्रज्ञप्ति हुई है–बोध हुआ है वह सूत्र विआहपण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति) कहलाता है।

अथवा–विवाह अर्थात् विविध प्रकार या विशिष्ट प्रकार अर्थों का प्रवाह नयों का प्रवाह जिस शास्त्र में प्ररूपण किया गया है वह 'विवाहपण्णत्ति' सूत्र है। तात्पर्य यह है कि भगवती सूत्र में कहीं अर्थों का प्रवाह चलता है, कहीं नयों का प्रवाह चलता है। नयों की थोड़ी व्याख्या में ही 700 न हो जाते हैं और आचार्यों ने अनन्त नयों का अस्तित्व माना है। इस नयप्रवाह की व्याख्या जिस सूत्र में हो उसका नाम विवाहपन्नति है।

अथवा–'विवाह' शब्द का अर्थ होता है विस्तारमय अथवा बाधारहित–विवाध। इस प्रकार की प्रज्ञा की जिस शास्त्र से प्राप्ति होती है, वह विवाहपण्णत्ति है। अर्थात् भगवतीसूत्र का अध्ययन, चिन्तन, मनन करने से विस्तृत बोध प्राप्त होता है और विवाध–निर्दोष बोध की प्राप्ति होती है उसे भी विवाहपण्णत्ति (विवाहप्रज्ञप्ति) कहते हैं।

अथवा–विवाध या विवाह अर्थात् बाधा रहित जो प्रज्ञप्ति है वह विवाह प्रज्ञप्ति या विवाध प्रज्ञप्ति है। तात्पर्य यह है कि जिस शास्त्र में की गई अर्थ–प्ररूपणा में किसी प्रकार की बाधा न आ सके वह शास्त्र विवाहप्रज्ञप्ति या 'विवाधप्रज्ञप्ति' कहलाता है।

टीकाकार ने थोड़ा–थोड़ा रूपान्तर करके 'विआहपण्णति' सूत्र के दस नाम गिनाये हैं। अन्त में कहा है कि इसका जमत् प्रसिद्ध नाम 'भगवतीसूत्र' है। यह नाम इस सूत्र की महत्ता–पूज्यता–का द्योतक है। यों सामान्य रूप

से सभी शास्त्र पूज्य हैं, लेकिन प्रकृतशास्त्र में विशेषता है, अतएव यह आदरणीय है और इसी कारण इस शास्त्र को 'भगवतीसूत्र' कहते हैं।

आज यह शास्त्र 'भगवती' नाम से जितना प्रसिद्ध है उतना और किसी नाम से नहीं। इस सूत्र को यह नाम आचार्यों ने दिया है।

मंगल

टीकाकार ने सूत्र के नामों का निर्देश और उनकी सामान्य व्याख्या करने के पश्चात् शास्त्र की आदि में वर्णन किये जाने वाले फल, योग, मंगल और समुदायार्थ आदि–आदि द्वारों का उल्लेख किया है। प्रत्येक शास्त्रकार शास्त्र के आरंभ में उसका फल बतलाते हैं, योग अर्थात् संबंध प्रकट करते हैं, मंगलाचरण करते हैं और समुदायार्थ को अर्थात् उस शास्त्र में निरूपण किये जाने वाले विषय का सामान्य रूप से उल्लेख करते हैं। फल, योग, मंगल और समुदायार्थ का विवेचन विशेषावश्यक भाष्य में किया गया है, वहां से इन सब का स्वरूप समझ लेना चाहिए।

शास्त्रकार विघ्नों को दूर करने के लिए, शिष्यों की प्रवृत्ति के लिए और शिष्ट जनों की परम्परा का पालन करने के लिए मंगलाचरण, अभिधेय, प्रयोजन और संबंध का निर्देश यहां करते हैं।

शास्त्र रचना और शास्त्र पठन–पाठन में अनेक विघ्न आ जाते हैं। उन विघ्नों का उपशमन करने के लिए शास्त्र की आदि में मंगलाचरण किया जाता है। इस कथन में प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इस शास्त्र की आदि में मंगलाचरण करते हैं तो क्या यह शास्त्र स्वयं ही मंगल रूप नहीं है? प्रकृत शास्त्र यदि मंगलमय है तो अलग मंगल करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि शास्त्र यद्यपि मंगल रूप ही है, तथापि शिष्यों के मन में यह भावना उत्पन्न हो जाये कि हमने मंगलाचरण कर लिया है, तो क्षयोपशम अच्छा होता है। इसके अतिरिक्त गणधरों ने भी सूत्र रचना के आरंभ में मंगल किया है। जब गणधर जैसे विशिष्ट ज्ञान वाले महात्मा भी मंगल करते हैं तो उनकी परम्परा का पालन करने के लिए हमे भी मंगल करना चाहिए क्योंकि–

महाजनों येन गतः स पन्थाः।

अर्थात्–महापुरुषों ने जो कार्य किये हैं वे सोच–विचार कर ही किये हैं। उनके कार्यों के विषय में तर्क–वितर्क न करके, उनका अनुकरण करना ही श्रेयस्कर है।

मंगल के पश्चात् अभिधेय कहना चाहिए। शास्त्र में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया हो उसका उल्लेख करना चाहिए। यहां अभिदेय

बतलाने के लिए सूत्र के नामों की व्याख्या की जा चुकी है। नामों की व्याख्या से इस शास्त्र का विषय समझ में आ सकता है।

अभिदेय के अनन्तर प्रयोजन आता है। देखना चाहिए कि भगवतीसूत्र के अध्ययन से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? यह बात भी नामों की व्याख्या से समझ में आ सकती है।

अच्छे–अच्छे कार्यों में बहुत विघ्न आते हैं। 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' यह कहावत प्रसिद्ध है। शास्त्र श्री श्रेयस्कर है और इसका पठन–पाठन भी श्रेयस्कर कार्य है। इस श्रेयस्कर कार्य में विघ्न न आवें, इसी प्रयोजन में मंगल किया जाता है।

मंगल अनेक प्रकार के हैं। यथा–नाम मंगल, द्रव्यमंगल, भावमंगल आदि। इन अनेक विध मंगलों में से यहां भावमंगल ही उपादेय है, क्योंकि भावमंगल के अतिरिक्त अन्य मंगल एकान्त मंगल नहीं है। द्रव्यमंगल, स्थापना मंगल और नाममंगल भी मंगल कहलाते हैं किन्तु वे मंगल अमंगल भी हो जाते हैं। अतएव यह एकान्त मंगल नहीं है। इसके अतिरिक्त यह आत्यन्तिक मंगल भी नहीं है, क्योंकि प्रथम तो यह एक दूसरे से घट–बढ़ कर हैं, दूसरे सदा के लिए अमंगल का अन्त नहीं करते।

दही और अक्षत आदि मंगल माने जाते हैं मगर दही को अगर बीमार खा जाये और अक्षत सिर में लगने के बजाय आंख में पड़ जाएं तो क्या होगा? अमंगल रूप हो जाएंगे।

जिस तलवार में शत्रु को काटने की शक्ति है वही तलवार यदि अपने ही गले पर फेर ली जाये तो क्या वह काटेगी नहीं? कुम्हार डंडे द्वारा चाक घुमाकर घड़ा बनाता है, अतः वह डंडा घड़ा बनाने में सहायक है। लेकिन वही डंडा अगर घड़े पर पड़ जाये तो क्या घड़ा फूट नहीं जायेगा? तात्पर्य यह है कि जो जोड़ते भी और तोड़ते भी हैं, हानि पहुंचाते हैं और लाभ भी पहुंचाते हैं, उन्हें एकान्त मंगल नहीं कहा जा सकता।

संसार में जो अन्यान्य मंगल कार्य किये जाते हैं, वे सर्वथा निर्गुण या निष्फल हैं, यह कथन शास्त्र का नहीं है, लेकिन आशय यह है कि वे कार्य पूर्ण नहीं है, इसलिए एक ओर गुण करते हैं तो दूसरी ओर अवगुण भी करते हैं। ऐसी स्थिति में वे कार्य एकान्त गुण करने वाले नहीं कहे जा सकते।

वैश्य व्यापार कर अपनी आजीविका चलाते हैं, क्षत्रिय तलवार के बल पर राज्य करते हैं और शूद्र सेवा करके अपना गुजर करते हैं। सभी अपने–अपने धंधे को मंगल–रूप मानते हैं और किसी अंश में उनके अपने–अपने

कार्य मंगल रूप हैं भी, परन्तु शास्त्र की दृष्टि में वे कार्य एकान्त रूप से मंगल नहीं हैं, क्योंकि इन कार्यों से एक पक्ष को अगर लाभ पहुंचता है तो दूसरे पक्ष को हानि भी पहुंचती है।

एक भाई ने सोचा—मैं किसी महात्मा की शरण लेकर लखपति बन जाऊं। ऐसा सोच कर वह महात्मा के शरण में गया। महात्मा ने मंगल देकर कहा—जा, इससे एक लाख रुपया कमा लेना। देखना चाहिए यह कैसा मंगल हुआ? वास्तव में महात्मा पुरुष किसी को लखपति बनाने के लिए मंगल नहीं देते। क्योंकि एक लाख रुपया कमाकर जब एक पुरुष लखपति बनेगा तो दूसरे के पास से उतना रुपया कम हो जायेगा। एक का कमाना दूसरे का गंवाना है। ऐसी स्थिति में कमाने वाले का मंगल हुआ तो गंवाने वाले का अमंगल हुआ। प्रत्येक का मंगल चाहने वाला महात्मा ऐसा नहीं कर सकता। वह तो एकान्त मंगल कारक ही होता है।

कहा जा सकता है कि अगर कोई व्यक्ति संग्राम के लिए या व्यापार के लिए जाता हो तो उसे मंगलपाठ (मांगलिक) सुनाना चाहिए या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि जब कभी भी कोई आराधक मांगलिक सुनने के लिए साधु की सेवा में उपस्थित हो तो उसे मांगलिक अवश्य सुनाना चाहिए। फिर भी पूर्वोक्त कथन में और इस कथन में विरोध नहीं है।

व्यापार के निमित्त जाने वाले को साधु मांगलिक सुनाते हैं सो इसलिए कि व्यापार के लिए जाने वाला द्रव्य—धन के प्रलोभन में भावधन को न भूल जावे। संसार में अनुरक्त गृहस्थ सांसारिक भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थों के उपार्जन और संरक्षण में कभी—कभी इतना व्यस्त हो जाता है कि वह आत्म—कल्याण के सच्चे साधनों को भूल जाता है। उसे भोगोपभोग के साधन ही मंगलकारक, शरणभूत और उत्तम प्रतीत होते हैं। ऐसे लोगों पर अनुग्रह करके उन्हें वास्तविकता का भान कराना साधुओं का कर्त्तव्य है। अतएव साधु मांगलिक श्रवण कराकर उसे सावधान करते हैं कि हे भद्र पुरुष! तू इतना याद रखना कि संसार में चार महामंगल हैं—अरिहंत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्ररूपित दयामय धर्म। संसार में चार सर्व श्रेष्ठ पद हैं— अरिहंत, सिद्ध, साधु और दयामय धर्म। अतएव तू अपने मन में संकल्प कर कि मैं अरिहंत की शरण ग्रहण करता हूं, मैं सिद्ध की शरण ग्रहण करता हूं, मैं सन्त पुरुषों की शरण ग्रहण करता हूं, मैं सर्वज्ञ के धर्म की शरण ग्रहण करता हूं।

उपर्युक्त महामंगल पाठ प्रत्येक अवस्था में सुनाने योग्य है। अगर कोई पुरुष किसी शुभ कार्य के लिए जाते समय मंगल श्रवण करना चाहे तब तो

कोई बात नहीं, अगर कोई अशुभ कार्य के लिए जाते समय भी मंगल पाठ श्रवण करना चाहे तो उसे भी साधु यह पाठ सुनाने से इंकार नहीं करेंगे। मंगल–पाठ एक ऐसी लोकोत्तर भाव–औषध है जो निरोग को भी लाभ पहुंचाती है और रोगी को भी विशेष लाभ पहुंचाती है। अतएव प्रत्येक पुरुष उसका पात्र है, बल्कि रोगी और अधिक उपयुक्त पात्र है। भला, देव, गुरु और धर्म का स्मरण करना अनुचित कैसे कहा जा सकता है?

जिसका जो अधिकार है वह उतना ही कर सकता है। साधुगण द्रव्य से उन्मुक्त हो चुके हैं। वे भाव के आराधक हैं। इस दशा में वे भाव मंगल ही कर सकते हैं। अतएव व्यापार के निमित्त जाने वाले को मांगलिक सुनाकर वे कहते हैं कि द्रव्य मंगल के सामने भाव मंगल को मत विसर जाना इसी प्रकार संग्राम में जूझने के लिए जाने वाले को सावधान करते हैं कि देखना, संग्राम में भी धर्म को मत भूलना।

यह भाव मंगल नौका के समान है। जिसकी इच्छा हो, नौका पर आरूढ़ हो, जो आरूढ़ होगा उसे वह पार लगा देगी। भाव मंगल के विधान में भी यह बात है। इसे सुनकर न्यायोचित व्यापार करने वाला अपने धर्म पर स्थिर रहेगा और अन्याय करेगा तो अधर्म की सरिता में डूबेगा।

साधु विवाह के अवसर पर भी मांगलिक सुनाते हैं। वह इसलिए कि सुनने वालों को यह ज्ञान हो जाये कि विवाह बंधन के लिए नहीं है। विवाह गृहस्थी में रहने वालों को पारस्परिक धर्म–संबंधी सहायता आदान–प्रदान करने के लिए होता है, धर्म का ध्वंस करने के लिए नहीं, बंधनों की परम्परा बढ़ाने के लिए भी नहीं। इस प्रकार साधु भाव मंगल सुनाते हैं जो सब के लिए, सदा काल, सब प्रकार से सम्पूर्ण कल्याण का कारण है, जिसमें अकल्याण का कण मात्र भी नहीं होता।

विवाह के पश्चात् स्त्री और पुरुष के मिल कर चार पैर और चार हाथ हो जाते हैं। चार पैर वाला चौपाया होता है और चार हाथ वाला देवता होता है। साधु विवाह के अवसर पर मांगलिक सुना कर यह शिक्षा देता है कि विवाह करके चौपाया पशु मत बनना, मगर चतुर्भुज देवता बनना।

सारांश यह है कि साधु भाव मंगल सुनाते हैं, द्रव्य मंगल नहीं। जिस मंगल से एक को लाभ या सुख हो और दूसरे को हानि या दुःख हो, वह द्रव्य मंगल है। द्रव्य मंगल के द्वारा होने वाला एक का लाभ या सुख भी निखालिस नहीं होता। उसमें हानि एवं दुःख का सम्मिश्रण होता है। इसके अतिरिक्त द्रव्यमंगल अल्पकालीन होता है और उसकी मांगलिकता की मात्रा भी अधिक

नहीं होती। सच्चा मंगल वह है जिसमें अमंगल को लेशमात्र भी अवकाश न हो और जिस मंगल के पश्चात् अमंगल प्रकट न होता हो और साथ ही जिससे सब का समान रूप से कल्याण–साधन हो सकता हो, जिसके निमित्त से किसी को हानि या दुःख न पहुंचे। ऐसा सच्चा मंगल भाव मंगल ही है। अतएव यहां शास्त्र की आदि में भावमंगल ही उपादेय है।

भावमंगल के स्तुति मंगल, नमस्कार मंगल आदि अनेक प्रकार हैं। ज्ञान मंगल, दर्शन मंगल, चरित्र मंगल और तम मंगल भी भाव मंगल के ही भेद हैं। इन अनेक विध भाव मंगलों में से यहां शास्त्र के आरंभ में पंच परमेष्ठी भगवान् को नमस्कार रूप भावमंगल किया गया है। क्योंकि भाव मंगल के अन्तर्गत आये हुए दूसरे मंगलों की अपेक्षा पंच परमेष्ठी–नमस्कार मंगल में दो विशेषताएं हैं–प्रथम यह है कि यह नमस्कार मंगल लोक में उत्तम है और दूसरी यह कि देवराज इन्द्र भी इसका शरण लेता है।

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढ़मं हवइ मंगलं।।

यह शास्त्र वाक्य है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु व पंच परमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार समस्त पापों का नाश करने वाला है। पाप ही विघ्न या विघ्न के कारण हैं। पाप का नाश होने पर विघ्न नहीं रहते। यह नमस्कार मंगल अन्य सब मंगलों से प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ है।

समस्त शास्त्रों को नमस्कार मंत्र जप कर पढ़ा जाये तो विघ्नों का नाश हो जाता है। इसी कारण शास्त्र के आरंभ में नमस्कार मंत्र द्वारा मंगलाचरण किया गया है।

नमस्कार मंत्र (णमोकार मंत्र) का वर्णन किस शास्त्र में आया है? यह मंत्र मूलतः कहां से आया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि णमोकार मंत्र सभी शास्त्रों में ओत प्रोत है। सभी शास्त्रों में किसी न किसी रूप में इस मंत्र का अस्तित्व विद्यमान है। यह चौदह पूर्वो का सार माना जाता है। भले अक्षरशः यह मंत्र किसी शास्त्र में न पाया जाये, मगर प्रत्येक शास्त्र के पठन में सर्वप्रथम यह मंत्र पढ़ा जाता है। तदनुसार यहां भी शास्त्र की आदि में पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र का उल्लेख किया गया है। वह इस प्रकार है–

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

अर्थात्–अरिहंत भगवान् को नमस्कार हो, सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो, आचार्य महाराज को नमस्कार हो, उपाध्याय महाराज को नमस्कार हो, लोक के सब साधुओं को नमस्कार हो।

मंगलाचरण का विवरण

'णमो अरिहंताणं' का विवेचन

इस शास्त्र के प्रथम मंगलाचरण के रूप में जो नमस्कार मंत्र दिया गया है, उस पर कुछ विस्तार से विवेचन करना उपयोगी प्रतीत होता है। यह मंत्र सर्वसाधारण जैन जनता में अत्यन्त प्रसिद्ध है। शायद ही कोई जैन ऐसा होगा जो दिन–रात में एक बार भी इस मंत्र का जाप न करता हो। जैन ध र्म के अनुयायी सभी सम्प्रदाय समान भाव से इस पवित्र मंत्र का श्रद्धा–भक्ति के साथ स्मरण करते हैं। अतएव स्पष्टतापूर्वक इस मंत्र का भाव समझाना आवश्यक है।

'णमो अरिहंताणं' यह एक वाक्य है। इस वाक्य में दो पद हैं

(1) 'णमो' और (2) 'अरिहंताणं'।

शास्त्रकारों ने पांच प्रकार के शब्द बतलाये हैं–

(1) नाम शब्द (2) निपात शब्द (3) आख्यात शब्द (4) उपसर्ग शब्द (5) मिश्र शब्द। इन पांचों प्रकार के शब्दों के उदाहरण इस प्रकार हैं–

(1) नाम शब्द–यथा–घोड़ा, हाथी आदि।

(2) निपात शब्द–खलु, मिल आदि।

(3) आख्यात शब्द–भवति, घावति आदि क्रिया शब्द।

(4) उपसर्ग शब्द–प्र, परा अभि आदि ।

(5) मिश्र शब्द–सम्राट, संयत आदि।

इन पांच प्रकार के शब्दों में से 'नमः' (णमो) निपात शब्द है। अर्थात् इस शब्द में न कोई विभक्ति लगी है, न प्रत्यय ही, यह किसी धातु से निष्पन्न नहीं हुआ है। यह स्वतः सिद्ध रूप है।

'नमः' पद का अर्थ है–द्रव्य एवं भाव से संकोच करना। यहां नमः का यही अर्थ –द्रव्य–भाव से संकोच करना लिया गया है। अर्थात् द्रव्य से हाथ, पैर और मस्तक रूप पांचों अंगों को संकोच कर नमस्कार करता हूं और भाव से, आत्मा को अप्रशस्त परिणति से पृथक् करके अरिहंत भगवान् के गुणों में लीन करता हूं।

यह नमः शब्द का अर्थ हुआ। अब 'अरिहंताणं' पद का अर्थ क्या है, यह देखना चाहिए। भिन्न–भिन्न अर्थ प्रकट करने वाले 'अरिहंत' शब्द के अनेक रूपान्तर होते हैं। यथा–अर्हन्त, अरहोन्तर, अरथान्त, अरहन्त, अरहयत्, अरिहन्त, अरुहन्त आदि। इन रूपान्तरों में अर्थ का जो भेद है वह आगे यथास्थान प्रकट किया जायगा।

'अर्हन्त' शब्द 'अर्ह–पूजायां' धातु से बना है। अतएव अर्हन्त शब्द का अर्थ है–पूजनीय, पूज्य या पूजा करने योग्य। इस प्रकार 'णमो अरहंताणं–नमोऽर्हद्भ्यः' का अर्थ हुआ जो पूजनीय है उन्हें नमस्कार करता हूं।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि लोक में पूज्य मानने के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं है। पुत्र के लिए पिता पूज्य माना जाता है, माता पूज्य मानी जाती है, अन्य गुरुजन पूज्य माने जाते हैं। अगर पूज्य को ही अर्हन्त कहा जाये तो क्या माता–पिता आदि भी अर्हन्त हैं? इसका उत्तर यह दिया गया है कि यहां इस प्रकार की साधारण लोक–रूढ़ पूज्यता नहीं समझनी चाहिए। लोक रूढ़ी का कोई नियम नहीं है। लोक के अनेक पुरुष कुत्ते को भी पूज्य मान लेते हैं। अर्हन्त वह पूज्य पुरुष है जो लोक में पूज्य माने जाने वाले इन्द्र के द्वारा भी पूजनीय है। अष्ट महाप्रातिहार्यों की रचना होने पर देवों का प्रधान इन्द्र भी जिनकी पूजा करता है। ऐसी दिव्य महापूजा के योग्य महाभाग अर्हन्त ही है। अन्य नहीं।

शास्त्र कहते हैं कि जो वन्दना–नमस्कार के योग्य हो उसे अर्हन्त कहते हैं। जिसके समस्त स्वाभाविक–गुण प्रकट हो गये हों, जो देवों द्वारा भी पूज्य हो, लोकोत्तर गति में जाने के योग्य हों, वह अर्हन्त हैं।

अथवा–'रह' का अर्थ है गुप्त वस्तु–छिपी हुई बातें। जिनसे कोई बात छिपी नहीं है। सर्वज्ञ होने के कारण जो समस्त पदार्थों को हथेली की भांति स्पष्ट रूप जानते–देखते हैं, वह 'अरहोन्तर' कहलाते हैं। उन्हें मैं द्रव्य–भाव से नमस्कार करता हूं।

अथवा–'अरहंत' पद का संस्कृत भाषा में 'अरथान्त' ऐसा रूप बनता है। रथ लोक में प्रसिद्ध है। यहां 'रथ' शब्द समस्त प्रकार के परिग्रह का उपलक्षण है। अर्थात् रथ शब्द से परिग्रह मात्र का अर्थ समझना चाहिए। 'अन्त' शब्द विनाश वाचक है। इस प्रकार 'अरथान्त' का अर्थ हुआ समस्त प्रकार के परिग्रह से और विनाश से जो अतीत हो चुके हैं। अतः 'अरहंताणं' अर्थात् 'अरथान्तेभ्यः' परिग्रह और मृत्यु से रहित भगवान् को नमः नमस्कार हो।

अथवा–'अरहन्त' का एक रूपान्तर 'अरहयत्' भी होता है। इसका अर्थ इस प्रकार है–तीव्र राग के कारण भूत मनोहर विषयों का संसर्ग होने पर–अष्ट महाप्रातिहार्य आदि सम्पदा के विद्यमान होने पर भी जो परम वीतराग होने के कारण किंचित् मात्र भी राग को प्राप्त नहीं होते, उन्हें नमस्कार हो।

अरहन्त पद का एक रूपान्तर 'अरिहन्त' है। अरि का अर्थ है। उनका जिन्होंने नाश कर दिया हो वह अरिहन्त कहलाते हैं। आत्मा के असली शत्रु आत्मिक महापुरुष विशिष्ट साधन के द्वारा उन कर्मों का नाश कर डालते हैं उन्हें अरिहन्त कहते हैं। उन्हें मेरा नमस्कार हो। कहा भी है–

अट्ठविहं पिय कम्मं, अरिभूअं होइ सव्वाजीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति।।

अर्थात् आठ प्रकार के कर्म संसार के समस्त जीवों के अरि (शत्रु) हैं। जो उन कर्म–शत्रुओं का नाश कर देता है वही अरिहन्त कहलाता है।

जो जिसकी स्वतंत्रता का अपहरण करके उसे अपने अधीन बना लेता है, और उसको इच्छा के अनुसार काम नहीं करने देता, वरन् विवश करके जो अपनी इच्छाएं उस पर लादता है वह उसका शत्रु कहलाता है। शत्रु अपनी शक्ति से काम कराता है। जिसे काम करना है, उसकी अपनी शक्ति लुप्त–हो जाती है। व्यवहार में देखा जाता है कि शत्रु इच्छानुसार कार्य नहीं करने देता और अनिच्छनीय कार्यों के लिए विवश करता है।

बाह्य वैरियों के समान आन्तरिक वैरी कर्म है। आत्मा की उस ज्ञान शक्ति को, जिसके द्वारा संसार के समस्त पदार्थ जाने जाते हैं, जो कर्म हरण करता है, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म ने आत्मा की उस ज्ञान शक्ति को दबा दिया है। जिस प्रकार बादलों के कारण सूर्य का स्वाभाविक प्रकाश रुक जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म ने आत्मा की सब कुछ जान सकने वाली ज्ञान शक्ति को रोक रखा है। तात्पर्य यह है कि आत्मा–स्वभाव से अनन्त ज्ञानशाली है। जगत् का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो आत्मा की ज्ञान शक्ति द्वारा जानने योग्य न हो, मगर–ज्ञानावरण कर्म ने उस शक्ति को दबा कर क्षुद्र और सीमित कर दिया है उसके स्वाभाविक परिणमन को विकृत कर दिया है।

इसी प्रकार दर्शन की शक्ति को–देखने के सामर्थ्य को रोकने वाला, सीमित कर देने वाला कर्म दर्शनावरण कहलाता है।

आत्मा स्वाभावतः परमानन्दमय है। अनन्त सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण हैं लेकिन आत्मा के इस परम सुखमय स्वभाव को वेदनीय कर्म ने दबा रक्खा है। इस कर्म के कारण आत्मा दुःख रूप वैषयिक सुख में ही सच्चे सुधार की कल्पना करता है। इसी कर्म के निमित्त से आत्मा नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करती है।

हम अविनाशी हैं और अनेक अनुपम गुणों के आगर हैं, इस तथ्य की प्रतीति मोहनीय कर्म ने रोक दी है। मोहनीय कर्म के प्रभाव से हम दैहिक सुख को आत्मिक सुख और दैहिक दुःख को आत्मिक दुःख मान रहे है। इस पकार मोहनीय कर्म उल्टी प्रतीति कराता है, जिससे आत्मा वास्तविक बात को भूलकर अवास्तविक बात को मान रहा है।

आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है। जन्म–मरण उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते। मगर आयुकर्म के प्रभाव से उसे जन्म–मरण करने पड़ते हैं। जैसे कोई पुरुष अपने किराये के मकान को छोड़ना नहीं चाहता, फिर भी किराये का पैसा पास में न होने से मकान छोड़ना पड़ता है, इसी प्रकार आत्मा जन्म–मरण के स्वभाव वाला न होने पर भी आयु कर्म की प्रेरणा से विवश होकर जन्म–मरण करता है।

आत्मा का चैतन्य नाम–रूप है। इसका नाम अनन्त भी है, किन्तु नाम कर्म, आत्मा के इस नाम को छुड़ाकर नीच नाम–जैसे झाड़, पशु आदि को प्राप्त करवाता है। आत्मा चैतन्य नामवाला एवं निर्विकार है। इसके झाड़, कीड़ा आदि नाम, नामकर्म के प्रभाव से उसी प्रकार हुए हैं जैसे एक ही रंग के कई चित्र बनाने पर किसी का नाम घोड़ा, किसी का नाम राजा और किसी का नाम हाथी आदि हो जाता हैं।

जिसके प्रभाव से आत्मा ऊंच–नीच गोत्र में पड़ती है वह गोत्र कर्म कहलाता है। उदाहरणार्थ–एक ही प्रकार के सोने से एक मस्तक का आभूषण उत्तम माना जाता है, पैर का उत्तम नहीं माना जाता। इसी प्रकार यह निर्विकार आत्मा गोत्र कर्म के प्रभाव से ऐसे गोत्रों में जन्म लेती हैं जो लोक में उच्च या नीच कहलाते हैं। इस प्रकार आत्मा की ऊंच–नीच अवस्था कर्म के ही प्रभाव से है। आत्मा स्वभाव से इन समस्त विकल्पों से अतीत और अनिर्वचनीय हैं।

अन्तराय का अर्थ है विघ्न या बाधा। अन्तराय दो प्रकार का है–(1) द्रव्य रूप में विघ्नबाधा होना और (2) भाग रूप से–अंतरंग आनन्द में बाधा पड़ना। जो कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्ति को प्राप्त करने में बाधक होता है, वह अन्तराय कर्म कहलाता है।

इन आठ कर्मों ने अनादि काल से आत्मा को प्रभावित कर रक्खा है। इनके कारण आत्मा अपने स्वरूप से च्युत होकर नाना प्रकार की विभाव परिणति के अधीन हो रहा है। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा को क्या करना चाहिए? कर्मों से 'आत्मा की आत्यन्तिक मुक्ति का उपाय क्या है ?

अगर पहले बंधे हुए कर्म ही भोगे जाते हों तब तो किसी समय सहज ही उनका अन्त आ सकता है, परन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों को भोगते–भोगते उसी समय नये कर्म बांध लेती है और जब उन्हें भोगने का अवसर आता है तब फिर नवीन कर्म बंध जाते हैं। इस प्रकार बन्ध का प्रवाह निरन्तर जारी रहता है। ऐसी स्थिति में कर्मों का आत्यन्तिक विनाश किस प्रकार हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर अरिहंत भगवान् को किये जाने वाले नमस्कार के मर्म में निहित है। अरिहंत भगवान् ने कर्मों का समूल क्षय करने के लिए जिस विधि का अवलम्बन किया है उसी विधि का अवलम्बन करने से भव्य जीव निष्कर्म बन सकता है।

पूर्वबद्ध कर्म यदि अच्छे (शुभ) भाव से भोगे जाते हैं तो नवीन अच्छे कर्मों का बंध होता है बुरे भाव से भोगे जाते हैं तो बुरे कर्म बंधते हैं और यदि राग द्वेष रहित भाव से भोगे होते हैं तो फिर कर्म बंधते ही नहीं है। इस प्रकार पूर्वोपार्जित कर्मों को वीतराग भाव से भोगना नवीन कर्मबंध से बचने का उपाय है।

ज्ञानी पुरुषों की विचारणा निराली होती है। जब उन पर किसी प्रकार का कष्ट आकर पड़ता है, अनुकूल परिस्थिति में सुख की प्राप्ति होती है अथवा जब उनके देखने–सुनने में बाधा उपस्थिति होती है तब वे विचार करते हैं–'यह तो प्रकृति की क्रीड़ा है। इन सब बातों से मेरा कुछ भी संबंध नहीं है। मैं इन सब भावों से निराला हूं। मेरा स्वरूप सब से विलक्षण है। मुझे इनसे क्या सरोकार? और मैं इन सब के विषय में रागद्वेष का भाव क्यों धारण करूं?

ज्ञानियों की इस विचारणा का अनुसरण करके जो कर्मभोगने के समय अच्छा या बुरा भाव अपने हृदय में अंकुरित नहीं होने देता, वरन् वीतराग बना रहता है वह कर्मों का सर्वथा–नाश करने में समर्थ होता है। यही कर्म–क्षय का राजमार्ग है।

इस प्रकार जिसका अन्तःकरण वीतराग भाव से विभूषित है उस महापुरुष को मारने के लिए यदि कोई शत्रु तलवार लेकर आवेगा तो भी यही विचारेगा कि मैं मरने वाला नहीं हूं। जो मरता है, मर सकता है वह मैं नहीं हूं। मैं वह हूं तो मरता नहीं और मर सकता भी नहीं। सच्चिदानन्द–आमूर्तिक और अदृश्य मेरा स्वरूप है। मुझे मारने का सामर्थ्य साधारण पुरुष की तो बात ही क्या, इन्द्र में भी नहीं है। इसी प्रकार मारने वाला भी मैं नहीं हूं। मरने वाला शरीर है मारने वाली तलवार है। दोनों ही जड़ हैं। जड़ जड़ को काटता है।

इसमें मेरा क्या बिगड़ता है? मैं द्वेष भाव धारण कर के अपना अमंगल आप ही क्यों करूं?

तलवार से कटते समय भी अगर प्रतिशत्रुता का भाव उदित होता है तो नवीन कर्म बंधे बिना नहीं रहते। यद्यपि पूर्वबद्ध कर्म चुकते हैं तथापि नये कर्म बंधते भी हैं। अगर तलवार से कटते समय यह विचार आया कि मारने वाला और मरने वाला मैं नहीं हूं और उस समय निर्विकार अवस्था रही तो नूतन कर्म का बंध नहीं होता।

कल्पना कीजिए एक व्यापारी ने किसी साहूकार के यहां अपना खाता डाला। वह एक हजार रुपया ऋण ले गया। थोड़े दिनों के पश्चात् वह एक हजार रुपया दे गया और दो हजार नये ले गया। ऐसा करने से उसका खाता चलता ही रहेगा। इसके विरुद्ध गर वह जमा कराता रहे और नया कर्ज न ले तो उसका खाता चुक जायेगा। इसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म समभाव से भोगे, अच्छे या बुरे विचार न लावे तो किसी समय कर्म शत्रु का नाश हो जायेगा।

आस्रव, संवर और निर्जरा के भेद से कर्मों का स्वरूप प्रकारान्तर से भी कहा जाता है मगर विस्तारभय से और समय की कमी के कारण यहां उसे छोड़ दिया जाता है।

आचार्य कहते हैं—इस प्रकार के कर्म—शत्रुओं का नाश करने वाले अरिहंत भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं।

यहां एक बात विशेष महत्वपूर्ण है। नमस्कार करते समय किसी व्यक्ति—विशेष का नाम नहीं लिया गया है, अपितु अमुक प्रकार के गुणों से युक्त भगवान् को नमस्कार किया गया है। यह विशाल दृष्टिकोण एवं मध्यस्थभाव का ज्वलंत प्रमाण है। यह निष्पक्ष भावना कितनी प्रशंसनीय है? चाहे जो हो, जिस ने कर्म शत्रु को अत्यन्त विनाश कर दिया है, वही अरिहंत है और वही वन्दनीय है, वही पूजनीय है।

कोई भी वस्तु अगर नमूने के अनुसार हो तो उसमें झगड़े की गुंजाइश नहीं है। नमूने के अनुसार न होने पर ही झगड़ा उत्पन्न होता है। इसी कारण आचार्य ने कर्मशत्रुओं का नाश करने वाले को अरिहंत और वंद्य कहा है। जिसमें विकार विद्यमान है वह माननीय या वन्दनीय नहीं और जो विकारों के वेग से विमुक्त हो चुका है, वह कोई भी क्यों न हो, वन्दनीय है।

अगर अरिहंत ने अपने कर्मों का अत्यन्त अन्त कर दिया है और अपनी आत्मा को एकान्त निर्मल बना लिया है, तो उन्होंने अपना ही कल्याण साधन नहीं किया है। उन्होंने कर्मों का नाश किया है, यह देख कर हम उन्हें क्यों नमस्कार करें?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भक्त भगवान् पर अहसान करके उन्हें नमस्कार नहीं करता। भगवान् को नमस्कार करने में भक्त का महान् मंगल है। उस मंगल की उपलब्धि के लिए ही भक्त भक्तिभाव से प्रेरित होकर भगवान् के चरणों में अपने आपको अर्पित कर देता है।

संसार नाना प्रकार की पीड़ा से पीड़ित है। उसे कोई शान्तिदाता नहीं मिला है। कर्म हमें बुरी तरह नचा रहे हैं, असह्य यातनाओं का पात्र बना रहे हैं और अरिहंत भगवान् ने उन कर्मों का विनाश कर दिया है। कर्मों की इस व्याधि से छुटकारा दिलाने वाले महावैद्य वही हो सकते हैं जिन्होंने स्वयं इस व्याधि से मुक्ति पाई है और अनन्त आरोग्य प्राप्त कर लिया है। अरिहंत भगवान् ही ऐसे है। हम कर्म की व्याधि से किस प्रकार छूट सकते हैं—कर्मों का अन्त किस प्रकार होना संभव है, यह बात अरिहंत भगवान् ही हमें बता सकते हैं। उन्होंने सर्वज्ञता—लाभ करके वह मार्ग प्रकाशित भी किया है। इसी कारण अरिहन्त भगवान् हमारे नमस्कार के पात्र हैं वही, शान्तिदाता हैं।

पहले 'अरहंताणं' का एक रूपान्तर 'अरुहद्भ्यः' बतलाया जा चुका है। 'अरुंहद्भ्यः' का अर्थ है 'रुह,' का नाश करने वाले। रुह धातु का संस्कृत भाषा में अर्थ है —सन्तान अर्थात् परम्परा। जैसे बीज और अंकुर की परम्परा होती है। बीज से अंकुर उत्पन्न होता है और अंकुर से बीज उत्पन्न होता है, और इस प्रकार बीज और अंकुर की परम्परा चलती रहती है। अगर बीज को जला दिया जाये तो फिर अंकुर उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार जिन्होंने कर्म रूपी बीज को भस्म कर दिया है—नष्ट कर दिया है और इस कारण जिसका फिर कभी जन्म नहीं होता, अर्थात् कर्म—बीज का आत्यन्तिक विनाश कर देने वाले (अरहंत) को मैं नमस्कार करता हूं।

किसी ने ठीक ही कहा है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न प्ररोहति भवांकुरः।

जिस बीज को आत्यन्तिक रूप से जला दिया जाता है, उसे चाहे जैसी कमाई हुई भूमि में बोया जाये, उस से अंकुर नहीं उग सकता। इसी प्रकार कर्म—बीज को एक बार पूर्ण रूपेण भस्म कर देने पर पुनर्जन्म रूपी अंकुर नहीं उग सकता।

कई लोगों का कहना है कि जिस कर्म के साथ आत्मा का अनादिकाल से संबंध है, वह कर्म नष्ट कैसे हो जाते हैं ? मगर बीज और अंकुर का संबंध भी अनादिकाल का है। फिर भी बीज को जला देने से उनकी परम्परा का

भी अन्त हो जाता है। इसी प्रकार कर्म की परम्परा का भी अन्त हो सकता है। जिस प्रकार प्रत्येक अंकुर और प्रत्येक बीज आदि ही हैं फिर भी दोनों के कार्य—कारण का प्रवाह अनादि है, इसी प्रकार प्रत्येक कर्म आदि हैं तथापि उसका कर्म के साथ कार्य—कारण का संबंध अनादि है।

यह शंका भी उचित नहीं है कि जैसे अंकुर के जला देने पर बीज का अभाव हो जाता है, उसी प्रकार कर्म का नाश होने पर आत्मा का भी नाश क्यों नहीं हो जायेगा? बीज और अंकुर तथा आत्मा और कर्म के संबंध में पर्याप्त अन्तर है। बीज और अंकुर में उपादान—उपादेयभाव संबंध हैं, जब कि आत्मा और कर्म में मात्र संयोग संबंध है। जैसे बीज और अंकुर का स्वरूप मूलतः एक है, वैसे आत्मा और कर्म का स्वरूप एक नहीं है। दोनों का स्वरूप भिन्न—भिन्न है। जीव चैतन्य रूप है, कर्म जड़ है। जीव और कर्म को प्रायः सभी चैतन्य और जड़ रूप मानते हैं। जलाने पर जड़ ही जल सकता है। चेतन नहीं जल सकता है। दोनों भिन्न—भिन्न स्वभाव वाले हैं। गीता में कहा है—नैनं दहति पावकः अर्थात् आत्मा को अग्नि जला नहीं सकती।

इस संबंध में एक बात और भी कही जा सकती है। वह यह कि जैसे बीज और अंकुर एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं वैसे आत्मा और कर्म एक दूसरे से उत्पन्न नहीं होते। बीज अंकुर की परम्परा के समान कर्मों की—द्रव्य कर्म और भाव कर्म की ही परम्परा यहां अनादिकालीन बताई गई है। अतः द्रव्य कर्मों और भाव कर्मों के क्षय होने पर द्रव्य कर्मों का क्षय हो जाता है। आत्मा अविनाशी होने के कारण विद्यमान रहती है बल्कि स्वरूप में आ जाती है। कर्म का नाश होने से आत्मा की अशुद्धता का ही नाश होता है।

नमस्कार के विषय में कहा जा सकता है कि अरिहन्त को नमस्कार करने से क्या लाभ है? अरिहन्त भगवान् वीतराग हैं। वह न तुष्ट होते हैं, न रुष्ट होते हैं। हमें उनकी छाया भी कभी मिलती नहीं है। फिर नमस्कार करना वृथा क्यों नहीं है?

भगवान् को नमस्कार करने से क्या लाभ है? इस विषय में आचार्य कहते हैं—आत्मा संसार रूपी वन में भटकते भयभीत हो गयी है। ऐसी आत्मा को मार्ग बताने वाला कौन है, जिससे वह भव—वन से बाहर निकल सके। जिसने उस वन को पार नहीं किया है, जो स्वयमेव उसी वन में भटक रही है अर्थात् जिसने कर्म शत्रु को नहीं जीता है, वह उस मार्ग के विषय में क्या जानेगी? उद्धार की आशा उससे कैसे की जा सकती है ? जिसने स्वयं उस वन को पार किया हो, शुद्ध आत्मपद की प्राप्ति कर ली हो, वही उस वन से

निकालने के लिए तथा मोक्ष रूपी नगरी का मार्ग बताने के लिए सुयोग्य पथ–प्रदर्शक हो सकता है। अरिहन्त भगवान् में ऐसी विशेषता है। उन्होंने भव–कान्तार को पार किया है, अतएव वही नमस्कार करने योग्य हैं।

कर्म, कर्त्ता के किये हुए होते हैं। कर्त्ता द्वारा जो किया जाये वही कर्म कहलाता है। मतलब यह है कि कर्म तुम्हारे बनाए हुए हैं, कर्मों के बनाये तुम नहीं हो। जो बनता है वह गुलाम है और जो बनाता है वह मालिक है। अरिहंत भगवान् ने हमें बतलाया है–कि तुम इतने कायर क्यों हो रहे हो कि अपने बनाये हुए कर्मों से आप ही भयभीत होते हों? कर्म तुम्हारे खेल खिलौने हैं। तुम कर्मों के खिलोने नहीं हो। इस प्रकार कर्मों के अन्त का मार्ग बतलाने के कारण अरिहंत भगवान् नमस्कार करने योग्य हैं।

नमस्कार दो प्रकार का है–एक तो अपना सांसारिक स्वार्थ साधने के लिए किया गया नमस्कार, दूसरे वीर क्षत्रिय की भांति नमस्कार करना अर्थात् या तो नमस्कार करे नहीं अगर कर ले तो फिर कोई भी वस्तु उससे अधिक समझे नहीं।

कहा जाता है कि राणा प्रताप के लिए अकबर बादशाह ने अपने राज्य का छठा भाग देना स्वीकार किया था, अगर राणा एक बार बादशाह के सामने जाकर उसे नमस्कार कर ले। इस प्रलोभन के उत्तर में राणा ने कहा था, 'जहां मुझे दोनों पैर जमा कर खड़े रहने की जगह मिलेगी, वहीं मेरा राज्य है।' नमस्कार करने का अर्थ अपना सर्वस्व समर्पण कर देना है। अगर मैंने बादशाह को नमस्कार किया तो मैं स्वयं बादशाह बन जाऊंगा, फिर उसके राज्य का छठा भाग या चौथाई भाग भी लेकर क्या करूंगा? राज्य के लोभ के सामने राणा का मस्तक नहीं झुक सकता।

महाराणा प्रताप ने अपनी टेक रखने के लिए अनगिनत कष्ट सहन किये, पर हृदय में दीनता नहीं आने दी। बादशाह के सामने उनका मस्तक तो क्या, शरीर का एक रोम भी नहीं झुका। यों तो राणा अपने अभीष्ट देवता और अपने गुरु को नमस्कार करते ही होंगे लेकिन लोभ के आगे उनका मसतक नहीं झुका।

सारांश यह है कि प्रथम तो वीर पुरुष सहसा किसी को नमस्कार नहीं करते और जब एक बार कर लेते हैं तो नमस्करणीय व्यक्ति से फिर किसी प्रकार का दुराव नहीं रखते। फिर वे पूर्ण रूप से उसी के हो जाते हैं। उसके लिए सर्वस्व समर्पण करने में भी अपने पैर पीछे नहीं हटाते।

'श्रोतागण! क्या आप अर्हन्त भगवान् को नमस्कार करते हैं? जी हां!'

लेकिन यदि नमस्कार करके भी दुर्भाव बना रहा तो क्या कहा जायेगा? जिसे नमस्कार किया है वह बड़ा है। उस बड़े को अगर सच्चे हृदय से नमस्कार किया है तो उसके लिए, उसके आदर्श के लिए, सिर दे देना भी कोई मुश्किल बात नहीं होनी चाहिए।

अगर कोई आपका सिर काटने के लिए आवे तो अरिहंत से आपका भाव तो नहीं पलटेगा ? अगर कष्ट आने पर आपने अरिहंत भगवान् की ओर से अपना भाव पलट लिया तो समझ लीजिए अभी आपके नमस्कार में कमी है।

मान लीजिए एक आदमी आपकी दुकान पर आया। आपने उस आदमी को नमस्कार करके बिठाया। उस आदमी ने आपकी पेटी में एक रत्न देखा और उसे लेना चाहा। अब आप यदि यह कहते हैं कि मैंने देने के लिए आपको नमस्कार नहीं किया है। मेरे नमस्कार करने का उद्देश्य यह है कि आप मेरी दुकान पर आये हैं तो मुझे कुछ दे जावें। अगर आप यह कहते हैं तो मानना चाहिए कि आपका नमस्कार करना दिखावटी था–सिर्फ लोक–व्यवहार था, सच्चे हृदय से उत्पन्न होने वाली समर्पण की भावना का प्रतीक नहीं था। जिसे नमस्कार किया है, उसके लिए अपना सिर भी दे देने के लिए तैयार हो जाना सच्चा नमस्कार है।

देव कामदेव के विरुद्ध तलवार लेकर आया था। उसने कामदेव को निर्ग्रन्थ–धर्म को त्याग देने का आदेश दिया था। ऐसा न करने पर उसने घोर से घोर कष्ट पहुचाने की धमकी दी थी। मगर कामदेव श्रावक उस देव से भयभीत हुआ था? उसने यही कहा कि यह तन तुच्छ है और प्रभु का धर्म महान् है। यह तुच्छ शरीर भी टिकाऊ नहीं है। एक दिन नष्ट हो जायेगा सो यदि यह शरीर धर्म के लिए नष्ट होता है तो इससे अधिक सद्भाग्य की बात और क्या होगी?

अरणक श्रावक का कोई अपराध नहीं था। फिर भी देव उसे यह कहता था कि तू अर्हन्त की भक्ति छोड़ दे अन्यथा तेरा जहाज डुबा दूंगा। मगर प्रणवीर अरणक ने कहा–जहाज चाहे डूबे, मगर धर्म नहीं छोड़ सकता।

कई लोग अपनी जिद को ही धर्म मान लेते हैं। इस विषय में यह बात नहीं है। मगर अर्हन्त के जो गुण पहले बतलाये गये हैं, उन गुणों से युक्त भगवान् ने जिस धर्म का निरूपण किया है, जो धर्म शुद्ध हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा के अनुकूल हैं और साथ ही युक्ति एवं तर्क से बाधित नहीं होता, तथा

जिससे व्यक्ति और समष्टि का एकान्त मंगल–साधन होता है उस धर्म को न त्यागने में ही कल्याण है।

णमो सिद्धाणं का विवेचन

प्रकृत शास्त्र के प्रथम मंगलाचरण के प्रथम पद का विवेचन किया जा चुका है। उसके पश्चात् द्वितीय पद –'णमो सिद्धाणं है। णमो सिद्धाणं का अर्थ है –सिद्धों को नमस्कार हो।

'नमः' शब्द का अर्थ पहले बतलाया जा चुका है। केवल 'सिद्ध' पद की व्याख्या करना शेष है।

अष्ट कर्म रूपी ईंधन को जिन्होंने शुक्ल ध्यान रूपी जाज्वल्यमान अग्नि में भस्म कर दिया है उन्हें सिद्ध कहते हैं। सिद्ध पद की यह व्याख्या निरुक्ति इस प्रकार है–

सि–सितं–बंधे हुए कर्म रूपी ईंधन को।

द्ध–ध्मातं–भस्म कर दिया है।

अथवा–सिद्ध 'षिधु' धातु से बना है। षिधु का अर्थ गति करना है। अर्थात् जो गमन कर चुके हैं ऐसे स्थान को जहां से फिर कभी लौटकर नहीं आते उन्हें सिद्ध कहते हैं।

अथवा 'षिधु' धातु का अर्थ –सिद्ध हो जाना। जिन का कोई भी कार्य शेष नहीं रहा है–सभी कार्य जिनके सिद्ध हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं।

अथवा–'षिधञ्' धातु से सिद्ध शब्द बना है षिधुञ् का अर्थ है–शास्त्र या मंगल। जो संसार को भली भांति उपदेश देकर संसार के लिए मंगलरूप हो चुके हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। ऐसे सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो।

सिद्ध का अर्थ नित्य भी होता है। नित्य का अर्थ यहां यह है कि जहां गये हैं वहां से लौटकर न आने वाले। ऐसे सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो।

ख्यातिप्राप्त अर्थात् प्रसिद्ध को भी सिद्ध कहते हैं। जिनके गुण समूह ख्याति प्राप्त कर चुके हैं उन सिद्ध भगवान् के गुण समूह भव्य जीवों को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जिनके गुण समूह भव जीवों में प्रसिद्ध हैं और जो भव्य जीवों को ही प्राप्त होते हैं उन सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो।

आचार्य ने सिद्ध भगवान् की व्याख्या इस श्लोक द्वारा और भी स्पष्ट कर दी है–

ध्मातं सितं येन पुराणकर्म्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठतार्थो, यःसोऽस्तुसिद्धःकृतमंगलोमे।।

अर्थात्–जिन्होंने पुराने काल से बांधे हुए कर्म को भस्म कर दिया है, जो मुक्ति रूपी महल में जा चुके हैं, जो विख्यात हो चुके हैं, जिनके गुणों को भव्य प्राणी भली भांति जानते हैं, जिन्होंने धर्म का अनुशासन किया है, जिनके समस्त कार्य सिद्ध हो चुके हैं वे सिद्ध भगवान् हमारा मंगल करने वाले हों–हमारा कल्याण करें। ऐसे सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो।

प्रश्न–सिद्ध भगवान् अगर मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं, अगर कृतकृत्य हो चुके हैं, तो हमें उनसे क्या प्रयोजन हैं? उन्हें नमस्कार करने से क्या लाभ है?

इस प्रश्न का समाधान यहां किया गया है। सिद्ध भगवान् को नमस्कार इस लिए करते हैं कि उनके ज्ञान, दर्शन, चरित्र, सुख आदि गुण सदा शाश्वत हैं। उनका वीर्य अनन्त और अक्षय है। वे इन समस्त आत्मिक गुणों से अलंकृत हैं। अतएव वह हमारे विषय में भी हर्ष उत्पन्न करते हैं। सिद्धों के इन गुणों को देखकर हम भी यह जानने लगे हैं कि जो गुण सिद्धों में प्रकट हो चुके हैं वही सब गुण हमारी आत्मा में भी सत्ता रूप से विद्यमान हैं। अन्तर केवल यही है कि सिद्धों के गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो चुके हैं और हमारे गुण कर्मों के कारण प्रकट नहीं हुए हैं–दबे हुए हैं, क्योंकि आत्म–आत्म द्रव्य की अपेक्षा निश्चयनय की दृष्टि से सिद्धों की हमारी आत्मा समान हैं। ऐसी स्थिति में जिनके गुण प्रकट हो चुके हैं उन्हें नमस्कार करने से हमें अपने गुणों का स्मरण हो आता है और हम उन गुणों को प्रंकट करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार सिद्धों को नमस्कार करने से आत्मशोधन की प्रेरणा प्राप्त होती है, अतएव उन्हें नमस्कार करना चाहिए।

जिस मनुष्य के अन्तःकरण में थोड़े से भी सुसंस्कार विद्यमान हैं वह गुणीजन को देखकर प्रमुदित होता है। मानव स्वभाव की यह आन्तरिक वृत्ति है, जिसे नैसर्गिक कहा जा सकता है। अगर कोई विशिष्ट विज्ञानवेत्ता हो तो साधारण जनों को उसे देखकर हर्ष होता है कि उसने हमारा पथ प्रशस्त कर दिया है। इसकी बदौलत हमारे अभ्युदय की कल्पना मूर्तिमती हो गई है। इसे आदर्श मानकर हम भी इस पथ पर अग्रसर हो सकेंगे और सफलता प्राप्त कर सकेंगे। इसी प्रकार सिद्धों में और हम में जब मौलिक समानता है तो जिन गुणों को सिद्ध प्रकट कर चुके हैं उन्हीं गुणों को हम क्यों न प्रकट कर सकेंगे।

किसी के किसी गुण का अनुकरण करने के लिए उसके प्रति आदर भाव होना आवश्यक है। इस नियम से सिद्धों के गुणों का अनुकरण करने के लिए उनके प्रति आदर एवं भक्ति की भावना अपेक्षित है। इसी उद्देश्य से सिद्ध भगवान को नमस्कार किया जाता है।

कहा जा सकता है कि अगर हमारी आत्मा में सिद्धों के समान ही गुण विद्यमान हैं तो हम में और सिद्धों में कुछ भी अन्तर नहीं है। तब हम उन्हें नमस्कार क्यों करें? इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रत्येक आत्मा में समान गुण होने पर भी संसारी जीव अपने गुणों को भूल रहा है। उदाहरणार्थ संसारी आत्मा में ज्ञान गुण मौजूद हैं। मगर वह कर्मों के कारण विकृत हो रही है और अत्यन्त सीमित हो रही है। अनादिकालीन कर्मों के प्रभाव से आत्मा इतनी दुर्बल हो गयी है कि इन्द्रियों का सहारा लेकर उसे ज्ञान करना पड़ता है। कान के द्वारा न जाने कितने शब्द अब तक सुने हैं और यदि कान बने रहे तो न मालूम कितने शब्द सुने जा सकते हैं, सुनने की यह शक्ति कान की नहीं हैं किन्तु कान के द्वारा आत्मा ही सुनती है। यही बात घ्राण, रस, स्पर्श और रूप आदि के विषय में समझनी चाहिए। लेकिन इन्हें जानने के लिए इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा होना आत्मा की कमजोरी है। आत्मा स्वयं देखे, सुने, उसे इन्द्रिय आदि किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा न रहे यह आत्मा का असली स्वाभाविक स्वरूप है। यह गुण कैसे मालूम हो, इस बात को इन्द्रियद्वार से देखना चाहिए।

शास्त्रकारों ने दस प्राण बतलाये हैं। पांच इन्द्रियां, तीन बल–मनोबल, वचन बल, कायबल श्वासोच्छ्वास और आयु यह दस प्राण हैं। इन्हें द्रव्य प्राण कहा जाता है।

सिद्धों में चार भाव प्राण होते हैं–ज्ञान प्राण, दर्शन प्राण, वीर्य प्राण, और सुख प्राण। यह चार आत्मा के असली प्राण है और संसारी जीवन के दस प्राण विकारी हैं। इन दस प्राणों से हम आत्मा के असली प्राणों का पता लगा सकते हैं। जैसे –ज्ञान और दर्शन प्राण इन्द्रिय प्राण में समाये हुए हैं, तीनों बलों में वीर्य प्राण समाया हुआ और आयु एवं श्वासोच्छ्वास प्राणों में सुख प्राण समाया हुआ है।

सुख प्राण को श्वासोच्छ्वास भी कहा जा सकता है। शान्तिपूर्वक श्वास आने के समान संसार में और कोई सुख नहीं है। दूसरे सुख ऊपरी हैं। श्वास शान्ति के साथ आवे यह सुख प्राण है। मगर विकार दशा में इस सुख प्राण के द्वारा सुख भी होता है और दुःख भी होता है। यह सुख–दुःख मिट कर आत्मा को उसका स्वकीय सुख प्राप्त हो, यही वास्तविक सुख प्राण है।

उक्त दस प्राणो में एक आयु प्राण बतलाया गया है। आत्मा जब तक शरीर में है तभी तक आयु के साथ उसका संबंध है। आत्मा जब शरीर से अतीत हो जाती है तब आयु के साथ उसका संबंध नहीं रहता। आत्मा का

असली गुण स्थिति है। परन्तु यह स्थिति गुण आयु के साथ रहने से नष्ट हो गया है। यह स्थिति गुण भी सुख प्राण रूप है।

इसी प्रकार हम आत्मा के अन्यान्य गुणों का भी पता लगा सकते हैं। सिद्ध भगवान् का स्वरूप जानकर हमें यह प्रतीति होती है कि इन्द्रियों के इशारे के सिद्धों ने अपने स्वाभाविक गुणों को प्रकट किया है। सिद्धों के इस कार्य से हमें भी अपना आत्मबल प्रकट करने का मार्ग नजर आ गया है। इस कारण हम सिद्धों को नमस्कार करते हैं।

'णमो आयरियाणं' का विवेचन

नमस्कार मंत्र के दो पदों का विवेचन किया जा चुका। तीसरा पद है—णमो आयरियाणं—आचार्यों को नमस्कार हो।

आचार्य किसे कहते हैं, इस संबंध में टीकाकार कहते हैं कि 'आ' अक्षर का अर्थ है—मर्यादापूर्वक या मर्यादा के साथ और 'चार्य' का अर्थ है—सेवनीय अर्थात् सेवा करने योग्य। तात्पर्य यह है कि मर्यादा के साथ जिनकी सेवा की जाती है, बिना मर्यादा के जिनकी सेवा नहीं होती अर्थात् भव्य प्राणियों द्वारा मर्यादापूर्वक सेवित हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।

भव्य प्राणी आचार्य की सेवा क्यों करते हैं ? इस संबंध में टीकाकार कहते हैं कि सूत्र के मर्म का अर्थ करने का अधिकार जिन साधुओं को है 'वे आचार्य कहलाते हैं'। शास्त्र में कहा है—

सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढ़िभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं बाएइ आयरिओ।।

इस गाथा में सूत्र के परमार्थ को जानने वाले और शरीर के सब लक्षणों से युक्त मुनि को आचार्य कहा गया है।

आचारांग सूत्र में शरीर के लक्षणों के संबंध में विशद् व्याख्यान किया गया है। वहां बतलाया गया है कि जिसकी आकृति अच्छी होती है उसमें गुण भी प्रायः अच्छे होते हैं। जिसकी आकृति विकृति होती है उसके गुण भी प्रायः वैसे ही होते हैं।

शास्त्र की इस गाथा में कहा गया है कि जो लक्षणों से संपन्न हो और गच्छ का मेढ़ीभूत हो, उसे आचार्य कहते हैं।

खलिहानो में एक लट्ठा (मोटी लकड़ी) गाड़ कर उसके सहारे भूसा और अनाज अलग करने के लिए बैल घुमाये जाते हैं। उस लकड़ी को मेढ़ी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो चतुर्विध संघ का मेढ़ी भूत हो, चतुर्विध संघ

जिसके सहारे टिका रहे और जो गच्छ की चिन्ता से मुक्त हों –जिसने गच्छ का उत्तरदायित्व दूसरे साधु को सौंप दिया हो, ऐसे सूत्रार्थ का प्रतिपादन करने वाले को आचार्य कहते हैं।

आचार्य शब्द का अर्थ दूसरे प्रकार से भी है। 'आ' का अर्थ है मर्यादा के साथ, 'चार' का अर्थ है विहार या आचार। तात्पर्य यह है कि ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार नामक पांच आचारों में जो मर्यादा पूर्वक विहार करते हैं अर्थात् पांचों आचारों का पालन करने में जो दक्ष हैं, आप स्वयं पालते हैं और दूसरों को पालने के लिए उपदेश देते हैं–दृष्टान्त और युक्ति से बोध कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि उक्त पांच आचारों का जो स्वयं दक्षता पूर्वक पालन करते हैं और दूसरों को पालन करने का उपदेश देते हैं वह आचार्य कहलाते हैं। जो स्वयं जिस आचार का पालन नहीं करता और केवल दूसरों को उपदेश ही देता है वह आचार्य नहीं है।

वास्तविक उपदेश वही है और वही प्रभावजनक हो सकता है जिसका पालन कर दिखाया जावे। जीवन व्यवहार द्वारा प्रदर्शित उपदेश अधिक प्रभावशाली, तेजस्वी, स्पष्ट और प्रतीतिजनक होता है। अतएव जो स्वयं व्यवहार में पालन कर दिखाता है–अपने कर्त्तव्य द्वारा उपदेश प्रदर्शित करता है तथा कोई भव्य प्राणी यदि उस आचार के मर्म को जानना चाहता है तो उसे दृष्टान्त, हेतु एवं युक्ति से समझाता है, वही सच्चा आचार्य है।

आचार्य का स्वरूप समझने के लिए एक लौकिक दृष्टान्त उपयोगी होगा। मान लीजिए, एक आदमी कहता है कि मैं डॉक्टर हूं–सर्जन हूं। मैं पुस्तकीय बात समझ सकता हूं, समझा सकता हूँ, भाषण कर सकता हूं, परन्तु मैं क्रियात्मक चिकित्सा नहीं कर सकता। क्या कोई ऐसे आदमी को डॉक्टर कहेगा? नहीं।

अगर कोई कृषि का आचार्य कहलाता है पर हल चलाना नहीं जानता और बीज बोना भी नहीं जानता, तो वह आचार्य कैसा !

जैसे लौकिक विषयों में स्वयं कर दिखाने वाले और फिर उपदेश देने वाले उस विषय के आचार्य कहलाते हैं, उसी प्रकार लोकोत्तर विषय–धर्म के संबंध में भी वही साधु आचार्य की पदवी प्राप्त कर सकते हैं जो स्वयं आचार का पालन कर दिखाते हैं। ऐसे आचारनिष्ठ उपदेशक ही आचार्य कहे जा सकते हैं।

आचार्य शब्द का एक शब्दार्थ और है। 'आ' का अर्थ है–कुछ–कुछ अर्थात् थोड़े, और 'चार' का अर्थ है दूत। इस प्रकार 'आ–चार' का अर्थ हुआ

'कुछ–कुछ' दूत के समान।' तात्पर्य यह है कि जैसे दूत अन्वेषण कार्य में या खोज करने में कुशल होते हैं, उसी प्रकार जो शिष्य उचित और अनुचित की खोज में, हेय और उपादेय के अन्वेषण में तत्पर हैं उन शिष्यों को उपदेश देने में जो कुशल हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं।

आचार्य शब्द की पूर्वोक्त व्याख्याओं में आचार्य के जिन गुणों का समावेश किया गया है, उन गुणों से सुशोभित आचार्य महाराज को नमस्कार हो।

साधु और आचार्य में क्या अन्तर है, यह प्रश्न यहां सहज ही उद्भूत हो सकता है। साधु और आचार्य दोनों ही पांच महाव्रतों का पालन करते हैं, दोनों ही आहार के बयालीस दोष टालकर भिक्षा ग्रहण करते हैं, दोनों ही सकल संयम के धारक हैं, तो सामान्य साधु में और आचार्य में क्या अन्तर है? इस भेद का कारण क्या है? परमेष्टी में एक का स्थान तीसरा और दूसरे का पांचवां क्यों हैं?

साधु और आचार्य का अन्तर सुगमता से समझने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है। मान लीजिए एक मकान बन रहा है। उसमें सैकड़ों कारीगर काम करते हैं। सब के हाथों में कारगरी के औजार हैं। लेकिन सब कारीगरों के ऊपर एक इन्जिनियर है। इस इंजिनियर पर जैसा चाहिए वैसा मकान बनवाने की तथा हानि–लाभ की जिम्मेदारी है। काम तो सब कारीगर करते हैं परन्तु बुद्धि इंजिनियर बतलाता है। सब कारीगर उसी के आदेशानुसार कार्य करते हैं। इसी कारण मकान में एकरूपता रहती है और इच्छानुसार मकान बन जाता है। अगर सभी कारीगर स्वछन्द हों और अपनी मर्जी के मुताबिक मकान बनाने के लिए उद्यत हो जाएं तो मकान की एक रूपता नष्ट हो जायेगी, इच्छित मकान नहीं बन सकेगा।

यही बात यहां समझनी चाहिए। संघ को एक मकान समझ लीजिए। संघ में यद्यपि अनेक साधु होते हैं और ये सब समान भी हैं, तथापि इंजिनियर के समान आचार्य की आवश्यकता रहती है। जैसे इंजिनियर के आदेशानुसार मकान बनाने से मकान में अच्छाई और एकरूपता आती है, उसी प्रकार आचार्य के आदेशानुसार कार्य करने से संघ में अच्छाई आती है और एकरूपता रहती है।

किस साधु ने ज्ञान का विशेष अभ्यास किया है, कौन दर्शन में उत्कृष्ट है, किसमें कौनसी और कितनी शक्ति है और किसे कहां नियुक्त करना चाहिए, यह सब बातें अगर आचार्य के निरीक्षण में न हों तो संघ रूपी मकान में भद्दापन

आ जायेगा और अनेक साधु रूपी कारीगरों की शक्ति समुचित रूप से उपयोग में नहीं आ सकेगी। संघ को भी अपना कार्य आचार्य की देख रेख में होने देना चाहिए और आचार्य पर पूर्ण श्रद्धा भाव रखना चाहिए। ऐसा करने से संघ रूप भवन में भव्यता आती है।

कहा जा सकता है कि साधु समूह में से ही एक को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। मगर यदि अन्य साधुओं में भी आचार्योचित गुण विद्यमान हों तो उन्हें भी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित क्यों न किया जाये ? इसका समाधान यह है कि एक को प्रधान माने बिना कार्य सुचारु रूप से नहीं होता। कहा भी है–

अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः

अर्थात् जिस समूह का कोई नायक नेता नहीं होता उसकी दुर्दशा होती है और जिस समूह के बहुतेरे नायक होते हैं, उसकी भी वही दुर्दशा होती है।

जैसे सैंकड़ों, हजारों सदस्यों में से किसी एक बुद्धिमान पुरुष को सभापति निर्वाचित कर लिया जाता है और निर्वाचन से कार्य व्यवस्थापूर्वक एवं शान्ति के साथ सम्पन्न होता है, उसी प्रकार संघ का कार्य समीचीन रूप से चलाने के लिए आचार्य का निर्वाचन किया जाता है। सभा में उपस्थित सदस्यों में अनेक बुद्धिमान पुरुष होते हैं मगर उन सब को सभापति नहीं बनाया जाता। ऐसा करने से सभापति पद की उपयोगिता विनष्ट हो जाती है। इसी प्रकार संघ में आचार्योचित गुणों से युक्त अनेक साधुओं की विद्यमानता में भी आचार्य एक ही बनाया जा सकता है। जैसे सब सदस्य, सभापति के आदेशानुसार बर्ताव करते हैं उसी प्रकारसंघ आचार्य के आदेशानुसार चलता है। जैसे सभापति की बात न मानकर मनमानी करने से सभा छिन्न–भिन्न एवं अनियंत्रित हो जाती है, उसी प्रकार आचार्य की बात न मानकर स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति करने से संघ भी छिन्न–भिन्न हो जाता है।

आचार्य, संघ की केन्द्रीभूत शक्ति है। जिस प्रकार राज्य संचालन में केन्द्रीभूत शक्ति प्रधान मानी जाती है, उसी प्रकार संध में आचार्य प्रधान माना जाता है।

तात्पर्य यह है कि संघ की शक्ति जोड़ने में जो दक्ष होता है, संघ के संचालन में जो प्रधान भाग लेता है, वह आचार्य है।

आचार्य को नमस्कार इसलिए किया जाता है कि वे स्वयं आचार का पालन करने के साथ ही दूसरों के आचार का ध्यान रखते हैं और उसके पालन

करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार आचार्य हमें ज्ञान दर्शन आदि में स्थिर रखते हैं। इसी महान् उपकार से उपकृत होकर हम उन्हें नमस्कार करते हैं।

'णमो उवज्झायाणं' का विवेचन

आचार्य को नमस्कार करने के पश्चात् चौथे पद में कहा गया है—णमो उवज्झायाणं—उपाध्याय को नमस्कार हो।

उपाध्याय शब्द का अर्थ बतलाते हुए आचार्य कहते हैं— 'उपाध्याय' 'उप' और 'अध्याय' इन दो शब्दों के मेल से बना है। 'उप' का अर्थ है समीप में, और अध्याय का अर्थ है स्वाध्याय करना। अर्थात् जिनके पास सूत्र का पाठ लेने के लिए विशेष रूप से जाना पड़ता है, जिनके पास सूत्र का पठन—पाठन होता है, और जिनके पास जाने से सूत्रार्थ का स्मरण होता है अर्थात् जो सूत्रार्थ का स्मरण कराते हैं, उन विद्वान् महात्मा को उपाध्याय कहते हैं।

शास्त्र में कहा है—

बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिओ बुहे।
तं उवइसंति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति।।

अर्थात्—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट बारह अंग रूप स्वाध्याय बुद्धिमान् गणधरों ने बतलाया है। उसका जो उपदेश करते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि आचार्य और उपाध्याय में क्या अन्तर है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उपाध्याय शिष्यों को मूल सूत्र पढ़ाकर तैयार कर देते हैं और आचार्य सूत्रों की व्याख्या करके समझाते हैं। सूत्रों की व्याख्या करके समझाना आचार्य का काम है। मकान बनाने से पहले नींव तैयार की जाती है और तत्पश्चात् मकान बनाया जाता है। इसी प्रकार पहले सूत्र की भूमिका रूपी नींव डालने का कार्य उपाध्याय करते हैं और उस पर व्याख्या रूपी भवन का निर्माण आचार्य करते हैं।

उपाध्याय शब्द के और अर्थ भी हैं। जैसे—जिनके पास जाने से उपाधि प्राप्त हो—जो शिष्यों को उपाधि देने वाले हों, जो पढ़ाई के साक्षीदाता हों, जिसकी पढ़ाई की प्रतीति हो, उसे उपाध्याय कहते हैं। यहां 'उपाधि' का अर्थ पदवी, अधिकार या प्रमाण—पत्र (ब्मतजपपिबंजम) है।

आज उपाध्याय का नाम मात्र रह गया है। जिसका जब जी चाहता है वही शास्त्र बांचने लगता है। उपाध्याय के समीप जाकर शास्त्राध्ययन करने की अब आवश्यकता नहीं रह गई है। प्राचीन काल में ऐसी अव्यवस्था नहीं

थी। पहले उपाध्याय के पास, विधिपूर्वक शास्त्र का अभ्यास करने के लिए शिष्य जन जाया करते थे। अध्ययन प्रणाली के विषय का प्राचीन इतिहास शास्त्र बतलाता है।

जिनकी समीपता से अनायास ही लाभ पहुंचता है, उन्हें भी शब्दार्थ के अनुसार उपाध्याय कहते हैं। जिनकी उपाधि अर्थात् समीपता से 'आय' अर्थात् लाभ प्राप्त हो वह उपाध्याय है। आशय यह है कि जैसे गंधी की दुकान पर जाने से अनायास ही सुगंध की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार उपाध्याय के पास जाने से भी अनायास ही लाभ हो जाता है। उपाध्याय के पास सूत्र का स्वाध्याय सदा चलता रहता है, इसलिए उनके पास जाने वाले को सहज ही स्वाध्याय का लाभ मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि जिनकी समीपता से अनायास ही लाभ की प्राप्ति होती है उन्हें भी शब्दार्थ के अनुसार उपाध्याय कहते हैं।

अथवा –'आय' का अर्थ है–इष्ट फल। जो इष्ट फल देने के निमित्त हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं। जो आम का वृक्ष मधुर फलों से सम्पन्न है उसके समीप जाने से फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार जिनके निमित्त से मनोवांछित फल अनायास ही प्राप्त हो जाये उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

अथवा–'आधि' शब्द का अर्थ है–मानसिक पीड़ा। उसका लाभ 'आध्याय' कहलाता है। तथा 'आधि' शब्द में जो 'अ' अक्षर है वह कुत्सित अर्थ में प्रयोग किया गया है, अतएव 'अधी' का अर्थ हुआ–कुत्सित बुद्धि–कुबुद्धि। 'अधी' की आय अर्थात् लाभ को 'अध्याय' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त 'अध्याय' का अर्थ दुर्ध्यान–अप्रशस्त ध्यान भी होता है। इस प्रकार 'आध्याय' (मानसिक पीड़ा) और अध्याय (कुबुद्धि का लाभ तथा दुर्ध्यान) जिनके नष्ट हो जाते हैं वह उपाध्याय है। तात्पर्य यह है कि जो मानसिक पीड़ा से रहित हैं, और अप्रशस्त ध्यान से भी रहित है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

उपाध्याय शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने युक्ति–बल से यह स्पष्ट कर दिया है कि जिसके हृदय में दुर्ध्यान होता है वह उपाध्याय नहीं है। यों तो संसार में अनेक लोग उपाध्याय कहलाते हैं, यहां तक कि 'उपाध्याय' जन्मजात पदवी भी हो गई है और यही नहीं बहुत से लोग महामहोपाध्याय तक कहलाते हैं, लेकिन वे इस व्याख्या के अन्तर्गत नहीं हैं। यहां उपाध्याय के गुणों में एक गुण यह भी बतलाया गया है कि वह दुर्ध्यान से रहित होना चाहिए। जिसने आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का नाश कर दिया हो अर्थात जो कोरा पंडित ही न हो वरन् पंडित होने के साथ ही धर्म–ध्यान और शुक्लध्यान में वर्तमान रहता हो, वही उपाध्याय पदवी का अधिकारी है।

उपाध्याय को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि उपाध्याय न होते तो भगवान् महावीर से आया हुआ परम्परा का ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होता? उपाध्याय की कृपा से ही यह ज्ञान हमें प्राप्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय महाराज शिष्यों को ज्ञान सिखाकर सूत्र द्वारा भव्य प्राणियों की रक्षा करते हैं। इस प्रकार उपाध्याय हमारे महान् उपकारक हैं। इसी कारण उन्हें नमस्कार किया जाता है।

उपाध्याय और आचार्य परम्परा अगर अविछिन्न रूप से चालू रहे तो अपूर्व लाभ होता है। व्यवस्था सभी जगह लाभदायक है। संसार के कार्य व्यवस्था के साथ किये जाते हैं तो सफल होते हैं। धर्म के विषय में भी व्यवस्था का मूल्य कम नहीं है। व्यवस्था चाहे लौकिक हो, चाहे धार्मिक उसे बिगाड़ देने से सभी को हानि पहुंचती है। शास्त्र में अन्य पाप करने वाले को नवीन दीक्षा से अधिक प्रायश्चित् नहीं कहा है, परन्तु गण और संघ में भेद करने वाले को दशवें प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

भगवान कहते हैं–मेरे संघ को छिन्न–भिन्न करने वाला पुरुष परम्परा से लाखों जीवों को हानि पहुंचाता है। भगवान् के इस महत्वपूर्ण कथन पर विचार करके संघ की व्यवस्था करना उचित है। प्रत्येक पुरुष स्वच्छंद हो तो उस संघ को हानि पहुंचे बिना नहीं रह सकती। संघ की वह हानि तात्कालिक ही नहीं होती, उसकी परम्परा अगर चल पड़ती है तो दीर्घ काल तक उससे संघ को हानि पहुंचती रहती है।

'णमो सव्वसाहूणं' का विवेचन

नमस्कार मंत्र के चार पदों का संक्षेप में विवेचन किया जा चुका है। पांचवा पद है–

णमो सव्वसाहूणं

अर्थात्–सब साधुओं को नमस्कार हो।

'णमो' का अर्थ पहले बतलाया जा चुका है। वही अर्थ यहां पर भी समझना चाहिए। साधु किसे कहते हैं, यह देखना चाहिए। इस संबंध में आचार्य (टीकाकार) लिखते हैं–'साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः' अर्थात् समस्त प्राणियों पर जिनका समताभाव हो, जो किसी पर राग–द्वेष न रक्खे, वन्दना करने वाले और निन्दा वाले पर समान भाव धारण करे, जो प्राणीमात्र को आत्मा के समान समझे, उसे साधु कहते हैं। कहा भी है–

निव्वाणसाहए जोए जम्हा साहेंति साहुणो।
समो य सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो।।

अर्थात्–जो पुरुष निर्वाण के साधक ज्ञान, दर्शन आदि योगों को साधता है और सब प्राणियों पर समभाव रखता है वही भाव साधु कहलाता है।

अथवा–'सहायकं वा संयम कारिणं धारयन्तीति साधवः।' अर्थात् जो सयंम पालने वालों की सहायता करता है वह साधु कहलाता है।

जो पुरुष जैसी सहायता कर सकता है वह वैसी ही सहायता करता है। साधु अपनी पद–मर्यादा के अनुकूल अन्य भव्य प्राणियों की मोक्ष साधना में सहायक बनते हैं इसलिए निर्युक्ति के अनुसार उन्हें साधु कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि यहां 'णमो साहूणं' न कह कर 'णमो सव्व साहूणं' क्यों कहा गया है? 'सव्व' का अर्थ है–सर्व अर्थात् सब। साधु के लिए 'सव्व' विशेषण लगाने का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि– साधुओं में साधना के भेद अनेक अवान्तर भेद होते हैं। जैसे अरिहन्त, सिद्ध में सर्वथा समानता है, वैसी समानता साधुओं में नहीं है। यद्यपि साधुत्व की दृष्टि से सब साधु समान ही हैं तथापि उनमें कोई सामायिक चरित्र वाला, कोई छेदोपस्थापनीय चरित्र वाला, कोई परिहार विशुद्धि चरित्र वाला, कोई सूक्ष्म सम्पराय चरित्र वाला और कोई–कोई यथाख्यात चरित्र वाला होता है। साधु के साथ सव्व (सर्व–सब) विशेषण लगा देने से इन सब की गणना हो जाती हैं। हमारे लिए सभी साधु वन्दनीय है, यह प्रकट करने के लिए 'सव्व' विशेषण लगाया गया है।

अथवा कोई छट्ठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त 'संयत साधु होते हैं और कोई सातवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान के अप्रमत्तसंयत साधु होते हैं। इन सब साधुओं में से कोई भी साधु न छूटने पावे सबका ग्रहण हो जाये, इस अभिप्राय से 'सव्व'विशेषण लगाया गया है।

अथवा मुनि (निर्ग्रन्थ) छः प्रकार के होते हैं। कोई पुलाक, कोई बकुश, कोई कषाय–कुशील, कोई प्रतिसेवना कुशील, कोई निर्ग्रन्थ और कोई स्नातक होते हैं यह सभी मुनि वन्दनीय हैं, इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए 'सव्व' विशेषण लगाया गया है।

अथवा साधुओ में कोई जिन कल्पी होते हैं, जो उत्सर्ग मार्ग पर चलते हुए वन में एकाकी विचरते हैं। कोई मुनि पडिमाधारी होते हैं। कोई यथालन्द कल्पी होते हैं, जो स्वयं ही लाकर आहार करते हैं। कोई कोई मुनि स्थविर

कल्पी होते हैं यह स्थविरकल्पी दस प्रकार के कल्प में स्थिर रहते हैं। कोई मुनि कल्पानीत होते हैं, जैसे तीर्थंकर और स्नातक नियंठा वाले मुनि। इनके लिए कोई कल्प नहीं है। यह अपने ज्ञान में देखकर जो उचित होता है, वही करते हैं। इन सब प्रकार के मुनियों को नमस्कार करने के लिए 'सव्व' विशेषण का प्रयोग किया जाता है।

अथवा—कोई साधु प्रत्यक्ष बुद्ध होते हैं, जिन्होंने किसी वस्तु को देखकर बोध प्राप्त किया हो। कोई स्वयंबुद्ध होते हैं जो परोपदेश आदि के बिना स्वयं ही बोध प्राप्त करते हैं। कोई मुनि बुद्धबोधित होते हैं, जो किसी ज्ञानी के उपदेश से बोध प्राप्त करते हैं। इन सब को नमस्कार करने के लिए 'सव्व' विशेषण लगाया गया है।

अथवा—केवल भरत क्षेत्र में स्थित साधु ही वन्दनीय नहीं है, किन्तु महाविदेह क्षेत्र, जम्बूद्वीप, घातकीखंड द्वीप आदि जिस किसी भी क्षेत्र में साधु विद्यमान हों, उन सब साधुमार्गी की साधना करने वालों को नमस्कार करने के उद्देश्य से 'सव्व'विशेषण प्रयोग किया गया है।

यह कहा जा सकता है कि चौथे आरे में जैसे साधु होते थे, वैसे आज—कल नहीं होते। फिर सब को अभिन्न भाव से नमस्कार करना कहां तक उचित कहा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि चौथे आरे में संहनन आदि की विशिष्टता से उग्र संयम के पालक जैसे साधु होते थे, वैसे कालदोष से विशिष्ट संहनन आदि की शिथिलता के कारण आज भले ही न हो, तथापि आज—कल के साधु भी, जो साधु पद की मर्यादा के अन्तर्गत हैं, उनमें भी साधुत्व का लक्षण पाया जाता है। अतः साधुत्व की दृष्टि से सब समान हैं। इसके अतिरिक्त अगर चौथे आरे के समान साधु आज'कल नहीं है तो चौथे आरे के समान वन्दना करने वाले श्रावक भी तो नहीं हैं।

प्राचीन काल में जो कार्य जिस प्रकार से होता था, आज—कल वह उस प्रकार नहीं होता। केवल इसी कारण प्रत्येक कार्य को निन्दनीय नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्येक कार्य पर समय का प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ गाय पहले जितना दूध देती थी, आज उतना दूध नहीं देती। फिर भी वह दूध तो देती ही है। उसका दूध उपयोग में आता ही है। गधी के दूध का तो उसके स्थान पर उपयोग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार संसार के पदार्थ पहले वाले नहीं हैं, फिर भी हैं तो वैसे ही। प्रत्येक बात का विचार करते समय काल का भी विचार करना चाहिए। अतएव देश—काल के अनुसार जो उत्तम ज्ञान, दर्शन और चरित्र धारण करते हैं, उन सब को नमस्कार करने के लिए 'सव्व' शब्द का उपयोग किया गया है।

साधुओं के साथ प्रयुक्त किया गया 'सर्व' विशेषण अत्यन्त गंभीर विचार का परिणाम है। गुणवान् मुनियों में से कोई भी शेष न रह जाये, यह सूचित करने के उद्देश्य से सव्व (सर्व) विशेषण लगाया गया है। कोई उत्तम रीति से ही साधुता पालन करता है, कोई मध्यम रूप से। परन्तु जो साधु धर्म की आराधना में तत्पर हैं वे सब साधु हैं। उन सब को यहां नमस्कार किया गया है।

शंका—अगर समस्त साधुओं का ग्रहण करने के लिए 'सव्व' विशेषण लगाया गया है तो समस्त अरिहन्तों का ग्रहण करने के लिए, सब सिद्धों का समावेश करने के लिए तथा समस्त आचार्यों और उपाध्यायों का ग्रहण करने के लिए पहले के चार पदों में 'सव्व' शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया गया है? सब अर्हन्त न एक ही देश में होते हैं, न एक ही काल में होते हैं। उनमें भी अनेक भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार सिद्ध आदि में भी भेद हो सकते हैं। फिर एक पद के साथ ही 'सव्व' विशेषण क्यों प्रयोग किया गया है?

समाधान—अन्त के पद में जो विशेषण लगाया गया है उसका संबंध सभी पदों के साथ किया जा सकता है। अतएव 'सर्व' विशेषण की अर्हन्त आदि पदों के साथ योजना कर लेना अनुचित नहीं है। क्योंकि न्याय सब के लिए समान है। ऐसी स्थिति में सब अर्हन्तों को, सब सिद्धों को, इस प्रकार प्रत्येक पद के साथ 'सर्व' का समन्वय किया जा सकता है। अरिहंत चाहे तीसरे आरे के हों, चाहे चौथे आरे के, चाहे भरत क्षेत्र वर्त्ती हों, चाहे विदेह क्षेत्र वर्त्ती हों, किसी भी काल के और किसी भी देश के क्यों न हों, बिना भेदभाव के सब नमस्कार करने योग्य हैं। इसी प्रकार सिद्ध चाहे स्वलिंग से हुए हों, चाहे अन्य लिंग से, चाहे तीर्थंकर होकर सिद्ध हुआ हो, चाहे तीर्थंकर हुए बिना सिद्ध हुए हों, सभी समान भाव से नमस्करणीय हैं।

अरिहन्त और सिद्ध की तरह आचार्य भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। अतः जिस पद में आचार्य को नमस्कार किया गया है, उस पद में भी 'सव्व विशेषण लगा लेना चाहिए। इसी प्रकार देश काल के भेद से तथा श्रुत सम्बन्धी योग्यता एवं क्षयोपशम के भेद से उपाध्यायों में भी अनेक विकल्प किये जा सकते हैं। उन सब उपाध्यायों का संग्रह करने के लिए उपाध्याय के चौथे पद में भी 'सव्व' विशेषण की योजना कर लेना असंगत नहीं है।

यहां तक 'सव्व' का अर्थ सर्व—सब मानकर संगति बिठलाई गई है। मगर 'सव्व' शब्द के और भी अनेक रूपान्तर होते हैं और उन रूपान्तरों का अर्थ भी पृथक्—पृथक् होता है।

'सव्व' का एक रूप होता है—सार्व। जो सब के लिए हितकारक हो वह 'सार्व' कहलाता है। यह 'सार्व' साधु का विशेषण है। तात्पर्य यह है कि समान भाव से सब का हित करने वाले साधुओं को नमस्कार हो। जैसे जल बिना किसी भेदभाव के सब की प्यास मिटाता है, सूर्य सबको प्रकाश देता है, वह राजा रंक का पक्षपात नहीं करता, इसी प्रकार सच्चा साधु सब का हितकारक होता है। सब का कल्याण करने वाला ही वास्तव में साधु कहलाता है। साधु की हित–कामना किसी सम्प्रदाय या वर्ग विशेष की सीमा में सीमित नहीं होनी चाहिए।

अथवा–'सव्वसाहूणं' पद में षष्ठी तत्पुरुष समास है। यहां सार्व शब्द से अरिहन्त भगवान् का ग्रहण किया गया है। अतएव तात्पर्य यह हुआ कि सब का कल्याण करने वाले सार्व अर्थात् अरिहंत भगवान् के साधुओं को नमस्कार हो। यों तो आचार्य और उपाध्याय आदि भी सब का कल्याण करने वाले हैं परन्तु वे छद्मस्थ होते हैं। अतः उनसे प्रकृतिजन्य किसी दोष का होना संभव है। अरिहंत भगवान् सर्वज्ञ और वीतराग हो चुके हैं। वे सब प्रकार की भ्रमणाओं से अतीत हो चुके हैं। अतएव वे निर्दोष रूप से सब का एकान्त हित करने वाले हैं। उन सर्वज्ञ और वीतराग भगवान् के अनुयायी साधुओं को ही नमस्कार किया गया है।

अथवा–'सव्वसाहूणं' का अर्थ है—सर्व प्रकार के शुभ योगों की साधना करने वाले। अर्थात् समस्त अप्रशस्त कार्यों को त्यागकर जो प्रशस्त कार्यों की साधना करते हैं, वे सर्व साधु कहलाते हैं।। इस व्याख्या से आचार्य ने यह सूचित कर दिया है कि अगर कभी किसी साधु में अशुभ योग आ जाये तो वह वन्दना करने योग्य नहीं है।

अथवा–'सार्व' अर्थात् अरिहंत भगवान् की साधना–आराधना करने वाले 'सार्वसाधु' कहलाते हैं। अथवा मिथ्या मतों का निराकरण करके सार्व अर्थात् अरिहंत भगवान् की प्रतिष्ठा करने वाले भी 'सार्वसाधु' कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो एकान्तवादी, मिथ्या मतों का खंडन करके भगवान् के शासन की प्रतिष्ठा करते हैं—स्थापना करते हैं, भगवान् के शासन को युक्ति, तर्क एवं प्रमाण के द्वारा सदृढ़ बनाते हैं, वह सार्वसाधु कहलाते हैं। यहां पर भी 'सार्व' शब्द से अरिहंत भगवान् का ही ग्रहण किया गया है।

अथवा प्राकृत भाषा के 'सव्व' का संस्कृत रूप 'श्रव्य' भी होता है और 'सव्य' भी होता है। 'श्रव्य' का अर्थ है श्रवण करने योग्य, और 'सव्य' का अर्थ है अनुकूल या अनुकूल कार्य। साधु शब्द का अर्थ है – कुशल। इस प्रकार

'सव्वसाहूणं' का अर्थ हुआ—सुनने योग्य वाक्यों को सुनने में जो कुशल है, जो न सुनने योग्य को नहीं सुनता है, वह 'श्रव्य—साधु' कहलाता है।

'सव्वसाहूणं' की संस्कृत छाया जब 'सव्यसाधुभ्य' की जाती है तब उसका अर्थ होता है कि जो अनुकूल कार्य करने में दक्ष हो ऐसे साधुओं को नमस्कार हो। यहां अनुकूल कार्य से ऐसे कार्य समझना चाहिए जो साधु संयम के पोषक हो —संयम से विपरीत न हो अथवा जिस उद्देश्य से उसने संयम धारण किया है, उस उद्देश्य मोक्ष के अनुकूल हों। ऐसा करने वाले साधुओं को नमस्कार हो।

कहीं—कहीं 'नमो लोए सव्वसाहूणं' और कहीं कहीं 'नमो सव्वसाहूणं' पाठ पाया जाता है। इस संबंध में टीकाकार ने कहा है कि 'सव्व' शब्द कहीं कहीं एक देश की सम्पूर्णता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मान लीजिए भोज के अवसर पर किसी ने कहा—'सब मनुष्य आ गये हैं।' यहां 'सब' शब्द का अर्थ क्या लिया जा सकता है? सब मनुष्य दिल्ली के, भारतवर्ष के या विश्वभर के समझे जाएं? अथवा भोज में निमंत्रित सब व्यक्ति लिए जाएं। निस्संदेह ऐसे अवसर पर 'सब' का अर्थ 'सब' निमंत्रित मनुष्य समझना होगा। यद्यपि निमंत्रित मनुष्य थोड़े से ही होते हैं फिर भी उनके लिए 'सब' शब्द एक देश की सम्पूर्णता को भी प्रकट करता है। ऐसी स्थिति में 'सव्व साहू' सिर्फ इतना कहने से यह स्पष्ट नहीं होता है कि किसी एक प्रकार के सब साधु, किसी एक देश के सब साधु अथवा किसी एक ही काल में सब साधु यहां ग्रहण किये गये हैं या सभी प्रकारों के, सभी देशों के और सभी कालों के साब साध ु यहां ग्रहण किये गये हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहां 'लोए' शब्द का प्रयोग किया गया है। लोए अर्थात् लोक विद्यमान सभी साधुओं को नमस्कार हो।

'लोए' शब्द लगा देने पर भी आखिर प्रश्न खड़ा रहता है कि 'लोक' शब्द से यहां कौनसा लोक समझा जाये? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधु अढ़ाई द्वीप रूप मनुष्य लोक में ही हो सकते हैं, अतएव लोक शब्द से मनुष्य लोक का ही अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार 'नमो लोए सव्वसाहूणं' का अर्थ होता है—'मनुष्य लोक में विद्यमान सब साधुओं को नमस्कार हो।'

'लोक' शब्द का प्रयोग करने से सारे मनुष्य लोक के साधुओं का समावेश हो गया। किसी गच्छ या सम्प्रदाय विशेष की संकुचितता के लिए विकास नहीं रहा। साधु किसी भी गच्छ का हो, जिसमें ऊपर बतलाये हुए गुण विद्यमान है, वन्दनीय है। जिन्होंने अज्ञान—अंधकार को दूर करके ज्ञान

का लोकोत्तर आलोक प्रदान किया है, जिन्होंने कुपथ से निवृत्त करके सुपथ पर लगाया है, जिन्होंने जीवन के महान् साध्य को समीप बनाने में अनुपम सहायता दी है, जिनके परम अनुग्रह से आत्मा-अनात्मा का विवेक जागृत हुआ है, उन साधुओं का उपकार अवश्यमेव स्वीकार करना चाहिए। सच्चे गुरु संकीर्णता एवं कदाग्रह मिटाना सिखाते हैं, संकुचित वृत्ति रखना नहीं सिखाते। सच्चे धर्मगुरु वही है जो खोटी संकीर्णता से निकाल कर विशालता में जाने का उपदेश देते हैं।

साधु को नमस्कार करने से क्या लाभ है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आचार्य ने कहा है—मानव का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्ष ही मनुष्य की परम साधन का ध्येय है। इस परम पुरुषार्थ की साधना में सहायता देने वाला साधु के सिवाय और कौन है? अरिहंत तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं, जो सब समयों में नहीं होते—विशेष समय पर ही होते हैं और आचार्य उतने ही होते हैं जितने गच्छ होते हैं। अतएव अरिहंत और आचार्य की सत्संगति का लाभ, सब को सब समयों पर नहीं हो सकता। साधु के साथ सब का समागम हो सकता है और वे मोक्ष की साधना का उपदेश भी देते हैं।

बादशाह एक ही होता है और प्रायः उसके राज्य के प्रान्तों की संख्या के अनुसार गवर्नरों की संख्या होती है। अतएव बादशाह और गवर्नर से सब की भेंट नहीं हो सकती। हां, उनके कर्मचारियों से सब की भेंट हो सकती है। अरिहंत को बादशाह, आचार्य को गवर्नर और साधुओं को कर्मचारी समझना चाहिए।

टीकाकार लिखते हैं कि साधु किस प्रकार मोक्ष में सहायक होते हैं, यह बात प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार बतलाई है—

असहाए सहायत्तं, करेंति में संजमें करेंतरस।
एएण कारणेंणं, णमामि हं सव्वसाहूणं।।

अर्थात्—संयम धारण करने वाला जो असहाय होता है, उसके सहायक साधु ही होते हैं। साधु ही निराधार के आधार हैं और असहाय के सहायक हैं। इस कारण ऐसे महात्माओं को मैं नमस्कार करता हूं।

प्रस्तुत शास्त्र के प्रथम मंगलाचरण के पांच पदों का यह विवेचन यहां समाप्त होता है। अब इसी संबंध की अन्यान्य बातों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा है।

कतिपय शंका—समाधान

शंका—प्रस्तुत मंगलाचरण में पांच पदों को जो नमस्कार किया गया है सो यह संक्षेप में है, यदि ऐसा कहा जाये तो पांच पदों की क्या आवश्यकता थी? संक्षेप में दो पद ही पर्याप्त थे।

अर्थात्—

नमो सव्वसिद्धाणं। नमो सव्वसाहूणं।

इन दो पदों में पांचो परमेष्ठी अन्तर्गत हो सकते थे, क्योंकि साधु में अर्हन्त, आचार्य और उपाध्याय सभी का समावेश हो जाता है। मंत्र यथासंभव थोड़े ही अक्षरों में होना चाहिए। फिर यहां पर तो उसे संक्षेप रूप ही स्वीकार किया गया है। थोड़े अक्षर होने से प्रथम तो मंत्र जल्दी याद हो जाता है, दूसरे याद भी बना रहता है। कष्ट आने पर लम्बे—चौड़े मंत्र जाप करना कठिन हो जाता है। थोड़े अक्षरों के मंत्र का सरलता से ध्यान किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में पांच पद क्यों बनाये गये हैं?

अगर यह कहा जाये कि विस्तार से नमस्कार किया गया है तो फिर पांच ही पद क्यों बनाये गये हैं? अधिक क्यों नहीं बनाये गये। विस्तार की गुंजाइश तो थी ही। जैसे अरिहन्त, सिद्ध आदि को समुच्चय रूप में, पृथक्—पृथक् नमस्कार किया है, उसी तरह उनका पृथक्—पृथक् नाम लेकर नमस्कार किया जा सकता था। 'णमो उसहस्स' 'णमो अजिअस्स' इस प्रकार विस्तार के साथ नमस्कार करने में क्या हानि थी?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि यहां न तो एकान्त संक्षेप से नमस्कार किया गया है और न एकान्त विस्तार से ही। यहां मध्यम मार्ग स्वीकार किया गया है। जितने में बांध भी हो जाये और नमस्कार करने वाले को अधिक भी न जान पड़े, ऐसी पद्धति का यहां अवलम्बन लिया गया है।

अगर शंकाकार के कथनानुसार विस्तार से नमस्कार किया जाये तो सम्पूर्ण आयु समाप्त हो जाने पर भी नमस्कार की क्रिया समाप्त न हो पायेगी, क्योंकि सिद्ध अनन्तानन्त हैं वे सभी अरिहंत भी हुए हैं। अतएव एकान्त विस्तार से नमस्कार करना संभव नहीं है।

अगर एकान्त संक्षेप पद्धति का आश्रय लिया जाता तो परमेष्ठियों का पृथक—पृथक् स्वरूप समझने में कठिनाई होती। फिर आचार्य, उपाध्याय, साधु और अरिहन्त के स्वरूप में जो भिन्नता है वह स्पष्ट न होती। अतएव मध्यम मार्ग को अंगीकार करना ही उचित है।

अगर यह कहा जाये कि इस प्रकार पृथक्—पृथक नमस्कार करने से क्या बोध होता है ? तो इसका उत्तर यह कि अरिहंत भगवान् को नमस्कार

करने के फल के बराबर साधु को नमस्कार करने का फल नहीं होता है। अरिहंत को नमस्कार करने का उत्कृष्ट फल होता है। जैसे मनुष्य मात्र में राजा भी सम्मिलित है, परन्तु सामान्य मनुष्य को नमस्कार करने से, राजा को नमस्कार करने का फल नहीं मिलता। अरिहंत भगवान् राजा के समान हैं और साधु उनकी परिषद् के सदस्य हैं। इस कारण 'नमो अरिहंताणं' पद न रख कर यदि 'नमो सव्वसाहूणं' पद ही रक्खा जाता तो अरिहंत भगवान् को नमस्कार करने के उत्कृष्ट फल की प्राप्ति न होती। अतएव अरिहंतों को और साधुओं को अलग–अलग नमस्कार किया गया है।

शंका–अरिहंतों की अपेक्षा सिद्धों की आत्मविशुद्धि अधिक है। अरिहंत सिर्फ चार धाति–कर्मों का क्षय करते हैं और सिद्ध आठ ही कर्मों का। अरिहंत सशरीर होते हैं सिद्ध अशरीर। इस प्रकार अरिहंत की अपेक्षा सिद्ध का पद उच्चतर है। फिर यहां नमस्कार मंत्र में प्रथम अरिहंतों को और उसके पश्चात् सिद्धों को नमस्कार क्यों किया गया है?

समाधान–यह सत्य है कि अरिहंतों की अपेक्षा सिद्धों की आत्मिक विशुद्धता उच्च श्रेणी की होती है, अगर सिद्ध संसार से अतीत, अशरीर, इन्द्रिय–अगोचर हैं। उनके स्वरूप का ज्ञान हमें कैसे हुआ? हमें सिद्धों का अस्तित्व किसने बताया है? अरिहंतों को पहचानने से ही हम सिद्धों को पहचान सकते हैं; तथा अरिहंत भगवान् ही सिद्धों की सत्ता प्रकट करते हैं। अतएव सिद्धों के स्वरूप का ज्ञान अरिहंतों के अधीन होने से अरिहंत भगवान् प्रधान कहलाते हैं। वे आसन्न उपकारक होने के कारण भी प्रधान हैं।

इसके अतिरिक्त जब धर्म–तीर्थ का विच्छेद हो जाता है तब अरिहंत तीर्थंकर ही तीर्थ की स्थापना करते हैं। वही महापुरुष हमें सिद्ध बनने का मार्ग बतलाते हैं। इस प्रकार हमारे ऊपर अरिहंतों का विशिष्ट उपकार होने के कारण पहले अरिहंतों को ही नमस्कार किया जाता है।

शंका–अगर उपकारी को प्रथम नमस्कार करना उचित है तो सबसे पहले आचार्य को नमस्कार करना चाहिए, फिर अरिहंत को। क्योंकि अरिहंत भगवान् की पहचान आचार्यों ने ही हमें कराई है। यहां ऐसा क्यों नहीं किया गया?

समाधान–इस शंका का समाधान यह है कि आचार्य स्वतंत्रभाव से अर्थ का निरूपण नहीं कर सकते। अरिहंत भगवान् द्वारा उपदिष्ट अर्थ का निरूपण करना ही आचार्य का कर्त्तव्य है। अपनी कल्पना से ही वस्तु का विवेचन करने वाला आचार्य नहीं कहला सकता। आचार्य अरिहंतों के कथन का शिष्यों की योग्यता के अनुसार संक्षेप या विस्तार करके प्ररूपणा करते हैं।

इसके विरुद्ध अरिहन्त भगवान् सर्वज्ञ होने के कारण स्वतंत्र भाव से उपदेश देते हैं। उनका उपदेश मौलिक होता है और आचार्य का उपदेश अनुवाद रूप होता है। इस कारण आचार्य को प्रथम नमस्कार न करके अरिहन्त को ही पहले नमस्कार किया गया है।

अथवा–आचार्य, उपाध्याय और साधु अरिहंत भगवान् की परिषद् को नमस्कार नहीं किया जाता है। अतएव पहले अरिहंत भगवान् को नमस्कार किया गया है।

द्वितीय मंगलाचरण का विवेचन

श्री भगवती सूत्र के प्रथम मंगलाचरण नमस्कार मंत्र का विवेचन किया जा चुका है। शास्त्रकार ने दूसरा मंगलाचरण इस प्रकार किया है–

नमो बंभीए लिवीए।

अर्थात् – ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

टीकाकार ने बतलाया है कि यह मंगलाचरण आधुनिक लोगों की दृष्टि से है, प्राचीनकाल वालों के लिए नहीं। क्योंकि इन आगे वाले दोनों मंगलों के संबंध में टीकाकार लिखते हैं कि जब साक्षात् केवली भगवान् नहीं होते तब श्रुत ही उपकारी होता है।

श्रुत के दो भेद हैं– द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत। अक्षर विन्यास रूप अर्थात् लिपिबद्ध श्रुत द्रव्य श्रुत कहलाता है। इसीलिए यहां कहा गया है–'नमो बंभीए लिविए' अर्थात् ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

लिपि का अर्थ क्या है? इस संबंध में आचार्य कहते हैं कि पुस्तक आदि में लिखे जाने वाले अक्षरों का समूह लिपि कहलाता है।

लिपि कहने से कौन–सी लिपि समझनी चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि नाभितनय भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से जो लिपि सिखाई वह ब्राह्मी लिपि कहलाती है। यहां उसी लिपि का अर्थ समझना चाहिए। इस विषय में प्रमाण उपस्थित करते हुए कहा गया है–

लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिणकरेणं।

अर्थात्–जिनेन्द्र भगवान्–ऋषभदेव ने लेख रूप लिपि का विधान दाहिने हाथ से ब्राह्मी को बतलाया, सिखाया। इसी कारण वह लिपि ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस पद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लिपि स्थापना रूप है। यहां अक्षर रूप स्थापना को गणधरों ने भी नमस्कार किया है, फिर आप स्थापना को नमस्कार क्यों नहीं करते ? अगर स्थापना रूप अक्षरों को नमस्कार किया जाता है तो फिर मूर्त्ति को नमस्कार करने में क्या आपत्ति है?

इस प्रश्न का समाधान करने से पहले एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह यह है कि टीकाकार आचार्य पहले कह चुके हैं कि द्रव्य मंगल एकान्त एवं आत्यन्तिक मंगल नहीं है। अतएव द्रव्यमंगल का परित्याग कर भावमंगल को जो एकान्त मंगल रूप है, ग्रहण करते है। इस कथन के अनुसार भावमंगल किया भी जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि जिन्होंने द्रव्य का त्याग किया वह स्थापना पर कैसे आ गये? जब द्रव्यमंगल ही एकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल नहीं है तो स्थापना एकान्त मंगल रूप कैसे है।

जिस शास्त्र में द्रव्य मंगल को त्यागने की बात लिखी है उसी में लिपि को नमस्कार करने की बात भी लिखी है। यह दोनों लेख परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। अगर शास्त्र में परस्पर विरोधी विधान नहीं हो सकते तो विचारना चाहिए कि यहां आशय क्या है? इन लेखों में क्या रहस्य छिपा है?

गणधरों ने लिपि को नमस्कार किया है। यह कथन समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि गणधरों ने सूत्र को लिपिबद्ध नहीं किया है। जब उन्होंने सूत्रों को लिखा ही नहीं तब वह लिपि को नमस्कार क्यों करेंगे? इस विषय में टीकाकार भी मध्यस्थ भाव से स्पष्ट कहते हैं कि लिपि के लिए किया गया यह नमस्कार इस काल के जन्मे हुए लोगों के लिए है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि गणधरों ने लिपि को नमस्कार नहीं किया है। किन्तु सूत्र के लिखने वाले किसी परम्परा के अनुयायी ने लिपि को नमस्कार किया है।

पहले समय में सूत्र लिखे नहीं जाते थे। वरन कण्ठस्थ किये जाते थे। गुरु के मुख से सुनकर शिष्य सूत्रों को याद कर लेता था और वह शिष्य फिर अपने शिष्यों को कण्ठस्थ करा देता था। इसी कारण शास्त्र का 'श्रुत' नाम सार्थक होता है। प्राचीन काल में कंठस्थ कर लेने की मेघा शक्ति प्रबल होती थी, वे प्रमादी नहीं थे अथवा आरंभ का विचार करके सूत्र लिखने की परम्परा नहीं चली थी। जब लोग प्रमादी होकर श्रुत को भूलने लगे, तब आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने वीरनिर्वाण संवत् 980 में सूत्रों को लिपिबद्ध करवाया।

इससे स्पष्ट है कि पहले जैन शास्त्र लिखे नहीं जाते थे। जब शास्त्र लिखे ही नहीं जाते थे, सूत्र लिपि रूप में आये ही नहीं थे, तब लिपि को

नमस्कार करने की बात किस प्रकार संगत मानी जा सकती है? अतएव यह कथन भी सत्य नहीं है कि गणधरों ने लिपि को नमस्कार किया है।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि गणधरों ने सूत्र नहीं लिखे तो क्या हुआ? लिपि तो गणधरों के समय में भी विद्यमान थी। जब लिपि उस समय प्रचलित थी तो उसे नमस्कार किया हो, यह संभव क्यों नहीं है?

यह आशंका ठीक नहीं है। जो लोग स्थापना को नमस्कार करते हैं वे भी उसी स्थापना को नमस्कार करते हैं जिसमें नमस्करणीय–पूज्य की स्थापना की गई है। मात्र स्थापना स्वतः पूज्य है, ऐसा कोई भी नहीं मानता। ऐसी स्थिति में लिपि रूप स्थापना में, जब नमस्करणीय श्रुत लिखा नहीं गया था तब किसको उद्देश्य करके लिपि को नमस्कार किया गया होगा? तात्पर्य यह है कि जैसे मूर्तिपूजक भाई मूर्ति को नमस्कार करते हैं जो मूर्ति के ही उद्देश्य से नहीं वरन् वह मूर्ति जिसकी है उसे उद्देश्य करके नमस्कार करते हैं। अगर मूर्ति के ही उद्देश्य से नमस्कार करें तब तो संसार की समस्त मूर्तियों को फिर वह किसी की ही क्यों न हों, नमस्कार करना होगा। इसी प्रकार लिपि स्थापना रूप है। स्थापना वादियों के लिए भी वह स्वयं तो नमस्कार करने योग्य है नहीं, श्रुत को उद्देश्य करके ही वे उसे नमस्कार कर सकते थे, पर उस समय श्रुत लिपिबद्ध ही नहीं था। ऐसी स्थिति में लिपि को नमस्कार करने का उद्देश्य क्या हो सकता है? अगर लिपि स्वयमेव नमस्कार करने योग्य मानी जाये तो प्रत्येक लिपि नमस्कार करने योग्य माननी होगी। लिपि अठारह प्रकार की है। उस में लाट लिपि है, तुर्की लिपि है, यवन लिपि है और राक्षसी लिपि भी है। यदि गणधरों ने लिपि को ही नमस्कार किया है, ऐसा माना जाये तो यह भी मानना पड़ेगा कि तुर्की एवं यवन लिपि भी नमस्कार करने योग्य हैं। इन लिपियों को नमस्कार करने योग्य मान लिया जाये तो यवन आदि के देवों को भी नमस्कार करने योग्य मानना पड़ेगा।

तात्पर्य यह है कि गणधरों ने लिपि को नमस्कार नहीं किया है, क्योंकि लिपि को नमस्कार करने का निमित्त श्रुत उस समय लिपि रूप में नहीं था। श्रुत के लिपिबद्ध हो जाने के पश्चात् अर्थात् वीर निर्वाण से 980 वर्ष के अनन्तर, आधुनिक लोगों की दृष्टि से ही किसी ने यहां लिपि को नमस्कार किया है। टीकाकार ने भी यह लिखा है कि आधुनिक मनुष्यों के लिए श्रुत उपकारी है, इसलिए लिपि को नमस्कार किया है।

शब्द नय के विचार के अनुसार शब्द और उसका कर्ता एक हो जाता है। ब्राह्मी लिपि भगवान् ऋषभदेव ने सिखाई है, अतः ब्राह्मी लिपि को

नमस्कार करना अभेदविवक्षा से भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार करना है, क्योंकि वह उस लिपि के कर्ता हैं। जैसे शब्द नय के अनुसार पाहली बनाने वाले का जो उपयोग वही पाहली है। इस प्रकार लिपि को नमस्कार द्वारा भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया गया है। अगर लिपि को नमस्कार करने का अर्थ अक्षरों को नमस्कार करना लिया जायेगा तो अतिव्याप्ति दोष होगा।

शास्त्र की मांगलिकता

प्रकृत शास्त्र की आदि में नमस्कार मंत्र द्वारा और ब्राह्मी लिपि द्वारा जो मंगल किया गया है, उसके संबंध में यह आशंका हो सकती है कि शास्त्र के लिये जो मंगल किया गया है उससे प्रकट है कि यह भगवती सूत्र स्वयं मंगल रूप नहीं है। क्योंकि जो स्वयं मंगल रूप न हो उसी को मंगल रूप बनाने के लिए मंगल किया जाता है। जो स्वयं ही मंगल रूप हो उसके लिए मंगल की क्या आवश्यकता है? संसार में भी सफेद को सफेद और चिकने को चिकना करना व्यर्थ माना जाता है। किये को करने से लाभ ही क्या है? अतएव यदि भगवती सूत्र मंगलरूप है तो इसके लिए मंगल करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु यहां मंगल किया गया है अतएव यह साबित होता है कि प्रस्तुत शास्त्र मंगल रूप नहीं है।

कदाचित शास्त्र को मंगल रूप माना जाये और फिर भी उसके लिए पृथक मंगल किया जाये–अर्थात् यह कहा जाये कि शास्त्र स्वयं मंगलमय है फिर भी शास्त्र के लिए मंगल किया गया है, तो अनवस्था दोष आता है।

अप्रमाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना करते–करते कहीं अन्त न आने को अनवस्था दोष कहते हैं। यहां यही दोष आता है। शास्त्र स्वयं मंगल है, फिर भी उसे मंगल ठहराने के लिए अलग दूसरा मंगल किया गया है, तो वह दूसरा मंगल स्वय मंगल रूप है फिर भी उसे मंगल ठहराने के लिए तीसरा मंगल करना चाहिए। तीसरे मंगल को मंगल रूप ठहराने के लिए चौथा और चौथे को मंगल रूप ठहराने के लिए पांचवां करना पड़ेगा। इस प्रकार अनन्त मंगलों की कल्पना करते–करते कहीं अन्त न आवेगा और प्रकृत शास्त्र के आरंभ होने का अवसर भी न आ सकेगा।

कदाचित् मंगल करने वाला ऐसा मानता हो कि शास्त्र के लिए जो मंगल किया गया है, उस मंगल को मंगल रूप ठहराने के लिए फिर दूसरा मंगल नहीं किया है, इस कारण अनवस्था दोष नहीं आता। ऐसा मानने पर अन्य दोष आते हैं। जैसे शास्त्र को मांगलिक बनाने के लिए अलग मंगल

किया, किन्तु अनवस्था दोष के भय से मंगल को मांगलिक बनाने के लिए दूसरा मंगल नहीं किया तो जैसे मंगल रूप शास्त्र पृथक् मंगल के बिना अमंगल रूप गिना जाता है उसी प्रकार शास्त्र के लिए किया हुआ मंगल भी पृथक् मंगल के अभाव में अमंगल रूप ठहरता है। तात्पर्य यह है कि अनवस्था दोष स्वीकार न करने पर भी न्याय की समानता को देखते हुए यह बात तो माननी ही होगी कि जैसे मंगल रूप शास्त्र भी बिना मंगल के मंगल रूप नहीं बनता, उसी प्रकार शास्त्र को मंगल रूप बनाने के लिए किया हुआ मंगल भी दूसरे मंगल के अभाव में मंगल रूप नहीं हो सकेगा। जब मंगल स्वयं अमंगल रूप होगा तो उससे शास्त्र मंगल रूप कैसे बन सकता है?

कदाचित् शास्त्र को मंगल रूप माना जाये और शास्त्र के लिए किये हुए मंगल को भी बिना अन्य मंगल के–मंगल माना जाये अर्थात् शास्त्र को और शास्त्र के लिए किये गये मंगल को समान रूप से मंगल रूप माना जाये तो फिर मंगलाभाव दोष आता है। क्योंकि आप यह स्वीकार करते कि शास्त्रमंगल दूसरे मंगल के बिना मंगल रूप नहीं होता। जब शास्त्र मंगल दूसरे मंगल के बिना मंगल रूप नहीं होता तो यह दूसरा मंगल भी तीसरे मंगल के बिना मंगलरूप कैसे होगा? जब तीसरे मंगल के अभाव में दूसरा मंगल, अमंगलरूप है, तो शास्त्रमंगल भी अमंगलरूप ही सिद्ध होगा। इस प्रकार स्पष्ट रूप से अमंगल दोष होता है।

इस तर्क का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि शास्त्र स्वतः मंगल स्वरूप है, फिर भी उसके लिए जो मंगल किया गया है सो इसलिए कि शिष्यों की बुद्धि में मंगल का ग्रहण हो जाये। शिष्यगण शास्त्र को मंगल रूप समझ सकें, इस उद्देश्य से यहां मंगल किया गया है। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ पुरुषों के आचार की परिपाटी का पालन करने के लिए भी मंगलाचरण किया जाता है। अतएव न तो यहां अनवस्था दोष के लिए अवकाश है, न अमंगल आदि अन्य किसी दोष के लिए।

शास्त्र के आरंभ में चार बातें बताने की प्रतिज्ञा की गई थी–(1) मंगल (2)अभिधेय (3) फल (4) एवं संबंध। इनमें से मंगल का निरूपण किया जा चुका है और शास्त्र के विभिन्न नामों का निर्देश करके शास्त्र अभिधेय भी बतलाया जा चुका है। अर्थात् पहले इस शास्त्र के विवाहपण्णत्ति, विआहपण्णति, भगवती आदि नामों का वर्णन किया गया है सो उन्हीं नामों से यह प्रकट हो जाता है कि प्रकृत सूत्र का अभिधेय क्या है किस विषय का इस शास्त्र में वर्णन किया गया है। फल और सम्बन्ध यह दो बातें शेष रहती है।

इस शास्त्र का फल क्या है। इसके अध्ययन अध्यापन से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? इस प्रश्न का समाधान शास्त्र के नाम से ही हो जाता है। जिसका नाम 'अमृत' है, उसका फल मृत्यु तो हो नहीं सकता। इसी प्रकार प्रस्तुत शास्त्र के नाम से ही फल का ज्ञान हो जाता है। नाम से फल का ज्ञान किस प्रकार होता है, यह आगे बतलाया जाता है।

फल दो प्रकार का होता है (1) अनन्तर (साक्षात्) फल और (2) परम्परा फल। इस शास्त्र में श्री गोतम स्वामी आदि के द्वारा पूछे हुए विविध अर्थों की व्याख्या की गई है। यह व्याख्या ही इस शास्त्र का अभिधेय है। अभिधेय संबंधी अज्ञान दूर होकर उसका ज्ञान हो जाना ही इस शास्त्र का साक्षात्–फल है। अर्थात् शास्त्र में जिन–जिन बातों का वर्णन किया गया है, उन बातों का ज्ञान हो जाना इस शास्त्र के अध्ययन का साक्षात् फल है। शास्त्र के अध्ययन से जो साक्षात् फल अर्थात् ज्ञान प्राप्त होता है उस ज्ञान का फल परम्परा में मोक्ष है। अतएव इस शास्त्र का परम्परा फल मोक्ष है।

जिस बीज का अंकुर भी प्यारा लगता है, वह बीज यदि अच्छी भूमि में बोया जायेगा तो परम्परा से वह मधुर फल देगा। इसी प्रकार इस ज्ञान को निर्मल अन्तःकरण में बोने से, परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस शास्त्र का परम्परा फल मोक्ष ही क्यों बतलाया गया है? धन आदि सांसारिक वैभव परम्परा फल क्यों नहीं हैं? इसका उत्तर यह है कि सूत्र आप्त के वचन हैं। जो सर्वज्ञ और यथार्थ वक्ता होता है वही आप्त कहलाता है। आप्त उसी समय होता है जब मोक्ष के विषय में मोक्ष को लक्ष्य करके ही उपदेश होता है। क्योंकि मोक्ष ही सच्चा सुख है, मोक्ष ही आत्मा का असली वैभव है। धन आदि अज्ञान के कारण सुख रूप प्रतीत होते हैं, वस्तुतः वे दुःख के कारण हैं। जो सुख पर द्रव्याश्रित होता है वह सुख नहीं, सुखाभास है; क्योंकि पर द्रव्य का संयोग अनित्य है। सच्चे आप्त जगत् के जन्म, जरा, मरण से आर्त्त प्राणियों को सच्चे सुख का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। अतः उनके द्वारा प्ररूपित आगम का परम्परा फल सांसारिक वैभव नहीं वरन् मोक्ष ही होता है। सांसारिक वैभव मोक्ष की तुलना में इतना तुच्छ है कि अगर उसकी प्राप्ति हो भी, तब भी वह किसी गिनती में नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि शास्त्र में स्वर्ग–नरक का भी वर्णन है। स्वर्ग–नरक के भेद आदि का भी वर्णन है। अगर आप मोक्ष के अतिरिक्त स्वर्ग आदि का भी उपदेश नहीं देते तो स्वर्ग आदि के वर्णन की क्या आवश्यकता थी?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वर्ग–नरक आदि का वर्णन पुण्य और पाप का फल बतलाने के लिए किया गया है। पुण्य–पाप का फल बतलाकर अन्त में दोनों से अतीत होने का ही उपदेश दिया है। इस प्रकार मोक्ष का विवेचन करने के लिए ही स्वर्ग आदि का वर्णन शास्त्र में पाया जाता है।

कुछ लोगों को यह पेशोपेश होता है कि स्वर्ग और नरक हमें दिखाई नहीं देता, तब उन पर विश्वास किस प्रकार किया जाये? यही बात अहमदनगर के एक वकील ने मुझसे इस प्रकार पूछी थी–'अगर हम स्वर्ग, नरक को स्वीकार न करें तो क्या हानि है?

मैंने कहा–अगर स्वर्ग–नरक स्वीकार कर लें तो क्या हानि है?

वकील बोले–'हमने देखे नहीं, इसी से स्वीकार करने में संकोच होता है?

मैंने पूछा–'स्वर्ग–नरक नहीं हैं, यह तो आपने देख लिया है?'

वकील–'नहीं।'

मैं–फिर आपकी बात सही और उन सर्वज्ञ–ज्ञानियों की बात झूठी, यह क्यों? ज्ञानियों को झूठा बनाने का दोष तुम्हें लगता है या नहीं?

तात्पर्य यह है कि ज्ञानियों के वचन पर प्रतीति करके कोई हानि नहीं उठा सकता। कदाचित् ज्ञानी स्वर्ग–नरक का स्वरूप बतलाकर किसी प्रकार का प्रलोभन देते, तब तो उनके वचन पर अप्रतीति करने का कारण मिल सकता था, मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया है। उन्होंने पुण्य–पाप का फल बतलाते हुए स्वर्ग–नरक के स्वरूप का दिग्दर्शन करा दिया है और दोनों से परे हो जाने का उपदेश दिया है। मान लीजिए, एक जौहरी ने धोखे में आकर खोटा नग खरीद लिया, तत्पश्चात् उसे अपनी भूल मालूम हुई। वह जौहरी सरल भाव से दूसरे जौहरियों को वो खोटा नग बतलाकर कहता है कि 'देखिए' इस रूप रंग का नग भी खोटा होता है। आप लोग सावधान रहें। क्या इस प्रकार सावधान करने वाला जौहरी अविश्वास के योग्य है? नहीं। अगर जौहरी अपने खोटे नग को सच्चे नग के भाव में बेचने का प्रयत्न करता है तो अवश्य दोष का पात्र है, मगर नहीं खरीदने के लिए सावधान करने वाला जौहरी जरूर विश्वास का भाजन है। इसी प्रकार ज्ञानियों ने स्वर्ग–नरक बताकर उनके लिए लालच दिया होता तो कदाचित् उन पर अविश्वास भी किया जाता, मगर उन्होंने तो दोनों को त्यागने का ही उपदेश दिया है। ज्ञानीजन स्पष्ट स्वर में कहते हैं कि–पुण्य, ऋद्धि, सुख आदि में मत भूलना। यह सब झूठा है। मृग–तृष्णा है। मोह है। सच्चा सुख मोक्ष में ही है। उसी का साधन करने में कल्याण है।

जब ज्ञानियों ने इस प्रकार कहकर हमें सावचेत किया है, तब उनके वचनों पर अविश्वास करने का कोई भी कारण नहीं रहता।

यहां तेरापंथी भाई प्रश्न कर सकते हैं कि हम लोग पुण्य और पाप दोनों का ही त्याग करते हैं, तो उसमें क्या हर्ज है? ऐसा कहने वालों को यह विचारना चाहिए कि पहले शुभ का त्याग करना उचित है या अशुभ का? जब शुभ और अशुभ दोनों का एक साथ त्याग होना सम्भव नहीं है, तब पहले अशुभ को त्यागना ही उचित कहा जा सकता है। अशुभ पाप को न त्याग करके शुभ पुण्य का त्याग कर देना उचित नहीं है।

उदाहरण के लिए –एक मनुष्य अपनी भुजाओं के बल से नदी पार करना चाहता है। पर भुजाओं के बल से वह नदी पार नहीं कर सकता। इस कारण उसने नाव का आश्रय लिया। किनारे पहुंचकर उसे नाव त्यागनी ही पड़ेगी। नाव त्यागे बिना वह इच्छित स्थान पर नहीं पहुंच सकता। लेकिन वह मनुष्य अगर यह सोचता है कि जब पहले पार पहुंचकर नौका त्यागनी ही पड़ेगी तो पहले से ही उसे क्यों ग्रहण करूं? ऐसा सोचकर वह नदी के प्रबल प्रवाह में कूद पड़ता है तो क्या वह विवेकशील कहलाएगा? इस अविवेक का फल आत्महनन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

रेल पर आरूढ़ होकर लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं; परन्तु इच्छित स्टेशन के आने पर रेल को त्याग देते हैं या नहीं? अगर न त्यागें तो कहीं के कहीं जा पहुंचेंगे। इस प्रकार बहुत दूर के सफर के लिए रेल का सहारा लेना आवश्यक समझा जाता है और फिर उसका त्यागना भी आवश्यक समझा जाता है। बिना त्यागे अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सकते।

इसी प्रकार पाप का नाश करने के लिए पहले पुण्य का आश्रय लिया जाता है और जब पाप का नाश हो जाता है तब पुण्य भी त्याज्य हो जाता है। दोनों का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष मिलता है। पुण्य तभी उपादेय माना गया है जब मोक्ष की साक्षात् साधना न हो सके, मगर अन्तिम कक्षा तक पुण्य में ही पड़े रहने का उपदेश नहीं दिया गया है।

इस प्रकार भगवती सूत्र के सुनने के दो भेद हैं। अज्ञान मिट जाना साक्षात् फल है और मोक्ष प्राप्ति होना परम्परा फल है। इस प्रकार फल का विवेचन हुआ।

अब शेष रहा सम्बन्ध। सो 'इस शास्त्र का प्रयोजन यह है' यही सम्बन्ध है अथवा यों समझना चाहिए कि प्रकृत शास्त्र में जिन अर्थों की

व्याख्या की गई है वह अर्थ वाच्य है और शास्त्र उनका वाचक है। इस प्रकार वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध भी यहां विद्यमान है।

सूत्र के आरम्भ में आचार्य ने चार बातें बताने की प्रतिज्ञा की थी। वह चारों बातें बतला दी गई हैं। इसके अनन्तर आचार्य कहते हैं कि– इस शास्त्र में सौ से भी अधिक अध्याय हैं। अध्याय कहिए या शतक कहिए, एक ही बात है। अन्य शास्त्रों के विभाग अध्ययन या अध्याय कहलाते हैं; इस शास्त्र के शतक कहलाते हैं। इस शास्त्र में दस हजार उद्देशक हैं। इस में छत्तीस हजार प्रश्न और दो लाख अट्ठासी हजार पद हैं।

यद्यपि शास्त्र का यह परिणाम शास्त्र में ही उपलब्ध होता है, फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि यह परिणाम उस समय का है, जब भगवान ने उसका उपदेश दिया था। उस समय उस शास्त्र के उतने ही उद्देशक और पद थे। किन्तु जब यह लिपिबद्ध हुआ तब का परिणाम निराला है।

प्रत्येक अध्याय–शतक को सरलता से समझने के लिए और सुख–पूर्वक धारण करने के लिए विभक्त करके उद्देशकों में बांट दिया गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य जब शास्त्र पढ़ाते थे तक उपधान अर्थात् तप कराते थे। यह प्रथा अब भंग हो गई है। परन्तु प्राचीनकाल में यह नियम था कि अमुक उद्देशक को पढ़ते समय इतनी तपस्या की जाये। तात्पर्य यह है कि अध्याय के अवान्तर विभाग उद्देशक कहलाते हैं। आचार्य तप के विधान के साथ शिष्य को जो उपदेश आदेश दें कि इतना पढ़ो, उसी का नाम उद्देशक है। जैसे अन्यान्य ग्रन्थों में पाठ या प्रकरण होते हैं, वैसे ही इस शास्त्र में उद्देशक हैं। इनके उद्देशकों के होने से शास्त्र का अध्ययन करने में सुभीता होता है।

शास्त्रारम्भ

प्रथम शतक की संग्रहणी गाथा

रायगिहचलणदुक्खे, कंखपओसे य पगइपुढवीओ ।
जावंते नेरइए, वाले गुरुए य चलणाओ ।।

इस गाथा में श्री भगवती सूत्र के प्रथम शतक के अन्तर्गत दस उद्देशकों का नाम निर्देश किया गया है। दस उद्देशक इस प्रकार हैं–

(1) चलन–राजगृह नगर में श्री गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से 'चलन' के विषय में प्रश्न किया है और भगवान् ने उसका उत्तर दिया है। इस प्रश्न में 'चलन' शब्द पहले आया है, अतएव प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक का नाम चलन है।

(2) दुःख–दूसरे उद्देशक का नाम दुःख है। इसमें यह प्रश्न किया गया है कि–हे भगवान् ! जीवन अपने किये दुःख को भोगता है? इत्यादि।

(3) कांक्षा प्रदोष–तीसरा उद्देशक कांक्षा प्रदोष है, क्योंकि उसमें कांक्षा–मोहनीय के विषय में प्रश्नोत्तर हैं।

(4) प्रकृति–चौथा उद्देशक प्रकृति है। इसमें कर्म प्रकृतियों के संबंध में प्रश्नोत्तर हैं।

(5) पृथिवी–पांचवे उद्देशक में पृथ्वी संबंधी वर्णन होने से उस उद्देशक का नाम 'पृथिवी' है।

(6) यावत्–छठे उद्देशक में यावत्–जितनी दूर से सूर्य डूबता–निकलता दिखाई देता है, आदि प्रश्नोत्तर होंगे। अतएव इस उद्देशक का नाम यावत् है।

(7) नेरयिक–सातवें उद्देशक के नारकियों के विषय में प्रश्नोत्तर होने से उसका 'नैरयिक' नाम है।

(8) बाल – आठवें उद्देशक में बाल जीव संबंधी प्रश्न हैं, अतः वह 'बाल' नाम उद्देशक कहलाता है।

(9) गुरूक – नौवें उद्देशक में गुरु कर्म संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। जैसे जीवन भारी हल्का कैसे होता है, इत्यादि। इसीलिए इस उद्देशक का नाम 'गुरूक' है।

(10) चलना – दसवें उद्देशक में 'जो चल रहा है वह चला नहीं' इस संबंध में प्रश्नोत्तर होंगे। इस कारण उसका नाम 'चलना' है।

यह प्रथम शतक के उद्देशकों के संग्रह–नाम हैं। इन संग्रह नामों को सुनकर शिष्य ने श्री सुधर्मा स्वामी से पूछा–कि सर्वप्रथम गौतम स्वामी ने चलन प्रश्न पूछा है। मगर वह प्रश्न और उसका उत्तर क्या है ? अनुग्रह करके विस्तारपूर्वक समझाइए। तब सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी को विस्तार से समझाने लगे।

प्रथम उद्देशक का मंगल

यद्यपि प्रस्तुत शास्त्र की आदि में मंगल किया जा चुका है, फिर भी प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक की आदि में विशेष रूप से पुनः मंगल किया गया है। इस मंगल को करने का कारण यह नहीं कि शास्त्र अमांगलिक है, अतएव मंगल करके उसे मांगलिक बनाया जाये। किन्तु शास्त्र मांगलिक है, इसी कारण यहां मंगल किया गया है। किसी की पूजा इस कारण नहीं की जाती है कि वह पूजा के अयोग्य है वरन् जो पूजा योग्य होता है उसी की पूजा की जाती है। जिस प्रकार पूजा के योग्य होने से पूजा की जाती है, उसी प्रकार मंगल के योग्य होने से सूत्र के लिए मंगल किया जाता है। श्री सुधर्मास्वामी कहते हैं–

नमो सुअस्स

अर्थात् श्रुत भगवान् को नमस्कार हो।

जिसके आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंगरूप भेद हैं, अर्हन्त भगवान् के अंग रूप जो प्रवचन किये हैं, ऐसे श्रुत को नमस्कार हो।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि इष्ट देव को नमस्कार करना मंगल कहा जा सकता है? श्रुत, इष्ट देव नहीं है। तब उसे नमस्कार क्यों किया गया है? श्रुत इष्ट देव की वाणी है। मगर प्रकृत श्रुत जिन इष्ट देव की वाणी है उन्हें नमस्कार न करके श्रुत को नमस्कार करने का क्या अभिप्राय है? क्या इष्ट देव की अपेक्षा इष्ट देव की वाणी को नमस्कार करना अधिक महत्वपूर्ण और अधिक फलदायक है? अगर ऐसा न हो तो फिर इष्ट देव को छोड़कर श्रुत को नमस्कार करने में क्या उद्देश्य है?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि श्रुत भी इष्ट देव रूप ही है।

प्रश्न—श्रुत इष्ट देव किस प्रकार है?

उत्तर—इसलिए कि अर्हन्त भगवान् श्री श्रुत को नमस्कार करते है।

प्रश्न—क्या अर्हन्त की वाणी को अर्हन्त ही नमस्कार करते हैं ?

उत्तर—अर्हन्त जैसे सिद्धों को नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार प्रवचन अर्थात् सिद्धान्त को भी नमस्कार करते हैं। इसी हेतु श्रुत को भी इष्ट देव कहा गया है।

प्रश्न—अर्हन्त श्रुत को नमस्कार करते हैं, इस कथन में कोई प्रमाण है?

उत्तर—हां, प्रमाण क्यों नहीं है? अर्हन्त भगवान् जब समवसरण में विराजते हैं तब कहते हैं—

णमो तित्थाय—नमस्तीर्थाय।

अर्थात तीर्थ को नमस्कार हो।

इस कथन से प्रतीत होता है कि अर्हन्त श्रुत को भी नमस्कार करते हैं।

प्रश्न—तीर्थंकर तीर्थ को नमस्कार करते हैं तो श्रुत को नमस्कार करना कैसे कहलाया?

उत्तर—असली तीर्थ श्रुत ही है। श्रुत में सम्पूर्ण द्वादशांगी का ज्ञान अन्तर्गत हो जाता है। जिससे तिर जावे वही तीर्थ कहलाता है। यहां संसार—सागर से तिर जाने का अभिप्राय है। श्रुत का सहारा लेकर भव्य जीव भवसागर के पार पहुंचते हैं, अतएव श्रुत तीर्थ कहलाता है। इसी कारण अर्हन्त इसे नमस्कार करते हैं।

प्रश्न—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हैं। आपने श्रुत को तीर्थ के अन्तर्गत कैसे कर लिया?

उत्तर—साधु, साध्वी और श्रावक—श्राविका तीर्थ नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। अनेक तीर्थ होने का निषेध करना हमारे कथन का अभिप्राय नहीं है। साधु—साध्वी आदि चतुर्विध संघ भी तीर्थ कहलाता है और श्रुत भी तीर्थ कहलाता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ रूपी तीर्थ को अर्हन्त नमस्कार नहीं करते हैं। यद्यपि चतुर्विध संघ भी तीर्थ कहलाता है, जैसे कि इसी भगवती सूत्र के बीसवें शतक में भगवान् ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका को भी तीर्थ कहा है, लेकिन अर्हन्त भगवान् तीर्थ को नमस्कार करते हैं वह तीर्थ यह नहीं है।

तात्पर्य यह है कि प्रवचन को ही वास्तव में तीर्थंकर नमस्कार करते हैं और प्रवचन ही असली तीर्थ है। मगर संघ को लक्ष्य करके ही प्रवचन की प्रवृत्ति होती है, किसी वृक्ष आदि को लक्ष्य करके नहीं। इस कारण संघ भी तीर्थ कहलाता है।

प्रश्न–क्या चतुर्विध तीर्थ को भगवान् नमस्कार नहीं करते?

उत्तर–गुण और गुणी में भिन्नता है। दोनों सर्वथा एक नहीं है। गुणी को कल्प के अनुसार ही नमस्कार किया जाता है, पर गुण के सम्बन्ध में यह मर्यादा नहीं है। गुण को सर्वत्र नमस्कार किया जा सकता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यक्–दर्शन और सम्यक्–चरित्र गुण हैं। ज्ञान को धारण करने वाला ज्ञानी, दर्शन को धारण करने वाला दर्शनी और चरित्र को धारण करने वाला चारित्री कहलाता है। चरित्र आदि गुण हैं और चारित्र आदि धारण करने वाला गुणी है। चरित्र धारण करने वाला चारित्री अपने कल्प का विचार करके किसी को नमस्कार करेगा, परन्तु गुण के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। गुणी को नमस्कार करने में कल्प नहीं देखा जाता। इस प्रकार अर्हन्त भगवान् गुण को ही नमस्कार करते हैं, न कि गुणी को अर्थात् साधु, साध्वी आदि को। गुण को नमस्कार करना भाव तीर्थ को नमस्कार करना ही कहलाता है।

प्रश्न–अर्हन्त अपने बनाये हुए श्रुत को नमस्कार क्यों नहीं करते हैं।

उत्तर– श्रुत, अर्हन्त भगवान् के परम केवल ज्ञान से उत्पन्न हुआ है, तथापि संसार में स्थिर भव्य जीवन इसी के सहारे तिरते हैं। अतएव श्रुत को भी इष्ट देव रूप ही समझना चाहिए।

क्षत्रिय अपनी तलवार और वैश्य अपनी दुकान एवं बही को क्यों नमस्कार करते हैं? इसीलिए कि उनकी दृष्टि में वह मांगलिक है। यद्यपि तलवार और दुकान–बही आदि क्षत्रिय एवं वैश्य की ही बनाई या बनवाई हुई हैं, तथापि वह उनका सम्मान बढ़ाने वाली हैं। अपनी वस्तु का स्वयं आदर किया जायेगा तो दूसरे भी उसका आदर करेंगे। तभी वह वस्तु आदरणीय समझी जायेगी।

अर्हन्त भगवान् ने जो वचन कहे हैं, परम आदरणीय हैं। इसका प्रमाण यह है कि उन वचनों को स्वयं अर्हन्त भगवान् ने भी नमस्कार किया है। वीतराग होने के कारण अर्हन्त भगवान् अपना निज का उपकार तो कर ही चुके थे। उन्होंने जो उपदेश दिया वह दूसरों के उपकार के ही लिए दिया। मगर उपदेश दूसरों के लिए तभी उपकारक हो सकता है, जब उपदेष्टा स्वयं उसका पालन करें। इस लोक–मानस को दृष्टि के समक्ष रखकर ही अर्हन्तों

ने श्रुत रूपी तीर्थ को नमस्कार किया है। अर्हन्त भगवान् वैसा ही आचरण करके भव्य जीवों के सामने आदर्श उपस्थित करते हैं, जिससे उनका कल्याण हो सके।

अर्हन्त, सिद्धों को नमस्कार करते हैं, सो इसलिए कि अन्य जीव सिद्धों को नमस्कार करके अपना हित साधन करें। अर्हन्त भगवान् तो अपने अन्तराय कर्म का पूर्ण रूप से क्षय कर चुके हैं। अन्तराय कर्म के अभाव में उनके लिए कोई विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता। अतएव विघ्न का उपशम करने के लिए अर्हन्त को, सिद्धों को नमस्कार करने की आवश्यकता नहीं है। सिद्धों को नमस्कार करने से होने वाले फल की भी अर्हन्तों को आवश्यकता नहीं है। फिर भी छद्‌मस्थ जीवों के सामने सिद्धों को नमस्कार करने का आदर्श उपस्थित करने के हेतु ही अर्हन्त सिद्ध भगवान् को नमस्कार करते हैं।

आशय यह है कि भगवती सूत्र के प्रथम शतक की आदि में गणधर ने 'नामे सुअस्स' कह कर श्रुत की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए ही श्रुत को नमस्कार किया है। इस प्रकार नमस्कार करने से श्रुत पर भव्य जीवों की श्रद्धा बढ़ेगी, भव्य जन श्रुत का आदर करेंगे और एक–एक वचन को आदर के साथ चुनेंगे। इसी आशय से प्रेरित होकर श्रुत को नमस्कार किया गया है।

प्रकृत शास्त्र का आरम्भ किस प्रकार हुआ है, यह आगे बतलाया जायेगा।

मूल–**तेणं कालेणं, तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था। वण्णओ, तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए णामं चेइए होत्था। सेणिए राया। चिल्लणा देवी।**

संस्कृतच्छाया–**तस्मिन् काले, तस्मिन् समये (तेन कालेन, तेन समयेन राजगृहं नाम नगरमभवत्। वर्णकः। तस्य राजगृहस्य नगरस्य बहिरुत्तर–पौरस्तये दिग्भागे गुणसिलकं नाम चैत्यमभवत्। श्रेणिको राजा। चिल्लणा देवी।**

शब्दार्थ–उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। वर्णक। उस राजगृह नगरके बाहर उत्तर पूर्व के दिग्भाग में अर्थात् ईशान कोण में गुणसिलक नामक चैत्य (व्यन्तरायतन) था। वहां श्रेणिक राजा और चिल्लणा देवी रानी थी।

विवेचन–यहां सर्वप्रथम यह प्रश्न हो सकता है कि काल और समय दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। फिर यहां काल और समय का भिन्न–भिन्न उल्लेख क्यों किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहां लौकिक काल और

समय से अभिप्राय नहीं है। यहां लोकोत्तर काल और लोकोत्तर समय की विवक्षा की गई है। दोनों शब्दों के अर्थ में भेद भी है। जैसे लोक व्यवहार में सम्वत् और मिति दोनों का प्रयोग किया जाता है—दोनों के बिना, सिर्फ सम्वत् या मिति मात्र लिखने से, पत्र या बही—खाता प्रमाणिक नहीं माना जाता; उसी प्रकार लोकोत्तर पक्ष में सम्वत् के स्थान पर काल और मिति के स्थान पर समय का प्रयोग किया गया है।

कहा जा सकता है कि लौकिक सम्वत् और मिति तो जगत्—प्रसिद्ध हैं पर लोकोत्तर काल और समय क्या है? इस का उत्तर यह है कि जैन शास्त्रों में तीन प्रकार के काल माने गये हैं हीयमान, वर्द्धमान और अवस्थित। जिस काल में निरन्तर क्रमशः जीवों की अवगाहना, बलवीर्य आदि की हानि घटती होती जाती है वह हीयमान काल कहलाता है। जिस काल में निरन्तर पूर्वोक्त बातों की वृद्धि होती जाती है वह वर्द्धमान काल कहलाता है और जिस काल में न हानि होती है, न वृद्धि होती है वह अवस्थित काल कहलाता है। हीयमान और वर्द्धमान काल की प्रवृत्ति भरत, ईरवत क्षेत्र में होती है और अवस्थित काल की महाविदेहादि में। वहां सदा प्रारम्भिक चतुर्थ काल के भाव बर्तते हैं यहां भरत क्षेत्र होने से—अवसर्पिणी उत्सर्पिणी की प्रवृत्ति होती है।

श्री सुधर्मास्वामी ने 'यह काल' कह कर हीयमान काल अर्थात् अवसर्पिणी काल को सूचित किया है। अवसर्पिणी काल दस क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम का होता है। इसी तरह उत्सर्पिणी काल अर्थात् वर्द्धमान काल भी दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का कहा गया है। दोनों कालों की (मिलकर) 'कालचक्र' संज्ञा है। एक कालचक्र बीस क्रोड़ा—क्रोड़ी सागरोपम का होता है। कालचक्र की यह कल्पना जैन शास्त्रों की ही नहीं है, मगर अन्य शास्त्रों में भी ऐसी ही कल्पना की गई है। ज्ञानियों ने काल के संबंध में बहुत सूक्ष्म विचार किया है। जैसे लोक में एक साल होता है, उसी प्रकार लोकोत्तर में चार कोड़ा कोड़ी सागरोपम का, तीन कोड़ा कोड़ी सागरोपम का, दो कोड़ा कोड़ी सागरोपम का अथवा इससे कम का एक काल होता है।

ऊपर जिस हीयमान और वर्द्धमान काल का उल्लेख किया गया है, वह यहां क्रमशः एक दूसरे के पश्चात् प्रवृत्त होता रहता है। हीयमान अर्थात् अवसर्पिणी के पश्चात् वर्द्धमान अर्थात् उत्सर्पिणी, और उत्सर्पिणी के पश्चात् अवसर्पिणी काल प्रवृत्त होता है। नैसर्गिक नियम के अनुसार दोनों काल सदा प्रवृत्ति कर रहे हैं। इस समय अवसर्पिणी काल चल रहा है। अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल के छह—छह आरे हैं। प्रत्येक काल दश—दश क्रोड़ाक्रोड़ी

सागरोपम का होता है। इस समय अवसर्पिणी काल का पांचवा आरा है। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का है। भगवान् महावीर स्वामी इस आरे के आरम्भ होने से पहले ही अर्थात् चौथे आरे में विचरते थे। उसी समय का यहां वर्णन है। अतएव 'उस काल' का अर्थ है वर्त्तमान अवसर्पिणी काल का चौथा आरा।

अवसर्पिणी काल का चौथा आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक क्रोड़ा क्रोड़ी सागरोपम का होता है। इतने लम्बे काल में से कब का यह वर्णन समझा जाये? अतएव उस काल में विशेषता बतलाने के लिए यहां दो बातों का उल्लेख कर दिया है—भगवान् महावीर का और राजा श्रेणिक का। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वर्तमान अवसर्पिणी काल में और उसके चौथे आरे में भी, जब भगवान् महावीर विचरते थे और श्रेणिक नामक राजा था, उस समय में यह सूत्र बना है। अतएव समय का अर्थ हुआ—भगवान् महावीर और श्रेणिक राजा का विद्यमानता का समय।

समय बतलाने के पश्चात् क्षेत्र बतलाना चाहिये। अतएव यहां कहा गया है कि मगध देश में, राजगृह नामक विशाल नगर था। उस नगर में प्रस्तुत प्रश्नोत्तर हुए जिससे शास्त्र की रचना हुई।

राजगृह नगर किस प्रकार का था? इस संबंध में सुधर्मास्वामी ने कहा है कि उववाई सूत्र में, चम्पा नगरी का जो वर्णन किया गया है, वही वर्णन यहां भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् चम्पा नगरी के समान ही राजगृह नगर था।

पहले क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर था। राजा जितशत्रु ने उसे क्षीणवास्तुक समझकर दूसरी जगह नगर बसाने का इरादा किया। उसने फल—फूल से समृद्ध एक चनक क्षेत्र देखकर उस स्थान पर 'चनकपुर' नगर बसाया। कालक्रम से उसे भी क्षीण मानकर, वन में एक अजेय वृषभ (बैल) देखकर उस स्थान पर 'ऋषभपुर' की स्थापना की। समय पाकर वह भी क्षीण हो गया। तब कुश (दूब) का गुल्म देखकर 'कुशाग्रपुर' नामक नगर बसाया। जब कुशाग्रपुर कई बार आग से जल गया, तब प्रसेनजित राजा ने राजगृह नामक नगर बसाया।

राजगृह नगर को जैन साहित्य एवं बौद्ध साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भगवान् महावीर और बुद्ध ने राजगृह में अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। 'पन्नवणा' सूत्र के अनुसार राजगृह नगर मगध देश की राजधानी था। महाभारत के सभा पर्व में भी, राजगृह को जरासंध के समय में मगध की राजधानी प्रकट किया गया है। राजगृह का दूसरा नाम 'गिरिब्रज' भी

बतलाया गया है। वहां पांच पहाड़ों का उल्लेख भी पाया जाता है। जैन शास्त्रों में पांच पहाड़ों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—वैभार, विपुल, उदय, सुवर्ण और रत्नागिरी। इन्हीं से मिलते—जुलते, कुछ—कुछ भिन्न नाम वैदिक पुराणों में भी पाये जाते है।

राजगृह का वर्तमान नाम 'राजगिर' है। वह बिहार से लगभग तेरह मील दूर, दक्षिण दिशा में मौजूद है। जैन सूत्रों में राजगृह से बाहर, उत्तर पूर्व में नालंदा नामक स्थान का उल्लेख आता है। प्रसिद्ध नालंदा विद्यालय पीठ उसी जगह था।

इसी सूत्र में (भगवती में) दूसरे शतक के पांचवें उद्देशक में राजगृह के गर्म पानी के झरने का उल्लेख है। उसका नाम 'महा पोषतीरप्रभ' बतलाया गया है। चीनी यात्री फाहियान ने और ह्युएत्सिंग ने गर्म पानी के झरने को देखा था, ऐसा उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में इस झरने का नाम 'तपोद' बतलाया गया है।

भगवती सूत्र में राजगृह नगर का वर्णन चम्पा नगरी के समान बतलाया गया है। चम्पा नगरी का वर्णन उववसई सूत्र में किया गया है। उस वर्णन से तत्कालीन नागरिक जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, अतएव उसका सार यहां उद्धृत किया जाता है :—

राजगृह नगर मनुष्यों से व्याप्त था। राजगृह के मार्ग की सीमा सैकड़ों और हजारों हलों द्वारा दूर—दूर तक जोती जाती थी। वहां की भूमि बढ़िया और उपजाऊ थी। वहां बहुसंख्यक मुर्गे और सांड थे। वह गन्ना, यव और शालि से भरपूर था। नगर में बैलों, भैंसों और मेढ़ा की बहुतायत थी। वहां सुन्दर आकार वाले चैत्यों और सुन्दर युवतियों के सनिवेशों की बहुलता थी। वहां घूसखोरों का, गंठकटो का, बलात्कार प्रवृत्ति करने वाले भटों का (गुण्डों का), चोरों का और फंसाने वालों का नाम—निशान तक न था। नगर क्षेम, निरुपद्रव रूप था। वहां भिक्षुओं को अच्छी भिक्षा मिलती थी। विश्वासीजनों के लिए शुभ आवास वाला, अनेक कुटुम्बपालकों से भरपूर संतुष्ट और शुभ था। नट, नाचने वाले, रस्सी पर चलने वाले, मल्ल, मुष्टि युद्ध करने वाले, विदूषक (हंसोड़े) पुराणीओं, कूदने वाले, रास गान गाने वाले, शुभ—अशुभ बताने वाले, बड़े बांस पर खेल करने वाले, चित्र दिखाकर भीख मांगने वाले, तूण नामक बाजा बजाने वाले, तंबू की बीणा बजाने वाले, और अनेक ताल देने वाले राजगृह नगर में निवास करते थे।

राजगृह नगर आराम, उद्यान, कूप, तालाब, दीर्घिका (बावड़ी) और पानी की क्यारियों (नहरों) के सौन्दर्य से समन्वित था। वह नन्दन वन के समान प्रकाश वाला थ। नगर के चारों ओर विशाल, गंभीर गहरी और ऊपर नीचे समान खोदी हुई खाई थी। वह नगर चक्र, गदा मुसंढि (शस्त्र विशेष) उरोह (छाती को हनन करने वाला शस्त्र) शतघ्नी (सौ को मारने वाली तोप) और एक साथ जुड़े हुए तथा छिद्ररहित किंवाड़ों के कारण दुष्प्रवेश था। वह नगर वक्र धनुष की अपेक्षा भी अधिक वक्र किले से व्याप्त था। वह बनाये हुए और विभिन्न आकार वाले गोल कंगूरों से सुशोभित था। वह अट्टालिकाओं से, किले और नगर के बीच की आठ हाथ चौड़ी सड़कों से, किले और नगर के द्वारों से और तोरणों से उन्नत एवं पृथक–पृथक् राज मार्ग वाला था। उस नगर का सुदृढ़ परिध और इन्द्रकील चतुर शिल्पकारों द्वारा बनाया गया था। उसमें बाजार और व्यापारियों के स्थान थे और शिल्पकारों से भरा हुआ निर्वृत और सुखरूप था। वह नगर त्रिकोण स्थानों से तथा त्रिक (जहां तीन गलियां मिलें), चौक और चत्वर (जहां अनेक रास्ते मिलें) किराने की दुकान और विविध प्रकार की वस्तुओं से मंडित था। सुरम्य था। वहां का राजमार्ग राजाओं से आकीर्ण था। अनेक बढ़िया–बढ़िया घोड़ों से, मत्त हाथियों से, रथ के समूहों से, शिविकाओं से और सुखपालों से वहां के राजमार्ग खचाखच भरे रहते थे, यानों से तथा युग्मों से दो हाथ की वेदिका वाले वाहनों से युक्त थे। निर्मल एवं नवीन कमलिनियों से वहां का पानी सुशोभित था। वह नगर धवल और सुन्दर भवनों से सुशोभित था। ऊंची आंखों से देखने योग्य था। मन को प्रसन्नता देने वाला दर्शनीय अभिरूप और प्रतिरूप था।

पूर्वकालीन नागरिक जीवन, आज जैसा नहीं था। प्राचीन वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय का नागरिक जीवन, आज के नागरिक जीवन से कहीं अधिक उन्नत, सम्पन्न, शान्तिपूर्ण और व्यस्तता से रहित था।

पहले के नागरिक ऋद्धि से सम्पन्न होने पर भी निरुपद्रव थे। राजा चाहे स्वचक्री हो, या परचक्री, परन्तु प्रजा के साथ उसका सम्बन्ध ममतामय होता था। राजा की ओर से प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचने पाता था। इसका कारण केवल राजा की कृपालुता ही नहीं थी, वरन् प्रजा का बल भी था। उस समय की प्रजा शक्तिशाली थी। शक्तिशाली होने पर भी अगर उसमें गुंडापन होता तो वह आपस में ही लड़ मरती पर ऐसा नहीं था। प्रजा में खूब शान्ति थी। इसी कारण प्रजा का जीवन उपद्रवहीन था। वास्तव में निर्बल प्रजा उपद्रवहीन नहीं हो सकती। निरुपद्रवता, शक्ति का फल है।

राजगृह नगर से बाहर, ईशान कोण में, गुणशीलक या गुणशील नाम चैत्यालय था। राजगृह में श्रेणिक राजा राज्य करता था और चेलना नामक उसकी रानी थी।

पहले कहा जा चुका है कि यह सूत्र सूधर्मास्वामी ने, जम्बूस्वामी के लिए कहा था। इस संबंध में टीकाकार ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि सुधर्मास्वामी के अक्षर तो सूत्र में देखे नहीं जाते, फिर कैसे प्रतीत हो कि यह शास्त्र सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी के प्रति कहा है? अथवा वही सूत्र है जो सुधर्मास्वामी ने कहा था।

इस तर्क का स्वयं ही समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं–सब सूत्रों की वाचना सुधर्मास्वामी द्वारा ही की गई है। इसका प्रमाण यह है–

'तित्थं च सुहम्माओ, निरवच्चा गणहरा सेसा।'

अर्थात्–सुधर्मास्वामी का ही तीर्थ चला है। अन्य गणधरों के शिष्य परम्परा नहीं हुई है। सिर्फ सुधर्मास्वामी के ही शिष्य प्रशिष्य हुए हैं।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि सुधर्मास्वामी ने जम्बू स्वामी को ही यह सूत्र सुनाया, यह कैसे मान लिया जाये? इसका उत्तर यह है कि जम्बू स्वामी ही सुधर्मास्वामी के पट्ट शिष्य को संबोधन करके ही सूत्र कहा जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि सुधर्मा स्वामी से ही तीर्थ चला यह तो ज्ञान हो गया, मगर सुधर्मा स्वामी ने ही यह सूत्र जम्बू स्वामी को सुनाया है, इसके विषय में क्या प्रमाण है ? टीकाकार कहते हैं–इस विषय में यह प्रमाण है–

'जइ णं भंते !पंचमस्स अंगस्स विआह पण्णत्तीए समणेणं भगवया महावीरेणं अयमट्ठे पण्णत्ते; छट्ठस्स णं भंते! के अट्ठे पण्णत्ते?'

–नायाधम्मकहा ।

यह ज्ञाता सूत्र की पीठिका का सूत्र है। इस में जम्बू स्वामी, सुधर्मा स्वामी से कहते हैं –(निर्वाण को प्राप्त) श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित पांचवां अंग भगवती सूत्र तो सुनाया, लेकिन छठे अंग– ज्ञाताधर्म कथा का भगवान् ने क्या अर्थ बतलाया है ? (कृपा करके समझाइए)।

जम्बू स्वामी के इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सुधर्मा स्वामी ने ही भगवती सूत्र जम्बू स्वामी को सुनाया था। इस कथन के प्रमाण से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि भगवती सूत्र का उपदेश सुधर्मा स्वामी ने ही जम्बू स्वामी को सम्बोधन करके किया था।

टीकाकार कहते हैं प्रस्तावना के इस सूत्र को मूल टीकाकार ने सम्पूर्ण शास्त्र को लक्ष्य करके व्याख्यान किया है, परन्तु मैंने प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक को लक्ष्य करके ही व्याख्या की है। इसका कारण यह है कि शास्त्रकार ने प्रत्येक शतक और प्रत्येक उद्देशक के आरम्भ में अनेक से उपोद्‌घात किया है। जब अलग–अलग उपोद्‌घात पाया जाता है तो फिर यह उपोद्‌घात वाक्य सम्पूर्ण सूत्र को लक्ष्य करके क्यों समझना चाहिए?

यहां टीकाकार ने एक बात और स्पष्ट की है। वह लिखते हैं कि यद्यपि मूल टीकाकार ने मंगलाचरण संबंधी पदों की टीका नहीं की है, फिर भी हमने उनकी टीका कर दी है। प्राचीन टीकाकार द्वारा इन पदों की टीका न करने का कोई खास कारण अवश्य रहा होगा। संभवतः उनके समय में यह पाठ ही न रहा हो।

पहले प्रस्तावना संबंधी जो मूल पाठ दिया गया है, उसके संबंध में शंका उठाई जा सकती है। वह यह कि पहले यह कहा जा चुका है कि प्रस्तुत सूत्र सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को सुनाया था। साथ ही यह भी कहा गया है कि राजगृह नगर में यह सूत्र सुधर्मा स्वामी ने सुनाया था। जब राजगृह नगर में ही यह सुत्र सुनाया गया तो स्पष्ट है कि सूत्र सुनाने के समय राजगृह नगर विद्यमान था। मगर 'रायगिहे णाम्रं णयरे होत्था' अर्थात् राजगृह नामक नगर था, इस भूत कालीन क्रिया से प्रतीत होता है कि सूत्र सुनाते समय राजगृह नगर विद्यमान नहीं था। अगर उस समय विद्यमान होता तो सुधर्मा स्वामी 'रायगिहे णामं णयरे होत्था' के स्थान पर 'रायगिहे णामं णयरे अत्थि'–राजगृह नामक नगर है ऐसा कहते। 'राजगृह नामक नगर था' ऐसा कहने से यह प्रतीत होता है कि राजगृह नगर पहले था–सूत्र सुनाते समय नहीं था। अगर सूत्र सुनाते समय राजगृह नगर नहीं था तो फिर राजगृह में यह शास्त्र कैसे सुनाया गया? अगर था तो उसके लिए 'होत्था' इस भूत कालीन क्रिया का प्रयोग किस अभिप्राय से किया गया है? 'अत्थि' (है) ऐसा वर्तमान काल संबंधी प्रयोग क्यों नहीं किया गया?

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य देते हैं कि सूत्र सुनाते समय भी राजगृह नगर विद्यमान था। फिर भी उसके लिए 'नगर था' इस प्रकार की भूतकालीन क्रिया का प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग का कारण यह है कि यह अवसर्पिणी काल है। इस काल में क्रमशः हीनता होती जाती है। हीनता का बाह्य रूप किसी समय में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु सूक्ष्म रूप में प्रतिक्षण किंचित हीनता हो रही है। अतएव भगवान् महावीर के समय में राजगृह नगर

जिस ऋद्धि आदि से सम्पन्न था, वह ऋद्धि आदि सुधर्मा स्वामी के समय में ज्यों की त्यों नहीं थी। यद्यपि भगवान् महावीर के समय में और सुधर्मा स्वामी द्वारा इस सूत्र की वाचना देने के समय में बहुत बड़ा अंतर नहीं था, तथापि थोड़े से समय में भी कुछ न्यूनता आ ही गई थी। इसी अभिप्राय से सुधर्मा स्वामी ने 'राजगृह नगर है' ऐसा न कहकर 'राजगृह नगर था' ऐसा कहा है।

इस अवसर्पिणी काल में, पहले शुभ भावों का जैसा प्रादुर्भाव था, वैसा आज नहीं है। लोग आज भी कहते हैं 'अब वह दिल्ली कहां हैं?' अर्थात् स्थान चाहे वही हो, नाम भी वही हो, पर रचना वह नहीं रही। इसी प्रकार सुधर्मा स्वामी के कथन का अभिप्राय यह है कि भगवान् महावीर के समय का राजगृह नगर जैसा था, अब वैसा नहीं है। इस अवस्था भेद को सूचित करने के लिए ही उन्होंने भूतकाल का प्रयोग किया है।

राजगृह नगर ऋद्धि और समृद्धि से भरपूर था। नगर के आस–पास के ग्राम, नगर के महल, भवन आदि नगर की ऋद्धि में गिने जाते हैं और नगर धनधान्य से परिपूर्ण था, वह नगर की समृद्धि कहलाती है।

राजगृह नगर स्वचक और परचक के भय से रहित था। अर्थात् वहां के निवासी नागरिकों में ऐसे गुण मौजूद थे कि राजा चाहे स्वचक्री हो या परचक्री, वह प्रजा को सताने–दबाने की हिम्मत नहीं कर सकता था। वहां के नागरिक आलसी अथवा पुरुषार्थहीन नहीं थे। इसके अतिरिक्त वहां के निवासियों में एक गुण यह भी था कि वे सदा प्रमुदित प्रसन्न रहते थे। जहां हर्ष है, उत्साह है, वहां सब प्रकार की ऋद्धि आप ही आकर बसेरा लेती है। उत्साही मनुष्य किसी प्रिय वस्तु का वियोग होने पर भी रोता झीकता नहीं है और उत्साहहीन मनुष्य उस वस्तु की मौजूदगी में भी रोने से बाज नहीं आता। इस प्रकार जब तक उत्साह न हो, किसी भली वस्तु का होना न होना समान है। राजगृह नगर के निवासी उत्साही थे, इस कारण प्रसन्नचित्त रहते थे। इतना ही नहीं, वरन् दूसरी जगह जो मलीन बदन आते थे, वह भी राजगृह में पहुंचकर हर्षित हो जाते थे। जैसे ताप से पीड़ित पुरुष किसी शीतल उद्यान में पहुंचकर हर्षित हो जाता है, उसी प्रकार अगर कोई दीन–दुखिया, भूखा–प्यासा राजगृह में आ जाता था तो वह भी हर्षित हो जाता था।

बाहर से आये हुए लोग जिस ग्राम से उदास होकर लौटते हैं, वह ग्राम हतभाग्य कहलाता है। इसके विपरीत जिस ग्राम में पहुंचकर बाहर के लोग प्रमुदित हो उठें तथा उस ग्राम की प्रशंसा करें, वह ग्राम सद्भागी माना जाता है।

राजगृह नगर में नागरिक इस बात की बड़ी सावधानी रखते थे कि हमारे नगर में आकर कोई उदास न रहे।

अवकाश के अभाव से राजगृह नगर का विशेष वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका ठीक तरह वर्णन करने के लिए काफी समय की आवश्यकता है। 'उववाई' सूत्र में जो वर्णन चम्पा नगरी का दिया गया है, वही वर्णन यहां समझ लेना चाहिए। उस वर्णन से तात्कालिक नागरिक जीवन की अनेक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है।

'तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए णामं चेइए होत्था।'

इस पाठ में 'रायगिस्स णयरस्स' यहां षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है मगर होनी चाहिये थी पांचवीं विभक्ति। प्राकृत भाषा की शैली की विचित्रता के कारण ऐसा प्रयोग किया गया है। अतएव 'राजगृह नगर से बाहर उत्तर पूर्व दिग्भाग में गुणशील नाम चैत्य था' ऐसा अर्थ करना चाहिए।

यहां चैत्य शब्द के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। **"चिञ् चयने"** धातु से चैत्य शब्द बना है। लेपन करने को या संग्रह करने को 'चिति' कहते है तथा लेपन या संग्रह करने के कर्म को 'चैत्य' कहते हैं। मतलब यह है कि उपचय रूप वस्तु 'चैत्य' कहलाती है।

शव का अग्नि संस्कार करंने के लिए लकड़ियों का जो उपचय किया जाता है उसे 'चिता' कहते हैं। चिता संबंधी को 'चैत्य' कहते हैं। यह संज्ञा शब्द है। पहले इसी अर्थ में चैत्य शब्द का प्रयोग होता था। मगर जब मूर्ति पूजा का पक्ष प्रबल हुआ तो इस अर्थ में खींचतान होने लगी। उस समय मूर्ति को और मूर्ति से संबंध रखने वाले मकान को भी चैत्य कहा जाने लगा। मगर जब मूर्ति नहीं थी तब भी 'चैत्य' शब्द का प्रयोग होता था। इससे यह स्पष्ट है कि 'चैत्य' शब्द का अर्थ मूर्ति नहीं है। जब तक मूर्ति नहीं थी तब तक 'चैत्य' शब्द साफ और व्युत्पत्ति संगत अर्थ किया जाता था मगर मूर्ति का पक्ष आने पर संज्ञा शब्द 'चैत्य' को रूढ़ मान लिया। 'चैत्य' शब्द का अर्थ ज्ञान अथवा साधु भी होता है।

'चिती–संज्ञाने' धातु से भी चैत्य शब्द बनता है। अतः ज्ञानवान् को चैत्य कहा जाता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है–

बुद्धं जं बोहन्तो अप्पाणं वेइयाइ अण्णं च ।
पंचमह व्वयसुद्धं, णाणमयं जाणं चेदिहरं ।।

षट्प्राभृत, बोधप्राभूत,

अर्थात्–साधुओं को बुद्ध कहना चाहिए। जो स्वयं को तथा दूसरों को बोध देते हैं, जिनके पांच महाव्रत हैं, उन्हें चैत्यग्रह मन्दिर समझो।

चैत्य रूप ज्ञान जहां पर हो उसे 'चैत्यालय' कहते हैं।

यहां जिस गुणशील नाम 'चैत्य' का उल्लेख आया है, उसके संबंध में टीकाकार आचार्य स्वयं लिखते है कि वह व्यन्तर का मन्दिर था, अर्हन्त का नहीं।

मूर्ति पूजक भाई जहां कहीं 'चैत्य' शब्द देखते हैं, वहीं अर्हन्त का मन्दिर अर्थ समझ लेते हैं। उनकी यह समझ अपने आराध्य आचार्य के कथन से भी विरुद्ध है।

मूल–**ते णं काले णं ते णं समए णं समणे भगवं महावीरे, आइगरे, तित्थयरे, सहसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे, पुरिससीहे, पुरिसवरपुंडरीए, पुरिसवरगंधहत्थी, लागुत्तमें, लोगनाहे, (लोगहिए), लोगपईवे, लोगपज्जोयगरे, अभयदए, चम्खुदए, मग्गदए, सरणदए(बोहिदए) धम्मदए, धम्मदेसए, (धम्मनायगे), धम्मसारही, धम्मवरचाउरंतचक्वट्टी, अप्पाडिहयवरनाण– दंसणधरे, वियट्टछउमे, जिणे, जाणए, बुद्धे, बोहए, मुत्ते, मोयए, सव्वण्णू, सव्वदरिसी, सिवमयलमरुअमणन्तमक्खयमव्वावाहमपुणरावित्तियं, सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपाविउकामे जाव समोसरणं ! ....परिसा निग्गया ! ....धम्मो कहिओ !....... परिसा पडिगया।**

संस्कृतच्छाया–**तस्मिन् काले, तसिमन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः, आदिकरः, तीर्थंकरः, सहसंबुद्धः, पुरुषोत्तमः पुरुषसिंहः, पुरुषवरपुण्डरीकम्, पुरुषवरगन्धहस्ती, लोकोत्तमः, लोकनाथः (लोकहितः,) लोकप्रदीपः, लोकप्रद्योतकरः, अभयदयः, चक्षुर्दयः, मार्गदयः, शरणदयः, (बोधिदयः,) धर्मदयः, धर्मदेशकः,(धर्मनायकः,),धर्मसारथिः, धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ति, अप्रतिहतवरज्ञान–दर्शनघरः, व्यावृत्तछद्मा, जिनः, ज्ञायकः, बुद्धः,बोधकः,मुक्तः,मोचकः,सर्वज्ञः, सर्वदर्शी शिवम चलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिकं सिद्धिगतिनाम– धेयं स्थानं संप्राप्तुकामः, यावत् समवसरणं। पर्षद निर्गता। धर्मः कथितः। पर्षद् प्रतिगता।**

शब्दार्थ–उस काल में, उस समय में श्रमण भगवान् महावीर, आदि कर, तीर्थंकर सहसंबुद्ध–स्वयं तत्त्व के ज्ञाता, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषवरपुण्डरीक–पुरुषो में उत्तम कमल के समान, पुरुषवर गंधहस्ती–पुरुषों

में उत्तम गंधहस्ती के समान, लोकोत्तम (लोकहितकर), लोकप्रदीप लोक में दीपक समान, लोकप्रद्योतकर–लोक में उद्योत करने वाले, अभयदय–अभय देने वाले, चक्षुर्दय–नेत्र देने वाले, मार्गदय–मार्ग देने वाले, शरण देने वाले, (बोधि–सम्यक्त्व देने वाले), धर्मदाता, धर्म की देशना देने वाले, (धर्म नायक), धर्म रूपी रथ के सारथी, धर्म के विषय में उत्तम चातुरंत चक्रवर्ती के समान, अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन के धारक, छद्म (कपट से रहित, जिन राग द्वेष को जीतने वाले, सब तत्वों के ज्ञाता, बुद्ध, बोधक–तत्वों का ज्ञान देने वाले, बाह्य –आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त, मोचक–मुक्ति देने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी–(भगवान महावीर) शिव, अबल, रोगरहित, अनन्त, अक्षय, व्याबाध रहित पुनरागमनरहित, 'सिद्धगति' नामक स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले पधारे। परिषद निकला। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। परिषद् लौट गई।

विवेचन–काल और समय की व्याख्या पहले के समान यहां भी समझ लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जब अवसर्पिणी काल का चौथा आरा था और जब राजगृह नगर, गुणशीलक चैत्य, श्रेणिक राजा और चेलना रानी थी, उस समय भगवान् महावीर उस चैत्य में पधारे।

भगवान् महावीर कौन और कैसे हैं ? यह बतलाने के लिए शास्त्रकार ने भगवान् के लिए कतिपय गुणों का परिचय दिया है। उनके नाम के पहले उन्हें 'श्रमण' और 'भगवान्' यह विशेषण दिये गये है। 'श्रमण' शब्द का क्या अर्थ है? यह देखना आवश्यक है।

'श्रम' धातु से 'श्रमण' शब्द बना है। 'श्रम' धातु का अर्थ है तप करना और परिश्रम करना। 'श्राम्यति तपस्यति इति श्रमणः' अर्थात् जो तप तपते हैं, तप करने में जो परिश्रम करते हैं, वह 'श्रमण' कहलाते हैं। इस प्रकार श्रमण का अर्थ 'तपस्वी' होता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि भगवान् जब गुणशीलक चैत्य में पधारे तब कौन–सा तप करते थे? केवल ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् उनके तप करने का न कहीं उल्लेख मिलता है और न उस समय तप करने की आवश्यकता ही थी। फिर उन्हें श्रमण क्यों कहा गया है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जहां चरित्र है वहां तप भी है। इस संबंध से भगवान् महावीर को उस समय भी तपस्वी या श्रमण कहने में कोई बाधा नहीं है।

इसके अतिरिक्त भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति से पहले बारह वर्ष के लम्बे समय तक घोर तपश्चर्या की थी। भगवान् की तपश्चर्या

असाधारण और महान् थी। अतएव उस तपश्चर्या के कारण भगवान् को 'श्रमण' यह सार्थक विशेषण लगाया जाता है। केवलज्ञान की प्राप्ति से पहले और बाद में भगवान् की आत्मा तो एक ही थी। केवलज्ञान प्राप्त होने से भगवान् कोई दूसरे नहीं हो गये थे। अतएव उस असाधारण तपस्या के कारण उन्हें केवलज्ञानी होने के पश्चात् भी 'श्रमण' कहना अनुचित नहीं है।

अथवा–'समण' शब्द का संस्कृत रूप 'समनाः' भी होता है। 'शोभनेन मनसा सह वर्त्तत, इति समनाः' अर्थात् जो प्रशस्त मन से युक्त हो–जिसका मन प्रशस्त हो–वह 'समन' या 'समण' कहलाता है।

प्रश्न– भगवान् केवली अवस्था में तेरहवें गुणस्थान में वर्तमान थे। उनके योग विद्यमान तो थे पर वे मनोयोग के व्यापार से रहित थे। मन में जानना या विचारना इन्द्रियजन्य परोक्ष ज्ञान कहलाता है और भगवान् परोक्ष ज्ञान से रहित थे। पोद्गलिक आकृति के रूप में उनमें मन रहता है परन्तु वे उसे काम नहीं लेते। इसी से उन्हें मनोऽतीत कहते हैं। ऐसी दशा में भगवान् प्रशस्त मन वाले कैसे कहला सकते हैं?

उत्तर–स्तुति का प्रकरण होने से भगवान् को 'समन' कहने में कोई बाधा नहीं है। भक्तजन भक्ति में इतने विह्वल हो जाते हैं कि उनकी तुलना बालक से की जा सकती है। बालक बनकर भक्त भगवान् की स्तुति करते हैं। यद्यपि जल में स्थित चन्द्रमा हाथ नहीं आता है और न बालक अपनी माता की गोद में बैठा–बैठा चन्द्रमा को पकड़ ही सकता है, फिर भी बालक चन्द्रमा को पकड़ने के लिए झपट पड़ता है। इससे चन्द्रमा तो हाथ नहीं आता, मगर बालक का मन हर्षित हो जाता है।

'कल्याण मंदिर के कर्ता ने इसी भाव को दूसरे शब्दों में प्रकट किया है। एक बालक समुद्र देखने गया। उसके पिता ने उसके आने पर पूछा–समुद्र कितना बड़ा है? उत्तर में बालक ने अपने दोनों हाथ फैला दिये और कहा इतना बड़ा है। यद्यपि समुद्र बालक के हाथों के बराबर नहीं है फिर भी बालक अपने हर्ष को किस प्रकार प्रकट कर सकता था। उसने हाथ फैलाकर ही अपना भाव और हर्ष प्रकाशित किया।

इसी प्रकार हमारे पास हर्ष प्रकट करने के लिए और क्या है? अतएव प्रसन्न मन रहकर हम भगवान् की स्तुति करते हैं।

अथवा 'समण' इस प्राकृत शब्द की संस्कृत–छाया भी 'समण' ही समझना चाहिए। 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'अण–भाषणे' धातु से 'समण' शब्द बना है। इसका अर्थ है–संगत भाषण करने वाला। भगवान् जो भाषण करते हैं वह

संगत प्रामाणिक ही होता है, अतएव भगवान् को 'समण' कहने में कोई बाधा नहीं है।

अथवा–धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, इस नियम के अनुसार 'समणति–इति समण' ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिए। इसका अर्थ है–प्राणी मात्र के साथ समतामय समान व्यवहार करने वाले। यद्यपि भगवान् देवराज इन्द्र द्वारा भी पूज्य हैं, फिर भी वे सब प्राणियों को सम देखते हैं। समस्त प्राणियों में भगवान् सम हैं, अतः उन्हें 'समण' कहते हैं।

भगवान् समस्त प्राणियों को समभाव से देखते हैं, इसका प्रमाण क्या है? इस शंका का समाधान यह है कि यदि भगवान् समभावी न होते तो गौतम से कहते –हे गौतम! मैं पूर्णरूप से निर्विकार एवं संसार से अतीत था; मगर संसार का उद्धार करने के लिए मैं संसार में अवतीर्ण हुआ हूं। इस प्रकार कह कर भगवान् संसारी प्राणियों से अपनी विशिष्टता एवं महत्ता प्रकट करते। किन्तु भगवान् समभावी थे, इस कारण उन्होंने ऐसा नहीं कहा। इसके विरुद्ध उन्होंने कहा हैः–हे गौतम! एक दिन मैं भी पृथ्वीकाय में था। मैं पृथ्वीकाय से निकल आया, परन्तु मेरे बहुत–से साथी अब भी वहीं पड़े हैं।

इस प्रकार अपनी पूर्वकालीन हीन दशा प्रकट करके अन्य प्राणियों के साथ अपनी समता प्रकट की है। उन्होंने यह भी घोषणा की है कि विकारों पर विजय प्राप्त करते–करते मैं इस स्थिति पर पहुंचा हूं और तुम भी प्रयत्न करके इसी स्थिति को प्राप्त कर सकते हो। जो भगवान् इन्द्रों द्वारा पूजित हैं, इन्द्र जिनका जन्म–कल्याणक मनाते हैं, जो त्रिलोक पूज्य और परमात्म पदवी को प्राप्त कर चुके हैं, वही जब अपना पृथ्वीकाय में रहना प्रकट करते हैं, तब उनके साम्यभाव में क्या कमी है?

परमात्मा ने पृथ्वीकाय के जीव रूप में अपनी पूर्वकालीन स्थिति बता कर उन जीवों के साथ अपनी मौलिक एकता द्योतित की है। ऐसी स्थिति में हमें विचारना चाहिए कि हम उन क्षुद्र समझे जाने वाले जीवों से किस प्रकार घृणा करें? भले ही हम इस समय साधक या उपासक दशा में हों फिर भी हमारा ध्येय तो वही पूर्ण समभाव होना चाहिए, जो साक्षात् परमात्मा भगवान् महावीर में था।

भगवान् ने न केवल पशुओं–पक्षियों के प्रति ही वरन् कीट–पतंगों के प्रति भी और उनसे भी निकृष्ट एकेन्द्रिय जीवों के प्रति भी साम्यभाव व्यक्त किया है। मगर मनुष्य, मनुष्य के प्रति भी समभाव न रक्खे तो वह कितना गिरा हुआ है? भगवान् के मार्ग से कितना दूर है?

भगवान् ने पृथ्वीकाय के जीवों से अपना संबंध दिखाना प्रारंभ करके, बढ़ते बढ़ते सब जीवों से अपना संबंध बताया है। कभी किसी ने सुना है कि भगवान् महावीर किसी जीवयोनि में नहीं रहे? प्रत्येक आत्मा अनादि काल से भव भ्रमण कर रही है। भगवान् की आत्मा भी अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रही थी। उनके सिर्फ सत्ताइस भव ही देखने से काम नहीं चलेगा। यद्यपि उनके अनन्त भवों का वर्णन लिखा नहीं है, मगर केवल लिखी हुई बात कहना ही व्याख्यान नहीं है।

भगवान् ने गौतम से कहा—हम और तुम पृथ्वीकाय में रह आये हैं। हम आ गये और हमारे कई साथी अभी वहीं पड़े हैं। उनके वहां पड़े रहने का कारण प्रमाद है और हमारे निकल आने का कारण प्रमाद का त्याग है। भगवान् के इस कथन का आशय यही है कि मूल रूप से सब जीव मेरे ही जैसे हैं। अगर प्रमाद का परित्याग करें तो वे भी परमात्मपद प्राप्त कर सकते हैं।

धर्म का मुख्य ध्येय आत्म—विकास करना है। अगर धर्म से आत्मा का विकास न होता तो धर्म की आवश्यकता ही न होती। अतः भगवान् महावीर ने ऐसे धर्म का उपदेश दिया है जिससे तुच्छ से तुच्छ प्राणी भी अपना आत्मविकास साध सकता है। उन्होंने अपने अनेकानेक पूर्वभवों का उल्लेख करके और अंतिम जीवन में अतिशय साधना करके आत्मविकास की शक्यता प्रकट की है। उनके अतीत और अंतिम जीवन मनुष्य को महान् आश्वासन देने वाले एवं मार्गदर्श हैं। उन्होंने अपने जीवन व्यवहार द्वारा एवं धर्मदेशना द्वारा आत्मा को परमात्मा बनने का नर को नारायण बनने का एवं भक्त को स्वयं भगवान् बनने का मार्ग बताया है। मगर उस मार्ग पर चलने के लिए प्रमाद का परित्याग करना परमावश्यक है।

प्रकृति पर ध्यान देकर देखो तो प्रतीत होगा कि प्रकृति ने जो कुछ किया है, उसका एक अंश भी संसार के लोगों ने नहीं किया है। मगर लोग प्रकृति की पूजा तो करते नहीं और संसार के लोगों की पूजा करते हैं। खराब हुई एक आंख अगर किसी डाक्टर ने ठीक कर दी तो लोग उस डाक्टर के आजीवन ऐहसानमंद रहते हैं। मगर जिस कुदरत ने आंखें बनाई हैं उसको जीवन भर में एक बार भी शायद ही याद करते हैं। कुदरत द्वारा बनी हुई आंख की जरा सी खराबी दूर करने वाले को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है, किन्तु कुदरत ने आंख ही न बनाई होती तो डाक्टर क्या करता ? कुदरत ने असंख्य

आंखें बनाई हैं, पर डाक्टर ने कितनी आंखें बनाई हैं ? संसार भर के डाक्टर मिलकर कुदरत के समान एक भी आंख नहीं बना सकते।

यहां आंखें पुण्य रूपी डाक्टर ने बनाई हैं। आंख की थोड़ी सी खराबी मिटाने वाले डाक्टर को याद करते हो उसके प्रति कृतज्ञ होते हो, तो उस पुण्य रूपी महान् डाक्टर को क्यों भूलते हो? पुण्य की इन आंखों से पाप तो नहीं करते? दुर्भावना से प्रेरित होकर परस्त्री की ओर तो नहीं ताकते? यह आंखें बुरे भाव से परस्त्री को देखने के लिए नहीं है।

मनुष्य को जो शुभ संयोग प्राप्त हैं, अन्य जीवों को नहीं। मनुष्य –शरीर किस प्रकार मिला है, इसे जानने के लिए पिछली बातें स्मरण करो। अगर आप चिर–अतीत की घटनाओं पर दृष्टि–निपात करेंगे तो आपके रोम–रोम खड़े हो जाएंगे। आप सोचने लगेंगे –रे आत्मा! तुझे कैसी अनमोल वस्तु मिली है और तू उसका कितना जघन्य उपयोग कर रहा है? हे मानव! तुझे वह शरीर मिला है जिसमें अर्हन्त, राम आदि पुण्य पुरुष हुए थे। ऐसी अमूल्य एवं उत्तम वस्तु पाकर भी तू इसका दुरुपयोग कर रहा है। मानो यह शरीर तुच्छ है।

इस शरीर की तुलना में संसार की बहुमूल्य वस्तु भी नहीं ठहर सकती। एक मनुष्य–शरीर के सामने संसार की समस्त सम्पत्ति कोड़ी कीमत की भी नहीं है। ऐसा मूल्यवान् मानव–शरीर महान् कष्ट सहन करने के पश्चात् प्राप्त हुआ है। न जाने किन–किन योनियों में रहकर आत्मा ने मनुष्य योनि पाई है। अतएव शरीर का मूल्य समझो और प्राणी मात्र के प्रति समभाव धारण करो। आज तुम जिस जीव के प्रति घृणाभाव धारण करते हो, न जाने कितनी बार उसी जीव के रूप में तुम रह चुके हो। भगवान् का कथन इस सत्य का साक्षी है।

भगवान् अपने अतीत कालीन समस्त भवों को जानते थे, अतएव समस्त प्राणियों पर उनका समभाव था।

कहा जा सकता है कि गृहस्थी की झंझटों में फंसा हुआ मनुष्य समभाव कैसे धारण कर सकता है? और यदि वह समभावी बनता है तो अपना व्यवहार कैसे चला सकता है? समभाव धारण करने पर कैसे दुकान चलाई जायेगी? कैसे किसी को ठगा जायेगा? और कैसे जिया जायेगा? अतः समभाव का उपदेश चाहे साधुओं के लिए उपयुक्त हो, गृहस्थों के लिए नहीं।

लेकिन विचार करो की यह प्रणाली ही विपरीत है। यदि समभाव से संसार का काम नहीं चल सकता तो क्या विषमभाव से काम चलेगा? अगर

डाक्टर कहता है कि शुद्ध हवा चलने से हमारा काम नहीं चलता, क्योंकि इससे रोग नहीं होते। तो डाक्टर के इस कथन को आप कैसे समझेंगे?

'बुरा'।

धनिको ने बहुत–सा अनाज खरीद कर भर लिया। लेकिन वर्षा ठीक होने लगी इसलिए वे रोने लगे कि अनाज सस्ता होने से हमारा दीवाला निकल जायेगा। वे चाहते हैं कि या तो अतिवृष्टि हो जाये या अनावृष्टि हो जाये, जिससे फसल गिबड़ जावे। क्या धनिकों की इस इच्छा को सब लोग ठीक कहेंगे?

'नहीं'।

इसी प्रकार स्वार्थ–लोलुप, लोभी, लालची लोग यह कहते हैं कि समभाव से काम नहीं चल सकता। मगर जो लोग अपना स्वार्थ छोड़ कर अथवा अपने स्वार्थ के समान ही दूसरों के स्वार्थ को महत्त्व देकर विचार करते हैं, वे जानते हैं कि समभाव से ही संसार का काम चल सकता है। समभाव से ही संसार स्थिर रह सकता है। समभाव से ही स्वर्ग के समान सुखमय बन सकता है। समभाव से ही शान्ति और सन्तोष से परिपूर्ण जीवन बन सकता है। समभाव के बिना संसार नरक के तुल्य बनता है। समभाव के अभाव में जीवन अस्थिर, अशान्त, क्लेशमय और सन्तापयुक्त बनता है। संसार में जितनी मात्रा में समभाव की वृद्धि होगी, उतनी ही मात्रा में सुख की वृद्धि होगी।

डाक्टर अपने जघन्य स्वार्थ की साधना के लिए वायु को विकृत करने की इच्छा करता है। उसकी इच्छा पूरी होने से संसार में खराबी पैदा होती है। इसका अर्थ यह है कि समभाव न रहने से संसार की खराबी होगी।

समभाव अमृत है और विषमभाव विष है। अमृत से काम न चल कर विष से काम चलेगा, यह कथन जैसे मूर्खों का ही हो सकता है, इसी प्रकार समभाव से नहीं वरन् विषम भाव से संसार चलता है यह कहना भी मूर्खों का ही है।

भाई–भाई में जब खींचतान आरम्भ होती है, एक भाई अपने स्वार्थ की तरफ फूटी आंख से भी नहीं देखता तब विषमता उत्पन्न होती है। विषमता का विष किस प्रकार फैलता है और उस से कितना विनाश एवं विध्वंस होता है, यह जानने के लिए राजा कोणिक और बहिलकुमार का दृष्टांत पर्याप्त है। कोणिक और बहिल कुमार भाई–भाई थे। बहिल कुमार ने सन्तोष किया कि राज्य में हिस्सा न मिला, न सही, हार और हाथी ही बहुत हैं। लेकिन

पद्मावती रानी ने अपने पति कोणिक को भड़काया। उसने कहा–'सम्पूर्ण राजकीय वैभव का सार हार हाथी ही है। बहिलकुमार ने वह ले लिया वह तो मक्खन था। छाछ के समान इस राज्य में क्या रक्खा है? तुम निस्सार राज्य में क्यों भरमा गये? अगर हार–हाथी न मिला तो हम तुम राजा–रानी ही क्या रहे?

राजा कोणिक ने पहले तो कह दिया कि स्त्रियों की बातों में लग कर मैं अपने भाई से विरोध नहीं कर सकता। लेकिन पद्मा ने कोणिक को फिर उकेरा। उसने कहा–'हार हाथी नहीं चाहते तो न सही, पर एक बार मांगकर तो देखो। मांगने से मालूम हो जायेगा कि जिसे आप अपना भाई समझते हैं, उसके हृदय में आपके लिए कितना स्थान है?

कहते हैं काली नागिन से जितनी हानि नहीं होती, उतनी दुर्बुद्धि वाले मनुष्य के संसर्ग से होती है। इसी के अनुसार कोणिक के अन्तःकरण से पद्मा का परामर्श जम गया। उसने कहा–क्या मेरा भाई, मेरी इतनी–सी आज्ञा नहीं मानेगा?' यह कह कर कोणिक ने एक दूत बहिलकुमार के पास भेजा। दूत के साथ कहलाया–भैया हार–हाथी भेज दो। इतने दिन तुमने रक्खा है, अब कुछ दिन तक हम रक्खेंगे।

दूत गया। उसने बहिलकुमार से कोणिक का संदेश कहा। संदेश सुनकर बहिलकुमार का संतोष क्रोध के रूप में परिणत हो गया। उसने कहा –'राज्य के हिस्से के समय तो मैं याद न आया और हार–हाथी हथियाने के लिए भैया हो गया?'

इस प्रकार दोनों भाइयों का मन बिगड़ गया। इस बिगाड़ का परिणाम यह आया कि एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का क्रूरतापूर्वक संहार हुआ। और दूसरे प्राणी कितने मरे, यह कौन जाने? इस भीषण नरसंहार से भी हाथ कुछ न आया। हार देवता ले गये। हाथी मर गया। कोणिक विशाला नगरी को ध्वंस करके, अपने दस सहोदर भाइयों को मरवाकर वापस लौट आया।

यह सब समभाव के अभाव का और विषम भाव की प्रबलता का परिणाम है। इसके विरुद्ध समभावसे कितनी शान्ति और कितना आनंद होता है, यह जानने के लिए रामचन्द्र का उदाहरण मौजूद है।

जिसके हृदय में समभाव विद्यमान है वह एकान्त में बैठा हुआ भी संसार की भलाई कर रहा है। जिसका हृदय बुरी भावनाओं का केन्द्र बना हुआ है वह एकान्त में बैठा हुआ भी संसार में आग फैला रहा है।

राम के हृदय में भी भगवान् महावीर के समभाव के प्रति सहानुभूति थी। इसी कारण उन्होंने माता के हृदय की विषमता को भंग करने के लिए अपने अधिकार को–अयोध्या के राज्य को–छोड़ दिया था। यहां यह कहा जा सकता है कि रामचन्द्र और भगवान् महावीर के समय में बहुत अन्तर है। फिर महावीर के समभाव के प्रति राम को सहानुभूति थी, यह कथन युक्ति–संगत कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि जगत् अनादिकाल से है और जगत् की भांति ही सत्य–आदर्श भी अनादि है। व्यक्ति कभी होता है, कभी नहीं, मगर आदर्श स्थायी होता है। जो व्यक्ति जिस आदर्श को अपने जीवन में मूर्त्त रूप से प्रतिबिम्बित करता है, जिसका जीवन जिस आदर्श का प्रतीक बन जाता है, वह आदर्श उसी का कहलाता है। वस्तुतः आदर्श शाश्वत, स्थायी और अनादि अनन्त है।

राम के स्थूल चरित्र को देखा जाये तो प्रतीत होगा कि समभाव का आदर्श राज्य–राम राज्य होता है और विषमभाव से वही हाल होता है जो दुर्योधन का हुआ था। जब हृदय में समभाव होता है तो प्रकृति भी कुछ अलौकिक सी हो जाती है।

साधारणतया लोग चाहते हैं कि हम बड़े हो जावें तो दूसरों को दबा लें। लेकिन राम ने अपने अधिकार का राज्य त्याग कर अपने बड़प्पन का परिचय दिया। यह सब समभाव की महिमा है। अहंकार के द्वारा बड़े होने से कोई बड़ा नहीं होता। सच्चा बड़प्पन, दूसरों को बड़ा बनाकर आप छोटे बनने से आता है। मगर संसार इस सच्चाई को नहीं समझता। छोटों पर अत्याचार करना ही आज बड़प्पन का चिह्न माना जाता है।

आज विश्व में इतनी विषमता व्याप रही है कि सन्तान अपने माता–पिता की अवहेलना करने में भी संकोच नहीं करती। कल मैंने एक वृद्ध पुरुष को देखा था। वृद्धावस्था के कारण उसका शरीर जीर्ण हो गया था। हाथ–पैर शक्तिहीन हो गये थे। फिर भी वह सिर पर बोझ लादे घाटी चढ़ रहा था। उसे बहुत ही कष्ट अनुभव हो रहा था। उसे देख कर एक मुस्लिम भाई ने, जो शायद बूढ़े से परिचित थे–कहा–'इस बुड्ढ़े की जैसी औलाद है, वैसी होकर मर जाये तो अच्छा है' अर्थात् उसने बुड्ढे की सन्तान को कृतघ्न बतलाया और ऐसी सन्तान के होने की अपेक्षा न होना अधिक अच्छा समझा।

ऐसे दुर्बल वृद्ध पर किसे दया न आयेगी? जिसके हृदय में समभाव का थोड़ा सा भी अंश है, वह द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। पर आज ऐसे

अनेक अनगिनती मनुष्य हैं जो असक्त होने पर भी परिश्रम करते हैं और फिर भी भरपेट भोजन नहीं पाते। ऐसे लोगों पर आपको कितनी दया आती है ?

उन गरीबों पर आपका ही बोझ है। आपके बोझ से वे दबे जा रहे हैं। यह बहुमूल्य मिलों के वस्त्र उन्हें मार रहे हैं। अगर आपने इन वस्त्रों का त्याग कर दिया होता तो वह भूखों क्यों मरते? मगर आपके अन्तःकरण में भी अभी तक समभाव जागृत नहीं हुआ है। दूसरों के दुःख को आप अपना दुःख नहीं मानते। यही नहीं, दूसरों के दुःख को आप अपने सुख का साधन बना रहे हैं। जैन धर्म की बुनियाद समभाव है। जब तक आप में समभाव नहीं आता, आप के अन्तःकरण में करुणा का उदय नहीं होता, तब तक धर्म का प्रभाव नहीं फैल सकता।

लोग अगर मौज–शोक त्याग दें, विलासमय जीवन का विसर्जन कर दें तो गरीबों को अपने बोझ से हलका कर सकेंगे, साथ ही, अपने जीवन को भी सुधार के पथ पर अग्रसर कर सकेगें। क्या विलासितावर्द्धक बारीक वस्त्र पहनने से ब्रह्मचर्य के पालन में सहायता मिलती है? अगर नहीं, तो अपने जीवन को बिगाड़ने वाले तथा दूसरों को भी दुःख में डालने वाले वस्त्रों के पहनने से क्या लाभ है?

बहिनें चाहे उपवास कर लेंगी, तपस्या करने को तैयार हो जायेंगी, परन्तु मौज–शौक त्यागने को तैयार नहीं होतीं। ऐसा करने वाली बहिनों के दिल में दया है, यह कैसे कहा जा सकता है ? एक रुपये की खादी का रुपया गरीबों को मिलता है और मील के कपडे का रुपया महापाप में जाता है। मील के कपड़े के लिए दिया हुआ रुपया आप ही को परतन्त्र बनाता है। पर यह सीधा–सादा विचार लोगों को नहीं जंचता। इसका मुख्य कारण समभाव का अभाव है।

रामचन्द्र ने कैकेयी के हृदय के साम्य का अभाव देखा। उसे सुधारने के विचार से रामचन्द्र ने सीता सहित छाल के वस्त्र पहिने और अन्त में कैकेयी के अन्तःकरण में समता भाव जागृत कर दिया। ऐसा रामचन्द्र का साम्यभाव था। वास्तव में सच्चा समताभावी व्यक्ति ही दूसरों को विषमभाव में रमते नहीं देख सकता।

भगवान् महावीर में साम्यभाव पराकाष्ठा को पहुंच गया था। अतः वह 'समण' अर्थात् प्राणी मात्र के साथ समता से वर्त्तने वाले कहलाते हैं।

'भगवान्' शब्द की व्याख्या

'भगवान्' शब्द 'भग' धातु से बना है। 'भग' का अर्थ है–ऐश्वर्य। अर्थात् जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त है वह भगवान् कहलाता है। कहा भी है–

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः ।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षणां भग इतींरना ।।

अर्थात्–सम्पूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न, यह छः 'भग' शब्द के वाच्य हैं।

कहा जा सकता है कि त्यागी–तपस्वी वीतराग पुरुष में ऐश्वर्य क्या हो सकता है ? और उस ऐश्वर्य को हम कैसे देख सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि जड़ एवं स्थूल ऐश्वर्य स्थूल नेत्रों से देखा जा सकता है और सूक्ष्म ऐश्वर्य को देखने के लिए सूक्ष्म नेत्रों की आवश्यकता होती है। आन्तरिक दृष्टि जिन्हें प्राप्त है वे भगवान् का ऐश्वर्य देख सकते हैं। भगवान् की अनन्त आत्मिक विभूतिही उनका ऐश्वर्य है।

कल्पना कीजिए एक स्वामी और उसका सेवक समान वस्त्र पहन कर खड़े हैं। फिर भी भलीभांति देखने वाले को यह बात मालूम हो जाती है कि यह स्वामी और यह सेवक है। जब साधारण मनुष्य के शरीर पर भी ऐश्वर्य के चिह्न दिखाई दे जाते हैं तो त्रिलोक पूज्य भगवान् के ऐश्वर्य को देख लेना कोई कठिन बात नहीं है।

आज भी कई चित्रों में, जिसका वह चित्र होता है उसके आसपास अगर वह विभूषितमान् हो तो एक प्रभावमण्डल बना रहता है, पर प्रभातमण्डल उसके विभूतिमान् होने का द्योतक है। आधुनिक विज्ञान भी इस बात को पुष्ट करता है।

सारांश यह है कि भगवान् का अर्थ है–ऐश्वर्य सम्पन्न और पूज्य। जो ऐश्वर्य से सम्पन्न और पूज्य होता है, वह भगवान् कहलाता है। चाहे कोई

उसकी अवज्ञा भी करे मगर उसकी पूज्यता में कमी नहीं होती। जैसे सूर्य में प्रकाश देने की स्वाभाविक शक्ति है, किसी के मानने या कहने से सूर्य प्रकाशक नहीं है, और यदि कोई धृष्टतापूर्वक सूर्य को प्रकाशक न माने तो भी उसका प्रकाश कम नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् किसी के कहने से, किसी के बनाने से पूज्य नहीं बने हैं, किन्तु उनमें सहज पूज्यता विद्यमान है। यह बात दूसरी है कि जैसे किसी–किसी प्राणी को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता, उसी तरह कुछ लोगों को भगवान् का वैभव अच्छा न लगे। फिर भी जैसे सूर्य का उसमें कोई दोष नहीं है, उसी प्रकार अगर कुछ लोग भगवान् का वैभव न देख सकें तो इसमें भगवान का कोई दोष नहीं है।

'शूर–वीर विक्रान्तौ' धातु से वीर शब्द बना है। जो अपने वैरियों का नाश कर डालता है उस विक्रमशाली पुरुष को वीर कहते हैं। वीरों में भी जो महान् वीर है, वह महावीर कहलाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि चक्रवर्ती राजा और साधारण राजा भी अपने शत्रुओं का नाश कर डालता है। फिर उन्हें वीर न कहकर भगवान् को ही वीर क्यों कहा गया है? महावीर में कौनसी वीरता थी ? इस प्रश्न का समाध ाान यह है कि भगवान् महावीर को न केवल वीर, वरन् महावीर कहा गया है। सब से बड़े वीर को महावीर कहते हैं। भगवान् को महावीर कहने का कारण यह है कि उन्होंने आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। बाह्य शत्रुओं को जीतने वाला वीर कहलाता है और आन्तरिक शत्रुओं को जीतने वाला महावीर कहलाता है।

बाह्य शत्रुओं को स्थूल साधनों से, पाशविकशक्ति से, शस्त्र आदि की सहायता से जीतना आसान है। मगर आन्तरिक शत्रु जो इस प्रकार नहीं जीते जा सकते। उन्हें जीतने के लिए आध्यात्मिक बल की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक बल ही सच्चा बल है, क्योंकि वह पर–साधनों पर निर्भर नहीं है। भगवान् महावीर में आध्यात्मिक बल की पराकाष्ठा थी अतएव उन्हें महावीर कहते हैं।

इसके अतिरिक्त आये हुए कष्टों को बिना घबराहट के सहन कर लेने वाला पुरुष 'वीर' कहलाता है। परन्तु भगवान् केवल आये हुए कष्टों को ही सहन नहीं करते थे, मगर साधक अवस्था में विशिष्ट निर्जरा के हेतु कभी–कभी कष्टों को इच्छापूर्वक आमंत्रित करते थे और उन कष्टों पर विजय प्राप्त करते थे। इस कारण साधारण वीर पुरुषों की अपेक्षा उनकी वीरता विलक्षण प्रकार

की और उच्च श्रेणी की थी। इस कारण भी उन्हें महावीर कहा जा सकता है।

नाम दो प्रकार के होते हैं। एक तो जन्म के समय गुण या प्रयोजन को लक्ष्य करके नाम रक्खा जाता है और दूसरा अमुक प्रकार के विशिष्ट पराक्रम आदि गुणों को देखकर संसार नाम देता है। भगवान् 'महावीर' नाम जन्म–सिद्ध नहीं है। देवों ने बाद में यह नाम रक्खा है। भगवान् का जन्म–नाम 'वर्द्धमान' था। देवों ने यह नाम क्यों दिया, इस संबंध में आचारांग सूत्र में और कल्पसूत्र में कहा है–

'अयले भय–भेरवाणं, खंतिखमे परिसहोवसग्गाणं देवेहिं कए महावीरेत्ति।।

अर्थात्–बिजली आदि द्वारा होने वाले आकस्मिक भय से तथा सिंह आदि हिंसक पशुओं की गर्जना तथा देव आदि के अट्टहास्य आदि से उत्पन्न होने वाले भैरव (भय) से विचलित नहीं हुए, भय–भैरव में सुमेरु की तरह अचल रहे, घोर से घोर परिषह और उपसर्ग आने पर भी क्षमा का त्याग नहीं किया, इस कारण इन गुणों को देख कर देवताओं ने भगवान् वर्द्धमान का नाम 'महावीर' रख दिया।

आत्मा में बसने वाले और आत्मा का बिगाड़ करने वाले काम, क्रोध आदि दुर्जय रिपुओं को जीतने वाला महावीर कहलाता है। इससे यह सिद्ध है कि मनुष्य रूपी शत्रुओं को जीतने के कारण नहीं मगर अन्तरंग शत्रुओं को जीतने के कारण भगवान् का यह नाम प्रसिद्ध हुआ था। मनुष्यों को तो उन्होंने कभी शत्रु समझा ही नहीं था।

कहा जा सकता है कि साधु अपनी मण्डली में बैठ कर अपनी बड़ाई कर लेते हैं। मगर इन बातों की सत्यता का प्रमाण क्या है? इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दिया जाता है।

एक सेनापति साधुओं के समीप बैठा था। साधुओं ने साधुता की प्रशंसा करते हुए कहा–'वीर पुरुष ही साधु हो सकता है।'

सेनापति ने कहा– इसमें प्रशंसा की क्या बात है? आप अपने मुँह से अपनी बड़ाई कर रहे हैं। अगर आप हाथ में तलवार लें तो पता चले कि वीरता किसे कहते हैं? आप साधुओं को वीर बतलाते हैं, पर जहां तलवारों की खटाखट होती है वहां साधु नहीं ठहर सकता।

सेनापति की बात सुनकर साधु हंस दिये। उन्होंने कहा–सेनापति! जल्दी जोश में आ जाने से सच्ची बात समझ में नहीं आती। शान्तिपूर्वक विचार करो तो साधुओं की वीरता का पता चल जायेगा। अगर एक आदमी अकेला ही दस हजार आदमियों को जीत ले तो उसे आप क्या कहेंगे ?

सेनापति—ऐसा होना संभव प्रतीत नहीं होता, फिर भी अगर कोई दस हजार आदमियों को जीत ले तो वह अवश्य वीर कहलायेगा।

साधु बोले—ठीक है, लेकिन कोई दूसरा आदमी दस हजार आदमियों को जीतने वाले को भी जीत ले तो उसे आप क्यो कहेंगे?

सेनापति— उसे महावीर कहना होगा।

साधु—देखो, संसार में बड़े—बड़े शस्त्रधारी थे। उदाहरण के लिए रावण को ही समझ लीजिए। रावण प्रचण्ड वीर था। उसने लाखों पर विजय प्राप्त की थी। मगर जिस काम ने उसे भी जीत लिया वह काम वीर कहलाया कि नहीं? रावण ने हजारों—लाखों योद्धाओं को पराजित कर दिया, मगर सीता की आखों को वह न जीत सका। अतएव काम ने उसे पराजित करके नचा डाला। जिसके प्रबल प्रताप के आगे बड़े—बड़े शूरवीर भी अभिभूत हो जाते थे, वह लाखों को जीतने वाला रावण अबला कहलाने वाली सीता के आगे हाथ जोड़ने लगा और उसके पैरों में पड़ने लगा। मगर सीता ने उसे ठुकरा दिया।

प्रश्न उपस्थित होता है—वीर कौन था? रावण या काम?

सेनापति—काम। काम को जीतना बहुत कठिन है।

साधु—काम लाखों को जीतने वाला वीर है। मगर जो सत्यशाली पुरुष वीर काम को भी जीत लेता है उसे क्या कहना चाहिए? काम—विजय का ढ़ोंग करने की बात दूसरी है, मगर सचमुच ही जो काम को पराजित कर देते हैं उन्हें क्या कहेंगे ? ऐसे महान् पराक्रमी पुरुष को 'महावीर' कहा जाता है।

साधु अकेले काम को ही नहीं जीतते, किन्तु क्रोध, मोह, मत्सरता आदि को भी जीतते हैं। क्रोध के वश होकर अगर कोई पुरुष साधु को गाली देता है, तब भी सच्चा साधु क्रुद्ध नहीं होता। क्या इस प्रकार काम और क्रोध को जीतना साधारण बात है?

साधु का यह कथन सेनापति ने सहर्ष स्वीकार किया। सेनापति बोला— काम, क्रोध, मात्सर्य आदि सबको जीतने वाला तो वीर है ही, लेकिन इनमें से एक को जीतने वाला भी वीर है।

आदिकर—

एक तो काम, क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं को जीतने के कारण भगवान् को महावीर कहा है, दूसरे 'आदिकर' अर्थात् आदि करने वाले होने

से भी उन्हें महावीर कहा है। भगवान् महावीर ने श्रुत धर्म की आदि की है, इस कारण वह 'आदिकर' कहलाते हैं।

आचारांग आदि बारह अंग-ग्रंथ श्रुतधर्म कहलाते हैं। प्रथम अंग आचारांग से लेकर बारहवें अंग दृष्टिवाद तक का, जिनमें साधु के आचार धर्म से लेकर समस्त पदार्थों का वर्णन किया गया है, 'श्रुतधर्म' शब्द से व्यवहार होता है। इस श्रुतधर्म के आदिकर्त्ता अर्थात आद्य उपदेशक होने के कारण भगवान् महावीर को 'आइगरे' अर्थात् आदिकर या आदिकर्त्ता कहा गया है।

बारह अंगों के नाम और उनका विषय-संक्षेप में इस प्रकार है-

1. आचारांग-इस अंग में निर्ग्रन्थ श्रमणों का आचार गोचार' (भिक्षा लेने की विधि) विनय, विनय का फल, कायोत्सर्ग आदि स्थान, बिहारभूमि आदि में गमन, चक्रमण,आहार आदि का परिमाण (यात्रा), स्वाध्याय आदि में नियोग, भाषा समिति, गुप्ति, शट, उपाधि, भक्त-पान, उद्गम आदि, दोषों की शुद्धि, व्रत, नियम, तप आदि विषय वर्णित हैं। आचारांग में दो श्रुत स्कन्ध, पच्चीस अध्ययन, पचासी उद्देशनकाल और पचासी समुद्देशनकाल हैं।

2. सूत्रकृतांग-इसमें स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त स्व-परसिद्धान्त, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष रूप पदार्थ, एक सौ अस्सी क्रियावादी के मत, चौरासी अक्रियावादी के मत, सड़सठ अज्ञानवादी के मत, बत्तीस वैनयिक के मत, इस प्रकार तीन सौ त्रेसठ अन्यदृष्टियों के मतों का निराकरण करके स्वसिद्धान्त की स्थापना, आदि का वर्णन है। इसमें श्रुतस्कन्ध, तेईस अध्ययन तेतीस, उद्देशन काल और तेतीस समुद्देशन काल हैं। छत्तीस हजार पद हैं।

3. स्थानांग-इस अंग में स्वसमय का, परसमय का और स्व-परसमय का, जीव का, अजीव का, जीवाजीव का, लोक का, अलोक का, लोकालोक का वर्णन है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध है। दस अध्ययन, इक्कीस उद्देशन काल, इक्कीस समुद्देशन काल और बहत्तर हजार पद हैं।

4. समवायांग-इस अंग में स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व- परसिद्धान्त और क्रमशः एक आदि अंक-वृद्धिपूर्वक पदार्थों का निरूपण तथा द्वादशांगी रूप गणिपिटक के पर्यवों का प्रतिपादन है। इसमें एक अध्ययन, एक श्रुतस्कन्ध, एक उद्देशनकाल, एक समुद्देशनकाल तथा एक लाख चवालीस हजार पद हैं।

5. व्याख्या प्रज्ञप्ति–स्वसमय, परसमाय, स्व–परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, देच, राजा, राजर्षि और संदिग्ध पुरुषों द्वारा पूछे हुए प्रश्नों के भगवान् द्वारा दिए हुए उत्तर इस सूत्र में हैं। यह उत्तर द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल, पर्यत, प्रदेश और परिणाम के अनुगम, निक्षेपण, नय, प्रमाण एवं उपक्रमपूर्वक यथास्थित भाव के प्रतिपादक हैं, लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले हैं, जो संसार–सागर से तिराने में समर्थ हैं, इन्द्रपूजित हैं, भव्य जीवों के हृदय को आनन्द देने वाले हैं, अंधकार की मलिनता के नाशक हैं, भली भांति दृष्ट हैं, दीपक के समान हैं, बुद्धिवर्धक हैं। ऐसे छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग में दिये गये हैं। इस अंग में एक श्रुत स्कन्ध, साधिक सौ अध्ययन, दस हजार उद्देशक, दस हजार समुद्देशक , छत्तीस हजार प्रश्न और चौरासी हजार पद हैं। नन्दी सूत्र में कहीं दो लाख अठयासी हजार पद भी बताये हैं।

6. ज्ञाताधर्मकथा–इस अंग में उदाहरण योग्य पुरुषों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता–पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहलौकिक एवं पारलौकिक ऋद्धि, भगपरित्याग, दीक्षा, श्रुतग्रहण, तप, उपधान, पर्याय, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादोपगमन, देवलोकगमन, सुकुलों में अवतार लेना, बोधिलाभ और मोक्षप्राप्ति आदि विषयों का वर्णन है। इस अंग में दो श्रुतस्कन्ध और उनतीस अध्ययन हैं। यह अध्ययन दो प्रकार के हैं –चरित और कल्पित। इसमें धर्मकथा के दस वर्ग हैं। एक–एक धर्मकथा में पांच–पांच सौ आख्यायिकाएं हैं। एक–एक उपाख्यायिका में पांच–पांच सौ उपाचख्यायिकाएं हैं। एक–एक उपाख्यायिका में पांच–पांच सौ आख्यायिकोपाख्यायिकाएं हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर साढ़े तीन करोड़ आख्यायिकाएं होती हैं। उनतीस उद्देशनकाल हैं और इतने ही समुद्देशनकाल हैं। पांच लाख छियतर हजार पद हैं।

7. उपाशक दशांग–इस अंग में श्रावकों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता–पिता, धर्माचार्य, समवसरण, श्रावकों के शीलव्रत, विरमण, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पडिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादोपगमन, देवलोकगमन, सुकुल में जन्म, बोधिलाभ और अन्तक्रिया आदि का वर्णन है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, दस उद्देशनकाल, दस समुद्देशनकाल, और ग्यारह लाख बावन हजार पद हैं।

8. अन्त कृद्दशा—इस अंग में तीर्थंकर आदि के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता—पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक—पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, दीक्षा, श्रुत ग्रहण, तप, उपधान, पडिमा, क्षमा आदि धर्म, सत्तरह प्रकार का संयम, क्रियाएं, समिति, गुप्ति, अप्रमादयोग, उत्तम स्वाध्याय और ध्यान का स्वरूप, चार कर्मों का क्षय, केवल ज्ञान की प्राप्ति, मुनियों द्वारा पाला हुआ पर्याय, मुक्ति गमन आदि का वर्णन है। इस अंग में एक श्रुतस्कन्ध, आठ वर्ग, दस अध्ययन, दस उद्देशन काल, दस समुद्देशन काल, तेईस लाख और चार हजार पद हैं।

9. अनुत्तरापपातिक—इस अंग में अनुत्तरोपपातिकों के नगर, उद्यान आदि आठवें अंग में वर्णित विषयों का निरूपण है। इस अंग में भी एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, तीन वर्ग, दस उद्देशनकाल, दस समुद्देशनकाल, और सेंतालीस लाख आठ हजार पद हैं।

10. प्रश्न व्याकरण—एक सौ आठ प्रश्न, एक सौ आठ अप्रश्न, एक सौ आठ प्रश्नाप्रश्न, विद्या के अतिशय तथा नागकुमार एवं सुवर्णकुमार के साथ हुए संवाद। इस अंग में एक श्रुतस्कन्ध, पैंतालीस उद्देशनकाल, पैंतालीस समुद्देशनकाल, बानवे लाख और सोलह हजार पद हैं।

11. विपाकश्रुत—सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल। यह फल संक्षेप में दो प्रकार का है—दुःखविपाक और सुखविपाक। दस दुःखविपाक तथा दस सुखविपाक हैं। दुःखविपाक में, दुःखविपाक वालों के नगर उद्यान चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता—पिता, भगवान् का समवरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, नगरगमन, संसार और एवं दुःखों की परम्परा का वर्णन है। सुखविपाक में सुखविपाक वालों के नगर आदि का वर्णन है। साथ ही उनकी ऋद्धि का भोगों के त्याग का, दीक्षा का, शास्त्र—अध्ययन का, तप, उपधान, प्रतिमा (पडिमा), संलेखसना, भक्तप्रत्याख्यान पदोपगमन, देवलोकगमन, सुकुल में अवतार, बोधिलाभ और मुक्ति आदि विषयों का निरूपण किया गया है। इस अंग में बीस अध्ययन हैं। बीस उद्देशनकाल और बीस समुद्देशनकाल हैं। एक करोड़ चोरासी लाख और बत्तीस हजार पद हैं।

12. दृष्टिवाद—दृष्टिवाद अत्यन्त विशाल अंग है। उसमें समस्त पदार्थों की प्ररूपणा है। उसके पांच विभाग हैं —परिकर्म, सूत्र, पूर्व, अनुयोग और चालिका।

वर्तमान काल में बारहवां अंग पूर्ण रूप से विच्छिन्न हो गया है। आज वह उपलब्ध नहीं है। शेष ग्यारह अंग उपलब्ध हैं, किन्तु उनका भी बहुत सा

अंश विच्छिन्न हो गया है। अतएव पदों की संख्या आदि में अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक है। वर्णित विषयों में न्यूनता आ जाना भी स्वाभाविक है। ऊपर जो परिणाम एवं विषय का उल्लेख किया गया है वह प्राचीनकालीन है, जब सम्पूर्ण रूप से अंग शास्त्र उपलब्ध था।

प्रश्न—भगवान् महावीर अंतिम तीर्थंकर थे। उनसे पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव थे। उन्होंने भी श्रुत– धर्म की प्ररूपणा की थी। ऐसी स्थिति में आदिकर्त्ता भगवान् ऋषभदेव को माना जाये अथवा भगवान् महावीर को? अथवा भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर में किसी प्रकार का मतभेद था? क्या दोनों के धर्म जुदे–जुदे थे? जिससे दोनों ही आदिकर्त्ता कहे जा सकते हैं। अगर दोनों की प्ररूपणा एक ही थी तो दोनों आदिकर्त्ता किस प्रकार कहे जा सकते हैं?

उत्तर—मतभेद सदा अल्पज्ञों में होता है। सर्वज्ञ भगवान् वस्तु के स्वरूप का पूर्ण रूप से और यथार्थ रूप से जानते हैं, अतः उनमें मतभेद की संभावना ही नहीं की जा सकती। भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर दो सर्वज्ञ थे, अतः उनमें किंचित भी मतभेद नहीं था। फिर भी दोनों धर्म के आदिकर्त्ता कहलाते हैं। यह बात एक उदाहरण से भली भांति समझ में आ सकेगी। मान लीजिए, किसी घड़ी में आठ दिन तक चलने वाली चाबी दी। घड़ी आठ दिन तक चलकर बंद होगी ही। उस समय घड़ी में जो चाबी भरेगा वह घड़ी की गति को पुनःकर्त्ता कहलाएगा या नहीं। उसी के प्रयत्न से बन्द हुई घड़ी की गति की आदि होगी। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् प्रवचन करते हैं। परन्तु प्रवचन का समय पूरा होने पर अर्थात् चाबी पूरी हो जाने पर दूसरे तीर्थंकर फिर चाबी देते हैं—प्रवचन करते हैं। बाईस तीर्थंकरों तक यह बात समझिए। तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का शासन ढ़ाई सौ वर्ष तक चला। उसके बाद चौबीसवें और इस अवसर्पिणी काल के आदि तीर्थंकर भगवान् महावीर ने चाबी भरी। भगवान् महावीर न होते तो जिन–शासन आगे न चलता। पर भगवान् महावीर ने प्रवचन रूपी घड़ी में चाबी देकर उसे चालू कर दिया। अतएव भगवान् महावीर श्रुतधर्म के आदिकर्त्ता कहलाए।

तीर्थंकर शब्द की व्याख्या

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् महावीर ने चाबी किस प्रकार दी? वह आदिकर्त्ता क्यों कहलाए ? इसका उत्तर यह है कि भगवान तीर्थंकर थे। जिसके द्वारा संसार सागर सरलता से तिरा जा सकता है वह

तीर्थ कहलाता है। ऐसे तीर्थ की स्थापना करने के कारण तीर्थंकर भगवान महावीर को 'आदिकर' कहा गया है।

नदी में से पानी लाया जाता है। पानी लाने वालों को असुविधा न हो, सरलता से पानी लाया जा सके, इस अभिप्राय से नदी के किनारे सीढ़ियां लगा दी जाती हैं अथवा दूसरी तरह से घाट बना दिया जाता है। घाट को भी तीर्थ कहते हैं। इसी प्रकार संसार–समुद्र से सुविधापूर्वक पार पहुंचने के लिए तीर्थ की स्थापना की गई है।

यों तो विशेष शक्ति वाले नदी को तैर कर पार कर सकते हैं, मगर पुल बन जाने पर चिउंटी भी नदी पार कर सकती है। पुल बनने से नदी पार करने में बहुत सुविधा होती है। इसी प्रकार संसार समुद्र को सुविधापूर्वक पार करने के लिए तीर्थ की स्थापना की जाती हैं। तीर्थ की स्थापना करने वाले महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। लौकिक समुद्र की तरह संसार समुद्र भी अनेक विध दुःखों से परिपूर्ण है। सभी जीवन दुःखमय संसार सागर को पार करना कठिन है। अतएव तीर्थंकर अवतरित होकर तीर्थ की स्थापना करते हैं। इस प्रकार संसार–सागर से पार उतरने के लिए पुल बनाने वाले ही तीर्थंकर कहलाते हैं।

नदी पार करने के लिए बांधा हुआ पुल स्थूल नेत्रों से दिखाई देता है। मगर संसार को पार करने के लिए बांधा हुआ पुल कौन सा है? इसका उत्तर यह है कि तीर्थंकरों ने तीर्थ रूपी पुल बांधा है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक् चरित्र को प्रवचन कहते हैं। तीर्थंकर भगवान ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर जगत् के कल्याण हेतु जो प्रवचन कहे और जिन प्रवचनों को गणधरों ने पूरी तरह धारण किया, उन प्रवचनों को तीर्थ कहते हैं। ऐसे तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर कहलाते हें।

भगवान् ने अपना तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक चालू रहेगा, ऐसा बतलाया है। किन्तु तेरापंथ स्थापक अपने आपको ही तीर्थ की स्थापना करने वाले मानते हैं। उनका कथन है कि तीर्थ का विच्छेद हो गया था सो हमने फिर से इसकी स्थापना की है। 'मेरा तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष चलेगा' भगवान् के इस कथन का अर्थ वे यह करते हैं कि शास्त्रार्थ ही इतने वर्ष चलेगा–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का रूप तीर्थ पहले ही विच्छेद को प्राप्त हो जायेगा।

विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार का कथन भोले जीवों को भ्रम में डालने के लिए, उन्हें प्रलोभन देने के लिए और साथ ही अपने

मुंह से ही अपनी महत्ता प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। वास्तव में भगवान् ने जिस तीर्थ को 21 हजार वर्ष पर्यन्त चालू रहना बतलाया है वह साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ ही है।

भगवान् ने शास्त्र में जिस सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप तीर्थ की स्थापना की है, वह अविनश्वर है। ज्ञान, दर्शन, चरित्र का कभी नाश नहीं होता। ऐसी अवस्था में उसके इक्कीस हजार वर्ष तक विद्यमान रहने की बात शास्त्रसंगत नहीं कही जा सकती। जब प्रवचन रूपी तीर्थ अविनाशी है तो इक्कीस हजार वर्ष तक स्थिर रहने वाला तीर्थ चतुर्विध संघ ही हो सकता है। अतः तेरापन्थ स्थापक की अपने आप ही पच्चीसवां तीर्थंकर बनने की चेष्टा उपहासास्पद है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रवचन किसे कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि वचन और प्रवचन में पर्याप्त अन्तर है। साधारण बोलचाल को वचन कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—एक खास वचन, दूसरा विवेक वचन और तीसरा विकल वचन। तथ्यहीन वचन विकल वचन कहलाते हैं। अपनी शक्ति से तोल मोल कर बोलना विवेक वचन है और साधारण बोलचाल को खास वचन कहते हैं।

ज्ञानी पुरुष अपने निर्मल ज्ञान से वस्तु—स्वरूप को यथार्थ रूप में जान कर, संसार के कल्याण के लिए जो उपदेश वचन बोलते हैं, वही वचन 'प्रवचन' कहलाते हैं।

न्यायाधीश (जज) अपने घर पर अपनी स्त्री आदि से बातचीत करता और न्यायासन पर बैठ कर, वादी—प्रतिवादी की बातें सुनकर, अपने ज्ञान से निर्णय करके फैसला देने के लिए भी बोलता है। यद्यपि वचनों का उच्चारण दोनों जगह सदृश है, फिर भी न्यायालय में बोले जाने वाले वचनों में शक्ति है। उन में हानि—लाभ भरा हुआ है। अतएव उसके उन वचनों को फैसला कहते हैं। फैसले में आये हुए शब्द मिसल का सार हैं। इसी प्रकार जगत् के लाभ के लिए ज्ञानवान् महात्माओं ने अपने ज्ञान के सार रूप में जो वचन प्रयोग किया है उसे प्रवचन कहते है।

जैसे फैसले में फांसी कटती है, उसी प्रकार भगवान् के प्रवचन से संसार की फांसी कटती है। संसार की फांसी काटने वाले वचन को प्रवचन कहते हैं। फैसले में और प्रवचन में कुछ अन्तर भी है और वह यही कि फैसला कभी सदोष भी हो सकता है, उससे कभी फांसी सजा भी मिलती है, मगर प्रवचन एकान्त रूप से फांसी काटने वाला ही होता है। ऐसे प्रवचन की स्थापना करने वाले को तीर्थंकर कहते हैं।

'सहसंबुद्धे' शब्द का विवेचन।

तीर्थंकर भगवान् ने जो प्रवचन किया है, उन्होंने किसी से सीख कर किया है या स्वयं जानकर? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तीर्थंकर स्वयं ही अपने अनन्त, असीम केवलज्ञान से पदार्थो के सम्पूर्ण स्वरूप को हस्तामलकवत् जानते हैं। उन्हें किसी से कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं होती। किसी से सीखकर कहे हुए वचन वस्तुतः प्रवचन नहीं है, किन्तु दूसरे के उपदेश के बिना ही, स्वयमेव जिन्हें ज्ञान प्राप्त हो उन स्वयं सम्बुद्ध भगवान् का कथन ही प्रवचन या तीर्थ कहलाता है।

आचार्य और साधु किसी को दीक्षा देते हैं, किसी को श्रावक, श्राविका और किसी को साधु–साध्वी बनाते हैं। किसी को व्रत धारण कराते हैं। फिर भी वह तीर्थंकर पदवी के पात्र नहीं हैं, क्योंकि इतना करने से ही कोई तीर्थंकर नहीं हो जाता। तीर्थंकर पदवी वही महापुरुष पा सकते हैं जो स्वयं–दूसरे के उपदेश बिना ज्ञान प्राप्त करते हैं और प्राप्त ज्ञान के अनुसार तीर्थ की स्थापना करते हैं। आचार्य और साधु तीर्थ हो सकते हैं, तीर्थंकर नहीं। तीर्थंकर तो स्वयं संबुद्ध ही होते हैं।

जो लोग दूसरों से उपदेश ग्रहण करते है, उनमें भी स्वकीय बुद्धि किन्हीं अंशों में विद्यमान रहती है। अगर उनमें स्वकीय बुद्धि न हो तो दूसरे से उपदेश ग्रहण करना ही असंभव है। ऐसी स्थिति में साधारण को भी स्वयं बुद्ध क्यों न कहा जाय? इस शंका का समाधान यह है कि साधारण बुद्धि होने से ही कोई स्वयं संबुद्ध नहीं कहलाता। आत्म कल्याण की दृष्टि से जो जगत् के समस्त पदार्थों को जानता है–क्या हेय है, क्या उपादेय (ग्राह्य) है, क्या उपेक्षणीय (उपेक्षा करने योग्य) है, इस प्रकार पदार्थों का पूरी तरह ज्ञाता होता है और यह ज्ञान भी जिसे स्वतः प्राप्त होता है, वही स्वयं संबुद्ध कहलाता है।

'पुरुषोत्तम' शब्द का विवेचन–

भगवान् महावीर स्वामी पुरुषोत्तम थे–पुरुषों में उत्तम थे। भगवान् के अलौकिक गुणों का अतिशय ही उनकी उत्तमता का कारण है। भगवान् के बाह्य और आभ्यन्तर–दोनों ही प्रकार के गुण लोक असाधारण थे। उनका शरीर एक हजार आठ उत्तम लक्षणों से सम्पन्न था, रूप में अनुपम और असाधारण था। भगवान् के शारीरिक सौष्ठव की समानता कोई दूसरा नहीं

कर सकता था। इसी प्रकार उनके आन्तरिक गुण भी असाधारण थे। उनका ज्ञानातिशय, दर्शनातिशय एवं वचनातिशय अलौकिक एवं असामान्य था। देवराज इन्द्र उनके रूप को देखते–देखते और उनके गुणों की स्तुति करते–करते थकता नहीं था। इस प्रकार क्या शारीरिक और क्या आध्यात्मिक, सभी विशेषताएं भगवान् में असाधारण थीं। संसार का कोई भी पुरुष उनकी सानी रहीं रखता था। इस कारण भगवान पुरुषोत्तम थे।

पुरुषोत्तम शब्द का व्यवहार साधरणतया आपेक्षिक उत्तमता के कारण भी किया जाता है। सौ–दो सौ पुरुषों में जो सबसे अधिक सुन्दर हो, विशेष बुद्धिमान हो, वह भी लोक में पुरुषोत्तम कहा जाता है। मगर भगवान् में ऐसी सापेक्ष उत्तमता नहीं थी। भगवान् उत्तमता सर्वातिशयिनी थी। अर्थात् संसार के समस्त पुरुषों की अपेक्षा से थी। इस भाव को स्पष्ट करने के लिए भगवान् को आगे के विशेषण लगाये गये हैं।

पुरुषसिंह–

भगवान् पुरुषोत्तम होने के साथ पुरुषसिंह भी थे। भगवान् जंगल में रहने वाले सिंह नहीं, वरन् पुरुषों में सिंह के समान थे।

'सिंह' शब्द 'हिंस' धातु से बना है। जो हिंसा करता है अन्य प्राणियों को मारकर खा जाता है। उस वन्य पशु को सिंह कहते हैं। सिंह में अनेक दुर्गुण होते हैं। फिर अहिंसा की साक्षात् मूर्त्ति भगवान् को 'सिंह' के समान क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि उपमा सार्वदेशिक कभी नहीं होती। उपमान और उपमेय–दोनों के समस्त गुणों का मिलान कभी हो ही नहीं सकता। मुख को चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। मगर अमावस्या के अंधकार को दूर करने के लिए मुख का उपयोग नहीं किया जा सकता। क्रोधी पुरुष को अग्नि की उपमा दी जाती है। मगर भोजन पकाने के लिय क्रोधी का उपयोग नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि उपमा सदा एकदेशीय होती है। दो पदार्थों के एक या कुछ अधिक गुणों की समानता देखकर ही, एक से दूसरे को समझने के लिए उपमा का व्यवहार किया जाता है। दो पदार्थों के समस्त गुण एक सरीखे हो ही नहीं सकते। यहां भगवान् को 'सिंह' की जो उपमा दी है सो सिंह की वीरता, पराक्रम, रूप, गुण की समानता को लक्ष्य करके ही दी गई है। सिंह में जहां अनेकों दुर्गुण हैं वहां उसमें वीरता का लोक प्रसिद्ध गुण भी है। जैसे समस्त पशुओं में सिंह अधिक पराक्रमशाली

और वीर है, उसी प्रकार भगवान् समस्त पुरुषों में अधिक पराक्रमी और वीर थे। इसी अभिप्राय को प्रकट करने के लिए सिंह की उपमा दी गई है।

भगवान् में क्या शौर्य था? कैसी वीरता थी? जिसके कारण उन्हें सिंह की उपमा दी गई है? यह बतलाने के लिए आचार्य कहते हैं।

जिस समय भगवान् दीक्षा लेकर अनन्त ज्ञान आदि में प्रवृत्त हुए तब की तो बात ही निराली है। उस समय उनका पराक्रम शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। लेकिन जिस समय भगवान् बालक थे तब भगवान के पराक्रम की इन्द्र ने प्रशंसा की। इन्द्र ने कहा–'महावीर की शूरवीरता की तुलना नहीं हो सकती। उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। 'भगवान् अनुपम वीर हैं।' मनुष्य की तो विसात ही क्या है, देव और दानव भी उन्हें भयभीत नहीं कर सकता।

इन्द्र द्वारा की हुई भगवान् महावीर की इस प्रशंसा पर कुछ विरुद्ध प्रकृति वाले देवों को प्रतीति नहीं हुई। यह प्रशंसा उन्हें रुची भी नहीं। वे कहने लगे–मनुष्य में इतनी शक्ति कैसे हो सकती है? कहां देव और दानव और कहां मनुष्य ! इस प्रकार सोच कर उन्होंने भगवान् महावीर को पराजित करने का विचार किया। उनमें से एक देव, जहां महावीर बालकों के साथ खेल रहे थे वहां आया। देव बालक बन कर भगवान् महावीर के साथ खेलने लगा। उस समय जो खेल हो रहा था, उसमें वह नियम था कि हारने वाला बालक, जीतने वाले को अपने कन्धे पर चढ़ावे। भगवान् महावीर और बालक रूपधारी देव का खेल हुआ। देव हार गया। नियमानुसार देव ने महावीर को कन्धे पर बिठलाया। अपने कंधे पर बिठलाकर देव ने अपना शरीर बढ़ाना शुरू किया। देव का शरीर बढ़ते–बढ़ते बहुत ऊंचा हो गया। यह अलौकिक विस्मयजनक एवं भयोत्पादक दृश्य देखकर सब बालक बुरी तरह भयभीत हो गये। सब के सब वहां से भाग खड़े हुए। भागते–भागते वे सब महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला के पास पहुंचे। इधर देव आकाश तक बढ़ता ही चला जाता था। बालकों ने यह घटना जब महाराज सिद्धार्थ को सुनायी तो वह अवाक् रह गये और भयभीत हुए। मगर इतना ऊंचे उठने पर भी महावीर के चेहरे पर भय का एक भी चिह्न प्रकट न हुआ। उन्हें न घबराहट हुई, न चिन्ता हुई और न भय लगा।

देवता ने अपना शरीर बढ़ाते–बढ़ाते जब आकाश तक पहुंचा दिया तब महावीर ने सहज रीति से अपनी वज्र–सी मुट्ठी का धीरे से उस देव पर प्रहार

किया। मुट्ठी का प्रहार होते ही देव गिर पड़ा और अपने असली रूप में आ गया। भगवान् महावीर उस पर चढ़े हुए उसी प्रकार निर्भयतापूर्वक खेलते रहे। यद्यपि महावीर ने अत्यन्त साधारण रूप से ही देवता पर मुट्ठी–प्रहार किया था, तब भी देव उससे इतना व्यथित हुआ कि अपने मूल स्वरूप में आने पर भी वह कुबड़ा बन गया।

भगवान् के पराक्रम की परीक्षा लेकर देव को इन्द्र की बात पर प्रतीति हुई। उसने दोनों हाथ जोड़ कर कहा 'भगवान्! आप सचमुच ही वैसे वीर हैं, जैसा इन्द्र ने कहा था। आपका पराक्रम असाधारण है। आपकी वीरता स्तुत्य है। आपकी निर्भयता प्रशंसनीय है। आपका बल अद्वितीय है। आपकी शक्ति के सामने देव और दानव की भी शक्ति नगण्य है।'

इस प्रकार प्रशंसा करके देव वहां से चला गया। महावीर ने मानवीय सामर्थ्य का जो विराट स्वरूप प्रदर्शित किया उससे अनेकों में नवीन शक्ति और नये साहस का संचार हुआ। भगवान् की इस पराक्रमशीलता के कारण ही उन्हें पुरुषों में सिंह के समान कहा गया है।

पुरुषवर–पुण्डरीक–

सिंह में वीरता है, मगर जगत्–कल्याणकारिता नहीं है। उसके द्वारा संसार का कल्याण नहीं होता। अतः सिंह से भगवान् की विशेषता बतलाने के लिए भगवान् को अन्य अनेक उपमाए दी गई हैं। उनमें से एक उपमा पुण्डरीक कमल की है। भगवान् 'पुरिसवर पुण्डरीए' हैं– अर्थात् पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान हैं।

भगवान् महावीर के लिए हजार पांखुड़ी वाले पुंडरीक कमल की उपमा क्यों दी गई है? इस उपमा से भगवान् के किस धर्म का बोध कराया गया है? इसका उत्तर यह है कि जैसे पुंडरीक–कमल सफेद होता है, उसी प्रकार भगवान् में उज्ज्वल तथा प्रशस्त लेश्या और ध्यान हैं। जैसे इस कमल में मलीनता नहीं होती, उसी प्रकार भगवान् भी सब प्रकार की मलीनता से विमुक्त हैं।

कमल की उपमा देने का आशय यह है कि कृत्रिम उज्ज्वलता, उज्ज्वल होकर भी मलीन बन जाती है, जब कि अकृत्रिम उज्ज्वलता स्वाभाविक है–उसमें मलीनता नहीं आती। कमल जब तक कमल कहलाता है तब तक वह अपनी उज्ज्वलता नहीं त्यागता। इसी प्रकार भगवान् की

लेश्या, भगवान् का ध्यान, अध्यवसाय, परिणाम आदि भी स्वाभाविक रूप से उज्ज्वल हैं।

कुछ लोगों के कथनानुसार भगवान् में छद्मस्थ अवस्था में छहों लेश्याएं विद्यमान थीं इनमें कृष्णलेश्या भी है। भगवान् में कृष्ण लेश्या मानने का असली कारण यह है कि भगवान् ने गौ शालक को मरने से बचाया था और मरने से बचाना उन लोगों की दृष्टि से पाप है। पाप, कृष्ण लेश्या से ही होता है, अतएव वह लोग भगवान् में कृष्ण लेश्या का होना कहते हैं। मगर साधारण विचार से ही यह मालूम हो जाता है कि भगवान् में कृष्ण लेश्या की स्थापना करना अपनी अज्ञता प्रदर्शित करना है। भगवान् तो सदैव पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक के समान हैं। जगत् में जितने श्रेष्ठ एवं शुद्ध भाव हैं, भगवान् उन सब भावों से परम विशुद्ध हैं।

पुण्डरीक कमल की उपमा देने का एक और अभिप्राय है। इस कमल में एक हजार पंखुड़ियाँ होती हैं। अगर उसे सिर पर रखा जाय तो हजार पंखुड़ियों के कारण वह छत्र बन जाता है। छत्र बना हुआ वह पुण्डरीक कमल शोभा भी बढ़ाता है और ताप से रक्षा भी करता है। साथ ही साथ सुगन्ध प्रदान करता है। इसी प्रकार भगवान् के शरण में जाने से भगवान् अपने सिर का छत्र मानने से, पुरुषों की भक्तों की समस्त अधिव्याधि नष्ट हो जाती है। भगवान् का शरण ग्रहण करने पर कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। इसे कारण भगवान् को श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल की उपमा दी गई है।

इसके अतिरिक्त, जैसे कमल मनुष्य का संताप हटा कर उसकी शोभा बढ़ाता है, इसी प्रकार भगवान् जीवों के संताप को दूर करते हैं और उनके स्वाभाविक गुणों का प्रकाश करके उनकी शोभा बढ़ाते हैं।

कमल में एक गुण और भी है। कमल जब खिलता है तो कीचड़ से मलीन नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् भी निर्लेप हैं–पाप की मलीनता से वह लिप्त नहीं होते। किसी भी प्रकार का विकार उन्हें स्पर्श नहीं करता।

पुरिसवरगंधहत्थी–

सिंह मे सिर्फ वीरता है, सुगन्ध नही। पुण्डरीक में सुगन्ध है, वीरता नहीं, दोनों उपमाएं एकांगी हैं। भगवान् अनन्त वीरता और आत्मिक सद्गुणों के असीम सौरभी हैं। ऐसी कोई उपमा नहीं आई जिससे भगवान् के दोनों गुणों की तुलना की जा सके। अतएव शास्त्रकार एक और उपमा देता है – 'पुरिसवरगंधहत्थी।'

गंधहत्थी में ऐसी सुगन्ध होती है कि सामान्य हाथी उसकी सुगन्ध पाते ही त्रास के मारे भाग जाते हैं। वे उसके पास ठहर नहीं सकते। गंधहत्थी की इस उपमा से भगवान् के किस गुण की तुलना की गई है? इसका समाधान यह है कि भगवान् जिस देश में विचरते हैं उस देश में इति भीति नहीं होती।

अतिवृष्टि होना, अनावृष्टि होना, टिड्डी दल, चूहों आदि का उत्पात होना ईति कहलाता है। इति रूप उपद्रव होने से मनुष्य समाज में हाय हाय मच जाती है और मनुष्य मरने–मारने को तैयार हो जाते हैं। भगवान् के चरण पड़ते ही पूर्ण शान्ति का साम्राज्य छा जाता है। ऐसी भगवान् की महिमा है। भगवान् की यह महिमा गंधहत्थी की उपमा द्वारा प्रकट की गई है।

भगवान् की इस महिमा के विषय में शास्त्र का प्रमाण है। समवायांग सूत्र में भगवान् के चौतीस अतिशय बताये गये हैं। उनमें एक अतिशय यह है कि जहां भगवान् जाते हैं वहां सौ–सौ कोस में महामारी, मृगी आदि ईतियां नहीं रह सकतीं–नई उत्पन्न नहीं होतीं और यदि पहले से हो तो मिट जाती हैं।

भगवान् के प्रताप से सौ–सौ कोस तक के उपद्रव मिट जाना गुण है, अवगुण नहीं। मगर तेरहपंथ मत के अनुसार इस गुण से भगवान को पाप लगना चाहिए। क्योंकि जिस देश में, सौ–सौ कोस तक के उपद्रव मिट जाते हैं, उस देश के सभी मनुष्य संयमी तो होते नहीं है। उपद्रव होने से उन असंयत लोगों को दुःख होता था। भगवान् के प्रभाव से वह दुःख मिट जाता है और शान्ति हो जाती है। तेरहपंथ के मतानुसार किसी का दुःख दूर करके उसे शांति पहुंचाना पाप है।

जो लोग यह कहते हैं कि दुःख पाने वाले अपने पूर्वोपार्जित पाप–कर्मों को भोगते हैं, अपने ऊपर चढ़े हुए ऋण को चुकाते हैं। ऋण चुकाने में बाधा पहुंचाना–दुःख दूर करना अच्छा नहीं है। ऐसा कहने वालों को भगवान् के इस अतिशय पर विचार करना चाहिए। भगवान् जानते हैं कि मेरे जाने से अमुकदेश की प्रजा का दुःख दूर हो जायेगा, फिर भी वह उस देश जाते हैं। अगर भगवान् उस प्रजा का दुःख न मिटाना चाहते हों –दुःख मिटाना पाप हो तो भगवान् यह पाप–कर्म करने के लिए जाते ही क्यों? वे किसी गुफा में ही क्यों न बैठे रहते?

भगवान् जहां विचरते हैं वहां प्रथम तो परचक्री राजा आजा ही नहीं है, अगर आता है तो उपद्रव नहीं करता। भगवान् के चरण–कमल जिस देश में पड़ते हैं, वहां के कलह–महामारी आदि उपद्रव मिट जाते हैं।

महामारी के प्रकोप से लोग अकाल–मरण से मर रहे थे, वे भगवान् के पदार्पण से बच गये। उनका बच जाना धर्म है या पाप? इस प्रकार का विचार आना शंका करना ही जैन धर्म को कलंकित करना है। ऐसी स्थिति में जो लोग बच जाना, या किसी को मृत्यु से बचा लेना पाप कहते हैं, उनके लिए क्या कहा जाए?

भगवान् के पधारने से सौ–सौ कोस में आनन्द मंगल छा जाता है और प्रजा के दुःख बिना उपाय किये ही मिट जाते हैं। जैसे गंधहस्ती की गंध से साधारण हाथी दूर भाग जाते हैं उसी प्रकार भगवान् के पदार्पण से दुःख दूर भाग जाते हैं। अतएव भगवान् को 'पुरुषवरगंध हस्ती कहा गया है।

प्रश्न–भगवान् के विचरने के स्थान से सभी ओर सौ–सौ कोस तक उपद्रव नहीं होता और शान्ति का साम्राज्य छा जाता है तो जब भगवान् राजगृही में विराजमान थे तब अर्जुनमाली लोगों को क्यों मारता था? वह भयंकर उपद्रव क्यों मचा रहा था? भगवान् के विचरने से वह उपद्रव क्यों नहीं शान्त हुआ?

उत्तर –भगवान् महावीर के पधारने पर ही उपसर्ग मिटना चाहिए। अर्जुनमाली ने भगवान् के पधारने से पहले चाहे जो उपद्रव किया हो, मगर उनके पधारने पर भगवान् की बात तो दूर रही–उनके एक भक्त सुदर्शन के निमित्त से ही उपद्रव मिट गया। ज्योंही सुदर्शन सामने आया कि अर्जुनमाली का शैतान भाग गया और पूर्ण रूप से शान्ति का संचार हो गया।

शंका–यदि भगवान् के विचरने या विराजने पर सौ–सौ कोस तक शान्ति रहती है तो जब भगवान् समवसरण में ही विराजमान थे, तभी गौशाला ने आकर दो मुनियों को कैसे भस्म कर दिया? उस समय भगवान् का अतिशय कहां चला गया था?

उत्तर–अपवाद सर्वत्र पाये जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में वर्षा, शीत ऋतु में गर्मी और वर्षा ऋतु में सर्दी–गर्मी भी हो जाती है। यद्यपि वर्षा आदि साधारणतया ऋतु के अनुसार ही होती हैं, मगर कभी–कभी ऋतु के प्रतिकूल भी हो जाती हैं। अपवाद हो जाने पर भी ऋतु का नाम नहीं पलटता है क्योंकि साधारणतया ऋतु अनुसार ही सर्दी–गर्मी आदि होती हैं। जैसे ऋतुओं के विषय में अपवाद होते हैं, उसी प्रकार अन्य विषयों में अपवाद होते हैं। भगवान् के अतिशय के विषय में यह एक अपवाद है। दस आश्चर्यजनक जो काम हुए हैं, उनमें से एक आश्चर्यकारी कार्य यह भी है। यह अपवाद है। इस अपवाद के कारण भगवान् के अतिशय में कमी नहीं हो सकती।

गोशाला के द्वारा भगवान् महावीर का जैसा प्रकाश फैला है, वैसा प्रकाश गौतम स्वामी के होने पर भी नहीं हुआ, यदि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। भगवान् महावीर का सच्चा स्वरूप गौशाला के निमित्त से ही संसार में प्रकट हुआ। गोशालक न होता तो महावीर की सच्ची महावीरता ही प्रकट न होती।

पहलवान की पहलवानी का ठीक–ठीक पता तब तक नहीं चलता, जब तक उसके सामने दूसरा प्रतिद्वंद्वी पहलवान न हो। प्रतिद्वंद्वी पहलवान के निमित्त से ही पहलवान की पहलवानी का संसार में प्रकाश होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रतिद्वंद्वी पहलवान, किसी पहलवान में बल का संचार करता है अथवा उसे देखकर पहलवान का बल आप ही बढ़ जाता है। पहलवान में बल की प्रबलता तो पहले से ही होती है, परन्तु जनता उसके बल को नाप नहीं पाती। उसे पहलवान के बल का परिमाण मालूम नहीं हो सकता। मगर जब उस पहलवान का मुकाबला करने के लिए दूसरा पहलवान खड़ा होता है, और दोनों में कुश्ती होती है तब उसके बल का पता लगता है। इसी प्रकार भगवान् में अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त बल–वीर्य था मगर गोशालक न होता तो उसका पता संसार को कैसे लगता? भगवान् की अनन्त शक्ति का प्रकाश गोशालक के निमित्त से हुआ।

केकैयी के निमित्त से रामचन्द्र की महिमा प्रकाशित हुई। विश्वामित्र ने सत्यनिष्ठ हरिश्चन्द्र की महत्ता प्रकाशित की। कमठ के उपसर्गों से भगवान् पार्श्वनाथ के बल–विक्रम का पता चला। इसी कारण नाटकों एवं कथाओं में नायक के विरोधी प्रतिनायक की कल्पना की जाती है। प्रतिनायक के साथ होने वाले संघर्ष के द्वारा ही नायक के गुणों का प्रकाश होता है।

गोशालक महावीर भगवान् का प्रतिद्वंद्वी था। भगवान् ने उसे जलने से बचाया और फिर उसके नियतिवाद को (होनहार के सिद्धान्त को) अपने पुरुषार्थवाद द्वारा परास्त किया। इस प्रकार गौशालक के निमित्त से भगवान् महावीर में अनेक गुणों पर प्रकाश पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि गौशालक की घटना अपवाद रूप है। इस अपवाद से भगवान् के अतिशय में किसी प्रकार की शंका नहीं की जा सकती।

भगवान् पुरुषवरगन्धहस्ती थे। उनके अनुयायियों को–उनके आदर्शों का अनुसरण करने वालों को भगवान् के चरण–चिह्नों पर चलने की भावना रखने वालों को विचारना चाहिए कि उनका कर्त्तव्य क्या है?

कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर के समय में चाहे उपसर्ग दूर हुए हों, चाहे शान्ति हुई हो, लेकिन आज जो बड़े–बड़े दुःख आते हैं–जिन दुःखों को हम दैवी आपत्ति कहते हैं, उनके सामने यह 'पुरुषवरगन्धहस्ती' विशेषण क्या काम दे सकता है? इसका उत्तर यह है कि अगर इस पाठ में शक्ति न होती तो आज इसका पाठ करने की आवश्यकता ही नहीं थी। मगर भगवान् का गन्धहस्तीपन हृदय में स्थापित करने के लिए जिस उपाय की आवश्यकता है, उसके अभाव में वह हृदय में कैसे आ सकता है? सुदर्शन सेठ के हृदय में भगवान् के गन्धहस्तीपन की भावना मात्र आई थी। उस भावना मात्र से सुदर्शन इतना बलवान् बन गया कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। 1141 मनुष्यों को मारने वाला, अस्त्र–शस्त्र और सेना से युक्त और बुद्धि का धनी श्रेणिक राजा जिसका सामना नहीं कर सकता था, जिसके भय एवं आतंक से विवश होकर श्रेणिक ने नगर के फाटक बन्द करवा दिये थे, और नगर के बाहर जाने की मनाई कर दी थी, जिसके नाम मात्र से बड़ों–बड़ों के कलेजे कांपने लगते थे, उस अर्जुनमाली को सुदर्शन ने सहज ही परास्त कर दिया था। मगध का सम्राट श्रेणिक जिस अर्जुनमाली का कुछ न बिगाड़ सका उसे भगवान् के एक भक्त ने अनायास ही अस्त्र–शस्त्र का प्रयोग किये बिना ही पराजित कर दिया ! जिसके आतंक के सामने श्रेणिक का शस्त्र–तेज ठंडा पड़ गया था, उसका सामना करने के लिए किसने क्षत्रियत्व प्रकट किया, कौन क्षत्रिय बन कर सामने आया? सुदर्शन वैश्य था, मगर महावीर का भक्त था। उसने कैसा क्षात्र तेज प्रकट किया, इस पर विचार करना चाहिए।

यह बात समझो कि हम बनिये हैं–ढ़ीली–ढ़ाली धोती वाले वैश्य हैं। यह भी मत समझो कि लड़ने का काम केवल क्षत्रियों का ही है, हम कैसे लड़ें! नहीं, आप लोग वैश्य बनाये गये थे आप बनिया नहीं थे। आप किसी जमाने के क्षत्रिय हैं। आप महाजन हैं। आप जगत के लिए आदर्श बनाये गये थे। जगत को आप का अनुकरण करने का उपदेश दिया गया था।

महाजनो येन गतः स पन्था :

धीरे–धीरे आप व्यापार में पड़ गये। व्यापार में पड़ने पर बहुत कम लोग कपट से बच पाते हैं। अपना मतलब निकालने के लिए, व्यपारी लोग अपना आपा भूल कर दीनता दिखाने लगते हैं। इस प्रकार व्यापार में पड़ने पर और दीनता बताने से आपके जीवन में कायरता ने प्रवेश किया और आप ढीली धोती वाले बनिया बन बैठे। आपके पूर्वज बड़े वीर थे। वे विदेशों से धन लाकर स्वदेश की समृद्धि की वृद्धि में महत्वपूर्ण भाग लेते थे। पालिक

श्रावक ने व्यापार के निमित्त विदेश यात्रा की थी। वह वहां से एक कन्या भी लाया था। मेरे कथन का तात्पर्य यह नहीं कि आप किसी प्रकार की मर्यादा को भंग करें। मैं सिर्फ यह बतलाना चाहता हूं कि भगवान् महावीर के भक्त दीन, कायर, डरपोक नहीं होते। उनमे वीरता, पराक्रम, आत्मगौरव आदि सद्गुण होते हैं। जिनमें यह सब गुण विद्यमान हैं वही महावीर का सच्चा अनुयायी है। महावीर का अनुयायी जगत के लिए अनुकरणीय होता है—उसे देखकर दूसरे लोग अपने जीवन को सुधारते हैं।

मगर आज उल्टी गंगा बह रही है। बाहर के लोग आकर आपको विलासिता के वस्त्र त्यागने का उपदेश देते हैं। यह देख कर मुझे संकोच होता है—कि जहां भगवान् महावीर का सच्चा उपदेश है वहां विलासिता कैसी? भगवान् के उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनने वाले, मान्य करने वाले और जीवन में उन्हें स्थान देने की चेष्टा करने वाले लोगों को विलास का त्याग करने के लिए दूसरों के उपदेश की क्या आवश्यकता होती है! भगवान् का उपदेश सदा सुनने वाले सादा जीवन व्यतीत क्यों नहीं करते? उनमें सुदर्शन सरीखी वीरता क्यों नहीं आती हैं? आज बहुसंख्यक विचारक भगवान महावीर के आदर्शों की ओर झुक रहे हैं। उन्हें प्रतीत हो रहा है कि जगत् का कल्याण उनके बिना सम्भव नहीं है। पर भगवान् के आदर्शों पर अटल श्रद्धा रखने वाले आप लोग लापरवाही करते हैं तो आश्चर्य होता है। आप शायद यह विचार कर रह जाते होंगे कि यह तो हमारे घर का धर्म है। 'घर की मुर्गी दाल बराबर' यह कहावत प्रसिद्ध है।

धार (मध्यभारत) में एक साधुमार्गी सेठ थे। वह सेठ राजमान्य थे और राजा प्रजा के बीच के आदमी थे, अच्छे वैभवशाली थे। उन सेठ के बापूजी नामक एक मित्र थे। बापूजी मरहठा थे और राज—परिवार के आदमी थे। सेठजी के संसर्ग से बापूजी को जैन धर्म पर श्रद्धा हो गई। बापूजी को जैन धर्म बहुत प्रिय लगा और धीरे—धीरे वे सेठ से भी आगे बढ़ गये। राजा के यहां बापूजी का नाम 'बापूजी ढूंढ़िया' पड़ गया। सब उन्हें ढूंढिया कहने लगे। बापूजी कहा करते—अवश्य, मैंने परमात्मा को ढूंढ लिया है।

एक दिन सेठजी ने बापूजी से कहा—आपकी धार्मिकता तो मेरी अपेक्षा भी अधिक बढ़ गई है ! मेरे यहां न जाने कितनी पीढ़ियों से इस धर्म की आराधना होती आ रही है, फिर भी मैं पीछे रह गया और आप आगे बढ़ गये।

बापूजी ने उत्तर दिया—आप की पीढ़ी—जात धनी हैं, अर्थात् आपके यहां धर्म रूपी धन कई पीढ़ियों से है और मैं ठहरा जन्म से गरीब ! गरीब

को धन मिलता है तो वह उसे यत्न के साथ सम्भालता ही है। पीढ़ी जात धनिक की तरह धन पर उसकी उपेक्षा नहीं होती।

बापूजी का उत्तर सुनकर सेठजी मन ही मन लज्जित से हुए। कहने लगे आप धन्य हैं कि आप में धर्म भी आया और गरीबी भी।

तात्पर्य यह है कि उक्त सेठजी के समान आप अपनी स्थिति मत बनाइए। धर्म आपकी खानदानी चीज है, यह समझ कर इसके सेवन में ढील मत कीजिए। भगवान् महावीर गन्धहस्ती थे, यह बात आपको अपने व्यवहार द्वारा सिद्ध करनी चाहिए। इसे सिद्ध करने के लिए शक्ति का सम्पादन करो। जिसके सामने राजा श्रेणिक भी हार गया, जिसके आगे श्रेणिक का क्षत्रियत्व भी न ठहर सका, उसके सामने निर्भयतापूर्वक जाने वाला पुरुष वीर है या कायर ? 'वीर'

राजा श्रेणिक क्षत्रिय था और सुदर्शन वैश्य था। फिर भी सुदर्शन की वीरता कैसी बेजोड़ थी, इस बात का विचार करो! वैश्य वीर होते हैं, कायर नहीं होते। वैश्यों में वीरता नहीं होती, यह मूर्खों का कथन है।

वीरता में सुदर्शन का दर्जा राजा श्रेणिक से भी बढ़ गया। सुदर्शन निहत्था था—उसे हाथ में लकड़ी लेने की आवश्यकता न हुई। न उसने यही कहा कि कोई दूसरा साथ चले तो मैं चलूं। सच्चे वीर पुरुष किसी भी दूसरी चीज पर निर्भर नहीं रहते और न किसी की देखा—देखी करते हैं। सुदर्शन ने ज्यों ही भगवान् महावीर के आगमन का वृत्तान्त जाना, त्यों ही वह उठ खड़ा हुआ। उसने सोचा दूसरे किसका सहारा लिया जाय! जो संसार के सहारे हैं, उनका सहारा ही मेरे लिए पर्याप्त है।

सुदर्शन सेठ अर्जुनमाली के सामने गया। अर्जुन माली मुग्दर उछालता हुआ सुदर्शन सेठ के सामने आया। उस समय क्या भगवान् महावीर वहां मौजूद थे? 'नहीं!'

मगर भगवान् महावीर का पुरुषवरगन्धहस्तीपन सुदर्शन सेठ के हृदय में अवश्य मौजूद था। सुदर्शन के हृदय में यह कामना भी नहीं थी कि—प्रभो! मुझे अर्जुन के मुग्दर से बचा लेना।' किसी प्रकार की कामना न करके भगवान् महावीर के गन्धहस्तीपन को हृदय में स्थापित करने वाले में ही भगवान् का निवास होता है।

अर्जुनमाली लाल—लाल आंखें निकाल कर क्रूरता पूर्वक जब सुदर्शन के सामने आया, तब भी सुदर्शन ने यह विचार नहीं किया कि—'प्रभो! मुझे बचाना!' प्रत्युत उसने यह विचार किया कि प्रभो! अर्जुन के प्रति मुझे

क्रोध न आवे और जब अर्जुन मुझ पर मुग्दर का प्रहार करे तब भी आपका ध्यान अखण्ड बना रहे। अर्जुन मुझे मित्र प्रतीत हो, शत्रुता का भाव हृदय में उत्पन्न न हो।

जो लोग सुदर्शन की भांति परमात्मा से निर्वैर एवं निर्विकार बुद्धि की ही याचना करते हैं, उन्हीं का मनोरथ पूर्ण होता है। इस बात पर दृढ़ प्रतीति होते ही विरुद्ध वातावरण अनुकूल हो जाता है।

औरों के उपदेश में भाषा लालित्य और शाब्दिक सौन्दर्य भले ही अधिक मिले, लेकिन भगवान् महावीर के उपदेश में जो विचित्रता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती। लोग आज उनकी शक्ति पर विचार नहीं करते, इसी से दुःख पा रहे हैं। सुदर्शन ने भगवान् की शक्ति पहचानी थी।

निर्विकार और निर्वैर रहने की भावना पर नास्तिक को चाहे विश्वास न हो, नास्तिक भले ही शास्त्र पर और हिंसा पर विश्वास रखे, लेकिन सच्चा आस्तिक तो निर्विकार एवं निर्वैर भावना पर ही विश्वास करता है। यद्यपि हिंसा में भी शक्ति है, हिंसा की शक्ति पर श्रावकों ने भी संग्राम किये हैं, भरत बाहुबली भी लड़े हैं, लेकिन अन्तिम विजय अहिंसा की ही हुई है। जैनों को भगवान् महावीर के अहिंसा सिद्धान्त पर ही पूर्ण विश्वास है। इसलिए बमबाज बमों से, लट्ठबाज लट्ठों से चाहे मानते रहें लेकिन जैन फिर भी अहिंसा का ही उपयोग करेगा। वह अपनी उच्च भूमिका से नीचे नहीं उतर सकता।

श्रोतागण! आप वीरों के शिष्य हैं। घर में घुस कर छिप बैठने में वीरता या क्षमा नहीं है। जिन्हें दुःख में देखकर देखने वाले भी दुःखी हो जावें, पर दुःख पाने वाले उसे दुःख न समझें, बलिक देखकर दुःखी होने वालों को सान्त्वना दें–हिंसा दें, वही सच्चे वीर हैं। संसार में इससे बढ़कर दूसरी वीरता नहीं हो सकती। दुःख को भी सुख रूप में परिणत कर लेना अपनी सम्वेदना–शक्ति के प्रभाव से दुःख को सुख रूप में पलट लेना ही भगवान् महावीर की वीरता का आदर्श है।

दरवाजा बन्द करके घर में बैठे रहना वीरता नहीं है, मगर मरने के स्थान पर जाकर भी धैर्य त्यागने में वीरता है, महावीर का सच्चा अनुयायी भक्त द्वार बन्द करके घर में नहीं छिप रहता, वरन खुले मैदान में खड़ा हो जाता है और दृढ़ स्वर में कहता है–मेरा प्रभु पुरुषवरगन्धहस्ती है। मेरा कौन क्या बिगाड़ सकता है?

लोकोत्तम–लोकनाथ–

श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बू अनगार से कहते हैं–भगवान् महावीर पुरुषसिंह हैं, पुण्डरीक हैं और पुरुषगंधहस्ती हैं। इन उपमाओं के कारण भगवान् पुरुषोत्तम हैं। मगर वह केवल पुरुषोत्तम ही नहीं हैं, लोकोत्तम भी हैं। लोक शब्द से स्वर्गलोक, मृत्युलोक और पाताललोक तीनों का ग्रहण होता है। तीनों लोकों में जो ज्ञान आदि गुणों की अपेक्षा सब में प्रधान हो वह लोकोत्तम कहलाता है।

पुरुषोत्तम और लोकोत्तम विशेषणों के अर्थ में अन्तर है। पुरुषोत्तम विशेषण से मनुष्य लोक में ही उत्तमता प्रकट की गई है अर्थात् भगवान् समस्त मनुष्यों में उत्तम थे, यह भाव प्रदर्शित किया गया है और लोकोत्तम विशेषण का तात्पर्य यह कि भगवान् तीनों लोकों में रूप की अपेक्षा उत्तम होने के साथ–साथ तीनों लोकों के नाथ भी हैं। तीन लोक के नाथ होने से भगवान् लोकोत्तम हैं। नाथ शब्द का अर्थ है–

योगक्षेमकरो नाथः।

अर्थात् योग और क्षेम करने वाला नाथ कहलाता है।

योग का अर्थ है–अप्राप्त वस्तु को प्राप्त होना और क्षेम का अर्थ है–प्राप्त वस्तु की संकट के समय रक्षा होना। भगवान् योग भी करने वाले हैं और क्षेम भी करने वाले है, अतः वह नाथ हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि सद्गुण, जो आत्मा को अनादि काल से अब तक प्राप्त नहीं हैं, उन्हें भगवान् प्राप्त कराने वाले हैं। और यदि यह सद्गुण प्राप्त हो गये हैं तो किसी संकट के समय इनसे विचलित होना संभव है, मगर भगवान् इसकी रक्षा करते हैं।

सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की रक्षा भगवान् किस प्रकार करते हैं? इसका उत्तर यह है कि भगवान् का साधक जीवन धार्मिक दृढ़ता का ज्वलंत उदाहरण है। घोर से घोर उपसर्ग आने पर भी भगवान् अपने निश्चित पथ से रंच मात्र भी विचलित नहीं हुए। उनके जीवन को यह व्यावहारिक आदर्श संकट के समय उनके भक्तों का अद्भुत प्रेरणा, असीम साहस, दृढ़ता और सान्त्वना प्रदान करता है। उनके आदर्श का स्मरण करके भक्तजन संकट को विचलित हुए बिना सहज ही पार कर लेते हैं। इस प्रकार उनके भक्तों के सद्गुणों की रक्षा होती है। इसी प्रकार भगवान् का उपदेश भी सद्गुणों की रक्षा में सहायक होता है।

संसार में समान्यतया देवता और इन्द्र पूज्य माने जाते हैं। लोग उनकी पूजा करते हैं। मगर इन्द्र आदि देवता भी भगवान् को ही पूजनीय मानते हैं। भगवान् उनके भी नाथ हैं। भगवान् देवाधिदेव हैं। इस विशेषता को सूचित करने के लिए भगवान् को 'लोकनाथ।' विशेषण लगाया गया है।

लोकप्रदीप–

लोक के नाथ होने के साथ भगवान् लोक–प्रदीप भी हैं–लोक के लिए दीपक के समान हैं। भगवान् लोक को यथावस्थित वस्तु स्वरूप दिखलाते हैं, इसलिए लोकप्रदीप हैं। अन्धकार से आच्छादित वस्तुओं को दीपक प्रकाशित कर देता है, इसी प्रकार अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण आच्छादित वस्तु के वास्तविक स्वरूप को भगवान् प्रकाशित करते हैं।

घर का दीपक घर में प्रकाश करता है, कुल का दीपक कुल में प्रकाश करता है, नगर का दीपक नगर में प्रकाश करता है और देश का दीपक देश में प्रकाश करता है। जो जहां प्रकाश करता है वह वहीं का दीपक कहलाता है। भगवान् सम्पूर्ण लोक में प्रकाश करते हैं, इसलिए वह लोक के दीप कहलाते हैं। इसी कारण उन्हें 'जगदीश्वर' कहते हैं।

अथवा भगवान् मनुष्य, तिर्यंच देव आदि के हृदय में मिथ्यात्व के अन्धकार को मिटाकर सम्यक्त्व का ऐसा अपूर्व एवं अलौकिक प्रकाश देते हैं कि वैसा प्रकाश संसार का कोई भी प्रकाशवान् पदार्थ नहीं दे सकता। भगवान् की स्तुति करते हुए कहा गया है–

रवि शशि न हरे सो तम हराय

अर्थात्–जो अन्धकार सूर्य और चन्द्रमा भी नहीं मिटा सकते, वह अन्धकार भगवान् मिटा देते हैं।

द्रव्य–अन्धकार की अपेक्षा भाव–अन्धकार अत्यन्त सूक्ष्म और गहन होता है। द्रव्य अन्धकार इतना हानिकारक नहीं होता, जितना भाव–अन्धकार होता है। भाव–अन्धकार होने पर मनुष्य की आंखें द्रव्य प्रकाश की विद्यमानता में भी वस्तु तत्व को देखने में असमर्थ हो जाती हैं। भाव अन्धकार मनुष्य की समस्त इन्द्रियों को, यहां तक मन और चेतना को भी बेकार बना डालता है। भगवान् भाव–अन्धकार को हरने वाले दिव्य दीपक हैं–अतएव 'लोक प्रदीप' हैं। यह विशेषण दृष्टा लोक की अपेक्षा कहा गया है, क्योंकि भगवान् दृष्टा अर्थात् देखने वाले के लिए दीपक का काम कर देते हैं, लेकिन हैं वह सारे संसार को प्रकाशित करने वाले।

प्रश्न हो सकता है कि लोक किसे कहते हैं? उसका उत्तर यह है कि लोकि विलोकने धातु से 'लोक' शब्द बना है। जो देखा जाये वह लोक है। यों तो सभी का लोक दिखाई देता है, मगर जिसे सब लोग देखते हैं उसी को लोक माना जाये तो लोक के टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे। अतएव साधारण मनुष्य के देखने में जो आता है वही लोक नहीं है अपितु ज्ञानावरण का पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर, सर्वज्ञ भगवान् को जो देखता है वह लोक है।

यहां फिर तर्क किया जा सकता है कि सर्वज्ञ भगवान् क्या अलोक को नहीं देखते? अगर अलोक को देखते हैं तो अलोक भी लोक हो जाएगा। अगर अलोक को भगवान् नहीं देखते तो वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कैसे कहलाएंगे? इस का उत्तर यह है कि आकाश के जिस भाग में पंचास्तिकाय दिखाई देता है वह भाग लोक कहलाता है और जिस भाग में पंचास्तिकाय नहीं है, केवल आकाश ही आकाश है वह अलोक कहलाता है। भगवान् सम्पूर्ण संसार के वस्तु स्वरूप को देखते हैं, अतएव वे लोक के सूर्य कहलाते हैं।

लोक प्रद्योतकर-

भगवान् लोक-प्रद्योतकर भी हैं। संसार के समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप केवलज्ञान द्वारा जानकर प्रकाशित करने वाले हैं। उन्होंने केवलज्ञान रूपी प्रकाश से जानकर छद्मस्थ जीवों को लोक का स्वरूप प्रदर्शित किया है, अतएव भगवान् सूर्य हैं।

भगवान् के केवल ज्ञान रूपी प्रभाकर से प्रवचन रूपी प्रभा का उद्गम हुआ है। उस प्रवचन रूपी प्रभा से यह सिद्ध होता है कि भगवान् में केवल ज्ञान का प्रकाश विद्यमान था। जैसे प्रकाश के होने से सूर्य जाना जाता है, वैसे ही प्रवचन की प्रभा से यह जाना जाता है कि भगवान् में केवलज्ञान रूपी प्रकाश है और इसी कारण गणधरों ने भगवान् को लोक का सूर्य कहा है। यद्यपि सूर्य के प्रकाश से समस्त संसार के समस्त पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकते-सूर्य सिर्फ स्थूल जड़ पदार्थों को ही प्रकाशित कर सकता है, और वह भी सदा के लिए नहीं किन्तु कुछ ही समय के लिए प्रकाशित कर सकता है; और भगवान् चौदह राजू लोक को-समस्त संसार के समस्त स्थूल, सूक्ष्म, रूपी, अरूपी, जड़-चेतन को प्रकाशित करते हैं। ऐसी अवस्था में भगवान् को सूर्य रूपी उपमा देना हीनोपमा ही कहा जा सकता है, मगर उपमा के बिना वस्तु का स्वरूप सर्व साधारण को सुगमता से समझ में नहीं आता और

संसार में सूर्य से बढ़कर प्रकाश देने वाला कोई पदार्थ नहीं है। इसी कारण भगवान् को सूर्य की उपमा देनी पड़ती है।

अभयदए–

सभी अपने–अपने अभीष्ट देव की प्रशंसा करते हैं। जैसे तीर्थंकर भगवान् को लोक–प्रद्योतकर मानते हैं उसी प्रकार हरि, हर–ब्रह्मा आदि के अनुयायी उन्हें भी लोक–प्रद्योतकर मानते हैं। सूर्य भी लोक में उद्योत करने वाला है। फिर हरि, हर ब्रह्मा और सूर्य से भगवान् में क्या विशेषता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भक्तों के विशेषण लगा देने से ही भगवान् में विशेषता नहीं आ जाती। शाब्दिक विशेषण से ही वस्तु पलट नहीं सकती। भगवान् में हरि, हर आदि देवताओं से जो विशेषता है, वह भगवान् के सिद्धान्तों में स्वतः प्रकट हो जाती है। भगवान् के सिद्धान्तों में क्या विशेषता है, यह देखना चाहिए। यही बात दिखाने के लिए भगवान् को 'अभयदए' विशेषण लगाया गया है।

भगवान् की एक विशेषता यह है कि वह अभयदाता हैं। भगवान् के प्राण–हरण करने के उद्देश्य से आने वाले पर भी भगवान् की अपूर्व अनुकम्पा अखण्ड करुणा रही। मारने वाला कषाय के भयंकर ताप से तप्त होता था, तब भगवान् ने अपनी अद्भुत दया के शीतल प्रवाह से उसे शान्ति पहुंचाने का ही प्रयत्न किया। चण्डकौशिक क्रोध की लप–लपाती ज्वालाओं में झुलस रहा था और भगवान् को भी झुलसाना चाहता था परन्तु भगवान् के अन्तःकरण से करुणा के नीरकण ऐसे निकले कि चण्डकौशिक का भी अन्तःकरण शान्त हो गया और उसे स्थायी शान्ति का पथ मिल गया।

भगवान् ने अनुकम्पा को अपने जीवन में मूर्त्त स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने अपनी साधना द्वारा दया को जीवित किया और जनता को अभयदान देने का उपदेश दिया, जिससे संसार से भय मिट कर अभय का साम्राज्य छा जावे। 'सव्वेसु दाणेंसु अभयप्पयाणं' अर्थात् अभयदान सभी दानों में श्रेष्ठ है, इस सत्य की भगवान् ने घोषणा की।

यह भगवान् की विशेषता है। कदाचित् सूर्य के साथ 'लोकप्रद्योतकर' विशेषण दिया जाये, तब भी सूर्य अभयदान नहीं दे सकता। इसी प्रकार हरि, हर आदि के जो चरित्र उनके भक्तों के लिखे हुए उपलब्ध हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि हरि–हर आदि ने बड़े–बड़े भीषण युद्ध कर के दैत्यों को मारा और

वे दैत्यारि कहलाए। इस प्रकार युद्ध करने और मारने की बात तो उनके चरित्र में लिखी गई है, मगर यह नहीं लिखा कि उन्होंने मारने के उद्देश्य से आने वाले को भी अभयदान दिया। यह विशेषता तो केवल तीर्थंकरों में ही है। विष्णु दैत्यारि और त्रिशूलधारी कहलाते हैं, लेकिन तीर्थंकरों जैसी दया–भावना वहां कहाँ है ? तीर्थंकरों के चरित्र दया के अनुपम आदर्श हैं और अब भी संसार में दया का जो गुण विद्यमान है वह उन्हीं परम पुरुषों के जीवन की थोड़ी बहुत वसीयत है।

कहा जा सकता है कि शिव, विष्णु आदि के संबंध में हिंसात्मक जो वर्णन है वह सब आलंकारिक है। वास्तव में उन्होंने आन्तरिक दैत्यों से अर्थात् काम, क्रोध, मद, मोह आदि से युद्ध किया था और उन्हीं को मारा था। अगर यह कथन सत्य मान लिया जाये तो उनमें और तीर्थंकरों में अन्तर ही क्या रहा? हम तो उसी के प्रशंसक हैं–उसी के उपासक हैं, जिसमें तीर्थंकरों की सी दया है। जिसमें तीर्थंकरों की दया है वही तीर्थंकर है। नाम किसी का कुछ भी हो, जिसमें तीर्थंकर भगवान् के समस्त गुण विद्यमान हों, वह हमारा उपास्य देव है। कहा भी है–

यत्र तत्र समये यथा तथा,
योऽसि सोऽझसभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवान्,
एक एव भगवान् नमोऽस्तु ते।।

अर्थात् किसी भी परम्परा में, किसी भी नाम से, किसी भी रूप में आप क्यों न हों, मगर दोषों की कलुषता से रहित हैं–पूर्ण वीतराग हैं, तो सभी जगह एक हैं। ऐसे हे भगवान्! आपको मेरा प्रणाम है।

नाम पूजनीय नहीं होता, वेष वन्दनीय नहीं होता, पूजा–वन्दना गुणों की होती है और होनी चाहिए। अगर हरि, हर आदि की दया–भावना अर्हन्तों जैसी ही मानी जाये तो वह भी अर्हन्त ही हो जाएंगे। मगर ऐसा मानने में जो बाधा उपस्थित होती है वह यही है कि उनके संबंध में पुराणों में लिखी हुई कथाएं मिथ्या माननी होंगी, क्योंकि अनेक कथाओं का समन्वय इस दया भावना से नहीं किया जा सकता।

भगवान् अपना उपकार करने वाले पर भी जो लोकोत्तर दया दिखलाते हैं वह असदृश है, असाधारण है, उसकी तुलना भगवान् की ही दया से की जा सकती है, किसी और की दया से नहीं। भगवान् की दया से प्राणी तात्कालिक निर्भयता ही प्राप्त नहीं करता, मगर सदा के लिए अभय बन जाता है। इसी कारण 'भगवान्' अभयदए हैं।

चक्खुदए–मग्गदए

भगवान् में केवल अनर्थ–परिहार अर्थात् दुःख से मुक्ति देने का ही गुण नहीं है, अपितु अर्थ अर्थात् इच्छित वस्तु की प्राप्ति भी कराते हैं।

भगवान् स्वयं अकिंचन् हैं–उनके तन पर वस्त्र नहीं, साथ में कोई संपदा भी नहीं, तिल–तुष मात्र परिग्रह नहीं, किसी भी वस्तु को पास रखते नहीं, फिर वे इच्छित अर्थ कैसे और कहां से देते हैं? इसका समाधान यह है कि संसार के मोह एवं अज्ञान से आवृत जन जिसे अर्थ कहते हैं वह वास्तव में अर्थ नहीं अनर्थ है। वह अर्थ–अनर्थ इस कारण है कि उससे दुःखों की परम्परा का प्रवाह चालू होता है जो दुःख का कारण है, उसे अनर्थ न कह कर अर्थ कैसे कहा जा सकता है? भगवान् अनर्थ से छुड़ाने वाले हैं और अर्थ देने वाले हैं। अर्थ वह है जिससे दुःख का दावानल शान्त होता है और शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। भगवान् ऐसे ही अर्थ को देने वाले हैं, क्योंकि वे 'चक्षु' देने वाले हैं, सुख का मार्ग बताने वाले हैं, शरण देने वाले हैं, धर्म देने वाले हैं और धर्म का उपदेश देने वाले हैं। यह बात एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट रूप से समझी जा सकेगी।

एक धनी आदमी धूर्तों के धोखे में आ गया। वह धन लेकर धूर्तों के साथ जंगल में गया। जंगल में पहुंच जाने पर धूर्तों ने धनिक को बांध लिया, उसकी आंखों पर पट्टी बांध दी और मार पीट कर, उसका धन छीन कर चलते बने। धनिक बंधा हुआ जंगल में कष्ट पा रहा था। कहीं कुछ भी ,खटका होता कि उसका हृदय कांपने लगता था। उसके हाथ–पैर बंधे थे, अपनी रक्षा करने में असमर्थ था। इस कारण भय भी अधिक बढ़ गया था।

कुछ समय पश्चात् एक सार्थवाह उधर से निकला। उसके रथ की और घोड़ों के टाप की आवाज सुनकर वह धनिक आप ही आप कहने लगा–'अरे भले मानुसों! तुम ले गये सो ले गये, ले जाओ, अब क्यों कष्ट देने आये हो?' धूर्तों की मार से वह इतना घबराया हुआ था कि आहट होते ही वह समझता था कि वही धूर्त फिर आ रहे हैं और मुझे मारेंगे।

धनिक की यह चिल्लाहट सुनकर सार्थवाह ने सोचा मैंने इससे कुछ भी कहा नहीं इसका कुछ किया भी नहीं; फिर भी यह तो कुछ कह रहा है, उससे प्रकट है कि यह सताया गया है और भयभीत है। मुझे धूर्त समझने में इस बिचारे का कोई अपराध नहीं है, क्योंकि इसकी आंखों पर पट्टी बंधी हुई है।

यह सोचकर सार्थवाह ने कहा—'भाई ! डरो मत। मैं तुम्हें दुःख से मुक्त करने आया हूं।'

सार्थवाह के यह कहने पर भी उस भयभीत की आशंका न मिटी। वह मन में सोचता रहा कि कहीं यह भी ठग ही न हो और मुझे फिर सताने आया हो। सार्थवाह ने भी सोचा—मैं जिह्वा से कह रहा हूं कि तुझे भयमुक्त करने आया हूं, मगर जब तक इसके बंधन न खोल दूं, तब तक इसे विश्वास कैसे हो सकता है? बंधन मुक्त होने पर ही यह भयमुक्त होकर विश्वास कर सकेगा।

यह सोचकर सार्थवाह उसके समीप गया और उसने बंधन खोल दिये। बंधन खोलने पर भी उसे पूरा विश्वास न हुआ। लेकिन जब सार्थवाह ने उसकी आंखों की पट्टी भी खोल दी और उसने देख लिया कि यह ठग नहीं—कोई दयालु पुरुष है, तब उसे विश्वास हुआ। उसने कहा— मेरे भाग्य अच्छे थे कि आप जैसे दयामूर्ति पुरुष का यहां आगमन हुआ, नहीं तो न जाने कब तक मैं यहां बंधा हुआ कष्ट पाता अथवा किसी जंगली जानवर का भक्ष्य बन जाता।

सार्थवाह के शब्द जब कार्यरूप में परिणत हुए तभी उस धनिक को उन शब्दों पर विश्वास हुआ।

सार्थवाह ने उसकी आंखों की पट्टी खोल दी और वह सब कुछ देख सकता था; मगर धूर्त लोग उसे इस तरह घुमा फिरा कर उस स्थान पर लाये थे कि उसे मार्ग की कल्पना नहीं हुई और दिग्मूढ़ होकर चक्कर में पड़ गया। उसे अपने घर का रास्ता नहीं सूझता था। तब सार्थवाह ने उसे मार्ग भी बता दिया।

सार्थवाह ने उसे घर का मार्ग बता दिया। लेकिन धनिक का भय बना हुआ था कि रास्ते में कहीं फिर धूर्त न मिल जाएं इसलिए सार्थवाह ने उसे शरण दी अर्थात् दो चार सवार उसके साथ कर दिये।

सार्थवाह द्वारा इतना सब कर देने पर भी धनिक अपने घर जाने में सकुचाता था। वह अपना धन खो चुका था। अब वह अपना मुंह घर वालों को कैसे दिखावे? यह बात जानकर सार्थवाह ने उसे उतना धन भी दिया जितना उसने गंवाया था।

भगवान् को लोकोत्तम और पुरुषोत्तम कहने के साथ ही 'अभयदय' भी कहा गया है। इसी विशेषण को समझाने के लिए यह दृष्टान्त दिया गया है।

संसारी आत्मा धनिक के समान है। आत्मा के पास अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि रूप धन है। काम क्रोध आदि दुर्गुण ठग हैं। इन ठगों ने संसार की वस्तुओं का आत्मा रूपी धनिक को ऐसा मनोहर एवं आकर्षक रूप दिखाया कि आत्मा उन ठगों के जाल में फंस गयी और उन वस्तुओं को ही अपने लिए परम हितकारी मानने लगी। इस प्रकार काम, क्रोध आदि ठगों ने आत्मा को उसके असली घर से बाहर निकाला, संसार रूपी वन में ले जाकर डाल दिया और ज्ञान–नेत्रों पर अज्ञान का पट्टा चढ़ा दिया।

जिसके द्वारा ज्ञान का हरण हो वही सच्चा दुर्गुण है। धन–माल लूट लेने वाला वैरी वैसा नहीं है, जैसा वैरी सच्ची बुद्धि बिगाड़ने वाला होता है।

अनेक विद्वानों का यह मत है कि औरंगजेब शाही एवं नादिरशाही से भारत की वैसी हानि नहीं हुई थी। क्योंकि उन्होंने सिर्फ शस्त्राघात ही किया था। वास्तविक और महान् हानि तो उस शाही से हुई है, जिसने बुरी–बुरी बातों में फंसा कर बुद्धि को ही नष्ट कर दिया, साहित्य को गंदा कर दिया, जिससे सत्य का पता लगाना ही कठिन हो गया है। धूर्त्त लोग बुद्धि–चक्षु को हरण करके, बुरे कामों में इस तरह फंसा देते हैं कि जिससे छूटना ही कठिन हो जाता है।

वे लोग भूल करते हैं जो धूर्तों द्वारा दी हुई चीज के लिए यह समझते हैं कि उन्होने कृपा करके यह दी है। धूर्त लोग जो भी चीज देंगे, वह बुद्धिहरण करने के लिए ही देंगे। भलाई की भावना से किया गया काम और ही तरह का होता है। लेकिन धूर्तों ने लोगों की अच्छी वस्तु हरण करके बुरी चीजें उनके गले मढ़ दी हैं।

इस प्रकार आत्मा रूपी सेठ संसार रूपी वन में, बंधन–बद्ध होकर कष्ट पा रहा है। ऐसे समय में अरिहन्त भगवान् के सिवाय और कौन करुणा–सिन्धु होकर सहायक बन सकता है ? कौन प्रकाश प्रदान कर सकता है?

हरि, हर ब्रह्म, अनन्त कुछ भी कहो–जिसने कर्मों का समूल क्षय प्राप्त कर लिया है, जिसने अनन्त प्रकाश पुंज प्राप्त कर लिया है और संसार को अभय देता है, वही हमारा पूज्य है। परन्तु जिस हरि, हर आदि को नीच कामनाओं के साथ गूंथ कर लोग अपना स्वार्थ साधन करते हैं, हम उन के भक्त कैसे हो सकते हैं? कामनाओं के कीचड़ से निकलना ही जिनका एक मात्र उद्देश्य है, जो अपने जीवन को शुद्ध एवं स्वच्छ बनाना चाहते हैं, वे सकाम देवों की उपासना नहीं करेंगे। अरिहन्तों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बुरे

काम, चाहे किसी के नाम पर किये जावें, बुरे ही हैं। बुरे कामों में शरीक होना भले आदमियों का कर्त्तव्य नहीं है।

कल्पना कीजिए, एक आदमी बंधा पड़ा है। दो आदमी उसके पास पहुंचे। उनमें से एक आदमी ने उसे आश्वासन दिया। कहा–'भाई डरो मत, तुम्हारे कष्टों का अन्त आ रहा है' इसके विरुद्ध दूसरा कहता है–'अजी, यह बंधा हुआ है। कुछ बिगाड़ तो सकता नहीं, इसके कपड़े छीन डालो।'

बताइये, इन दोनों में कौन उत्तम पुरुष है? आपके हृदय की स्वाभाविक संवेदना किसकी ओर आकृष्ट होती है? निस्सन्देह अभय देने वाला ही उत्तम है और प्रत्येक का हृदय इसी बात का समर्थन करेगा। भगवान् ने किसी को अंधकार में नहीं रक्खा। उन्होंने कहा–पहले मुझे भी पहचान लो। अगर मुझ में अभयदान आदि का गुण दिखाई दे तो मेरी बात मानो, अन्यथा मत मानो। इस प्रकार संसार–वन में बन्धे हुए लोगों को भगवान् ने ज्ञान–चक्षु दिये हैं।

जैन धर्म किसी की आंखों पर पट्टा नहीं बांधता अर्थात् वह दूसरों की बात सुनने या समझने का निषेध नहीं करता। जैन धर्म परीक्षा–प्रधानता का समर्थन करता है और जिन विषयों में तर्क के लिए अवकाश हो उन्हें तर्क से निश्चित कर लेने का आदेश देता है। जैन धर्म विधान करता है कि अपने अन्तर्ज्ञान पर से पर्दा हटाकर देखो कि आपको क्या मानना चाहिए और क्या नहीं।

भगवान् ने ज्ञान–चक्षु देकर आत्मा को उसके स्थान का मार्ग बतलाया। भगवान् ने कहा तू मेरी ही आंखों से मत देख–अर्थात् मेरे ही बताये रास्ते पर मत चल, किन्तु तू स्वयं भी अपने ज्ञान–चक्षु से देख ले कि मेरा बतलाया मार्ग ठीक है या नहीं। तू अपने नेत्रों से भी देखकर मार्ग का निश्चय करेगा तो अधिक श्रद्धा और उत्साह के साथ उस पर पर चल सकेगा।

मित्रों! किसी के कह देने मात्र से अथवा अमुक शास्त्र के भरोसे मत रहो। अपने आप अपने मार्ग का निश्चय करो। अगर स्वतः विचार करने पर दया का मार्ग तुम्हे भला मालूम हो, फिर अरिहंत की शरण ग्रहण करना।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि धूर्तों द्वारा ठगा गया वह धनिक अपने घर का पता जानता था, लेकिन हमें क्या मालूम कि हम कहां से आये हैं? ऐसी दशा में हम अपने घर की कैसे खोज करें और कैसे वहां तक पहुंचे?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस समय आपकी आत्मा अपना स्थान खोजने के लिए खड़ी हो जायेगी, उस समय उसे यह भी मालूम हो जायेगा कि इसका घर कहां है? आत्मा में यह स्वाभाविक गुण है कि खड़ा होने के

बाद वह अपने घर की दिशा को जान लेगी, धोखा नहीं खायेगी। रात–दिन हिंसा करने में लगे रहने वाले और हिंसा से ही जीवन यापन करने वाले हिंसक प्राणी की आत्मा में भी तेज मौजूद है। लेकिन वह तेज तभी काम आ सकता है जब उसकी आत्मा अपना स्थान देखने को और अपना उद्धार करने को खड़ी हो जाती है। वह अपने आपको कब खड़ा कर सकती है और किस प्रकार खड़ा कर सकती है, इस सम्बन्ध में भगवान् ने कहा कि वह अपनी आत्मा से दूसरों के दुःख का अनुभव करे। एक की हिंसा करने में ही आनन्द मानने वाले दूसरे हिंसक को ही मारने के लिए यदि कोई तीसरा व्यक्ति आ जाये, तो उस हिंसक व्यक्ति को तीसरा व्यक्ति कैसा लगेगा? बहुत बुरा। उसे दूसरों को मारना तो अच्छा लगता है, मगर जब अपने मरने का समय उपस्थित होता है तो बुरा क्यों लगता है? इस अनुभव के आधार पर ही हिंसक को यह मालूम हो जायेगा कि दूसरे को मारना कैसा बुरा है। आत्मा में इस अनुभव के पश्चात् होने वाला गुण पहले ही मौजूद है, पर अज्ञान यह है कि वह अपने भय को तो भय मानता है, लेकिन दूसरे के भय को भय नहीं जानता। जब इस प्रकार का अनुभव करके उस पर विचार करता है कि मुझको मारने वाला मुझे इतना बुरा लगता है तो जिन्हें मैंने मारा है, उन्हें मैं क्यों न बुरा लगा होऊंगा?' इस प्रकार का विचार आते ही वह सोचने लगता है कि यह मुझे मारने नहीं वरन् शिक्षा देने आया है।

हिंसक के हृदय में जब यह पवित्र विचार अंकुरित होता है, तभी उसके जीवन की दिशा बदलने लगती है। वह अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए खड़ा हो जाता है। तब क्यों न उसका उद्धार होगा।

आत्मा के स्थान की यही दिशा है। मनुष्य अपने सुख–दुःख की तराजू पर दूसरे के सुख–दुःख को एवं इष्ट–अनिष्ट को तोले। 'मुझे कोई कष्ट देता है तो वह मुझे अप्रिय लगता है, इसी प्रकार अगर मैं किसी को कष्ट पहुंचाऊंगा तो मैं भी उसे अप्रिय लगूंगा। मुझे सुख–साता प्रिय है, दुख अप्रिय है।' यह आत्मौपम्य की भावना मनुष्य को अनेक उलझनों में से पार कर ठीक मार्ग बतलाती है। इसी भावना से कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करता वह चक्कर में पड़ जाता है।

भगवान् महावीर ने कर्त्तव्य स्थिर करने के लिए संसारी जीवों के हितार्थ उन्हें 'चक्षु' का दान दिया है। चक्षु दो प्रकार के हैं–एक इन्द्रियरूपी चक्षु और दूसरा श्रुत ज्ञान रूपी चक्षु। भगवान् श्रुत ज्ञान रूपी नेत्र के दाता हैं।

श्रुत ज्ञान को चक्षु क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि चर्म–चक्षु मनुष्य किसी वस्तु को देखकर अच्छी या बुरी समझते हैं। उनका यह ज्ञान सीमित ही है। किसी खास सीमा तक ही वे अच्छाई या बुराई बता सकते हैं। अतएव इन आंखों से दीखने वाली शुभ वस्तु अशुभ भी हो जाती है और अशुभ, शुभ भी दीखने लगती है। इस प्रकार मानवीय चक्षु भ्रामक भी हो जाता है। लेकिन तात्विक अच्छाई या बुराई बताने वाला श्रुत ज्ञान ही है। श्रुत ज्ञान आप्त–जन्म होने के कारण भ्रामक नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि वही मनुष्य सच्चा नेत्रवान् है, जिसे श्रुत का लाभ हुआ है, क्योंकि श्रुतज्ञान रूपी चक्षु से वह वस्तु की वास्तविक बुराई या भलाई देख सकता है कि यह पदार्थ हेय है, यह उपादेय है और यह उपेक्षणीय है। अतएव जिसे श्रुत–नेत्र प्राप्त नहीं हैं, उसे अन्धा ही समझना चाहिये।

जैसे जंगल में बन्धे हुए धनिक की आंखें खोल देने से और उसे अभीष्ट मार्ग बताने से सार्थवाह चक्षुर्दय और मार्गदय कहलाता है, उसी प्रकार संसार रूपी वन में, रागादि विकार रूपी ठगों ने, आत्मा रूपी धनिक को बांध कर इसका धर्म रूपी धन छीन लिया है और कुवासना की पट्टी बांधकर इसे अंधा बना दिया है और विपत्ति में डाल दिया है। भगवान् महावीर आत्मा के ज्ञान नेत्र पर पड़े हुए पर्दे को हटाकर श्रुतधर्म रूपी चक्षु देते हैं और निर्वाण का मार्ग बतलाते हैं। इस कारण भगवान् चक्षुदाता और मार्गदाता हैं।

सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय मोक्ष मार्ग हैं। भगवान् ने इसका वास्तविक स्वरूप जगत् को प्रदर्शित किया है, अतएव वह मुक्तिमार्ग के दाता कहलाते हैं।

जैसे संसार में मार्ग भूले हुए को और चोरों से लूटे को नेत्र देकर निरुपद्रव स्थान पर भेज देने वाला उपकारी माना जाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रुत धर्म रूपी चक्षु देकर, मोक्ष रूपी निर्विघ्न स्थान पहुंचा देते हैं। वहां पहुंच कर जीव सदा के लिए अनन्त सुख का भोक्ता और सभी प्रकार की उपाधियों से रहित बन जाता है। अतएव भगवान् परमोपकारी हैं।

शरणदय

चक्षुदाता और मार्गदाता होने के साथ ही भगवान् शरणदाता भी हैं। शरण का अर्थ है–त्राण। आने वाले तरह–तरह के कष्टों से रक्षा करने वाले को शरणदाता कहते हैं। भगवान् की शरण में आने पर जीव को कष्ट नहीं

होते। भगवान् की शरण ग्रहण करने से जीव निर्वाण को प्राप्त करता है, जहां किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता। यही नहीं, भगवान् की शरण में आने वाला जीव मोक्ष जाने से पहले भी संसार में रहता हुआ ही कष्टों से मुक्त हो जाता है। वह समताभाव के दिव्य यन्त्र में डालकर दुःख को भी सुख के रूप में पलटने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

संसारी जन मोह एवं अज्ञान के कारण कुटुम्बी जनों को, धन–दौलत को और सेना आदि को शरणभूत समझ लेते हैं। मगर सूर्य के प्रकाश की तरह यह स्पष्ट है कि वास्तव में इन सब वस्तुओं में शरण देने की शक्ति नहीं है। जब असातावेदनीय के तीव्र उदय से मनुष्य दुःख के कारण व्याकुल बन जाता है तब कोई भी कुटुम्बी उसका त्राण नहीं कर सकता। काल रूपी सिंह जीवन रूपी हिरन पर जब झपटता है तब कोई रक्षण नहीं कर सकता। सेना और धन अगर रक्षक होते तो संसार के असंख्य भूतकालीन सम्राट और धनकुबेर इस पृथ्वी पर दिखाई देते। मगर आज उन में से किसी का अस्तित्व नहीं है। सभी मृत्यु का शिकार हो गये। विशाल सेना खड़ी रही और धन से परिपूर्ण खजाने पड़े रहे–किसी ने उनकी रक्षा नहीं की। जब संसार का कोई भी पदार्थ स्वयं ही सुरक्षित नहीं है तो वह किसी दूसरे की सुरक्षा कैसे कर सकता है? संसार को त्राण देने की शक्ति केवल भगवान् में ही है। वही सच्चे शरणदाता हैं।

धर्मोपदेशक–धर्मदाता

भगवान् की शरण कैसे मिल सकती है ? इसका उत्तर भगवान् के 'धर्मोपदेशक' विशेषण में निहित है। भगवान् धर्मोपदेशक हैं धर्म का उपदेश देते हैं। धर्म दो प्रकार का है–श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। भगवान् इन दोनों धर्मों का वास्तविक मर्म बतलाते हैं, अतएव वह धर्मोपदेशक हैं।

अथवा–जिस वाणी को चारित्रधर्म प्राप्त नहीं है, उसे भगवान् के सदुपदेश से चारित्रधर्म की प्राप्ति होती है। इस कारण भगवान् धर्मोपदेशक हैं। भगवान् के परम अनुग्रह से चारित्रधर्म होता है। चारित्र–धर्म की प्राप्ति कराने के कारण भगवान् परम उपकारी हैं।

धर्मसारथि

भगवान् धर्मोपदेशक ही नहीं, धर्म–सारथि भी हैं। सारथि उसे कहते हैं जो रथ को निरुपद्रव रूप से चलाता हुआ रथ की रक्षा करता है, रथी की रक्षा करता है, और रथ में जुते हुए घोड़ों की रक्षा करता है। भगवान् धर्म–रथ के सारथि हैं।

भगवान् ने हम लोगों को धर्म के रथ में बिठलाया है, और आप स्वयं सारथि बने हैं। भले ही यह कथन आलंकारिक हो, मगर तथ्यहीन नहीं है। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि वे अर्जुन के सारथि बने थे। उन्होंने अर्जुन को रथ में बिठलाया और आप सारथि बने। भगवान् महावीर भी धर्म रथ के सारथि हैं। लेकिन रथ में बैठने वाला जब अर्जुन जैसा हो, तब कृष्ण जैसे सारथि बनते हैं।

भगवान् धर्म रथ में बैठने वालों के सारथि बन कर उन्हें निरुपद्रव स्थान मोक्ष में पहुंचा देते हैं।

भगवान् भी धर्म की सेवा करते हैं। वह स्वयं धर्म के सारथि बने हैं। भगवान् का यह आदर्श उन लोगों के लिए विचारणीय है जो अपनी ही सेवा करना चाहते हैं और धर्म की सेवा से दूर भागना चाहते हैं। धर्म करना एक बात और धर्म की सेवा–रक्षा करना दूसरी बात है। धर्म की सेवा–रक्षा करना बड़ा काम है।

भगवान् के लिए यह उपमा इसलिए दी जाती है कि चारित्र रूपी, संयम रूपी या प्रवचन रूपी रथ में जो बैठते हैं या उस रथ में बैठने वालों के जो सहायक हैं, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं।

धर्मवन चातुरन्त–चक्रवर्ती–

अब यह प्रश्न होता है कि भगवान् महावीर को जो विशेषण लगाये गये हैं, वह विशेषण तो दूसरों ने भी अपने इष्ट देवों को लगाये हैं। तब उनमें और भगवान् महावीर में क्या अन्तर है? वे और भगवान् क्या समान ही है? अगर समानता नहीं हैं तो भगवान् में क्या विशेषता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भगवान् महावीर में दूसरों से विशेषता है। वह विशेषता यह है कि भगवान् धर्म के चक्रवर्ती हैं?

पूर्व पश्चिम और दक्षिण–इन तीन दिशाओं में समुद्र पर्यन्त और उत्तर दिशा में चूलहिमवन्त पर्वत पर्यन्त के भूमिभाग का जो अन्त करता है–अर्थात्

इतने विशाल भूखंड पर जो विजय प्राप्त करता है, इतने से जिसकी अखंड और अप्रतिहत आज्ञा चलती है अर्थात् जो उसका एक मात्र अधिपति होता है उसे चतुरन्त कहते हैं। ऐसा चतुरन्त चक्रवर्ती होता है। चतुरन्त पद चक्रवर्ती का विशेषण है।

भगवान् 'वर चाउरंत चक्कवट्टी' हैं अर्थात् चक्रवर्तियों में प्रधान चक्रवर्ती हैं। वह सब चक्रवर्ती विजय प्राप्त करके पूर्वोक्त सीमा में चारों ओर अपनी आज्ञा फैला ले, और अपना सम्राज्य स्थापित कर ले, लेकिन उस चक्रवर्ती पर भी आज्ञा चलाने वाला कोई दूसरा चक्रवती हो तो वह दूसरा चक्रवर्ती प्रधान चक्रवर्ती कहलाएगा। वह चक्रवर्ती का भी चक्रवर्ती है।

भगवान् को यहां धर्म–चक्रवर्ती कहा है। भगवान् धर्म के चक्रवर्ती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् के तत्व के सामने संसार का कोई भी माना हुआ तत्व नहीं ठहर सकता। जिस प्रकार सब राजा, चक्रवर्ती के अधीन होते हैं–चक्रवर्ती के विशाल साम्राज्य में ही सब राजाओं का राज्य अन्तर्गत हो जाता है, अन्य राजाओं का राज्य चक्रवर्ती के राज्य का ही एक अंश होता है, उसी प्रकार संसार के समस्त धर्म–तत्व भगवान के तत्व के नीचे आ गये हैं। भगवान् का अनेकान्त तत्व चक्रवर्ती के विशाल साम्राज्य के समान है और अन्य धर्म प्ररूपकों के तत्व एकान्त रूप होने के कारण राजाओं के राज्य के समान है। सभी एकान्त रूप धर्मतत्व, अनेकान्त के अन्तर्गत आ जाते हैं।

चक्रवर्ती लोभ से ग्रस्त होकर या साम्राज्यलिप्सा के कारण साम्राज्य की स्थापना नहीं करता। वह अधिक से अधिक भूमिभाग में एकरूपता एवं संगठन करने के उद्देश्य से साम्राज्य स्थापित करता है। चक्रवर्ती अपने राज्य में किसी को गुलाम नहीं रखना चाहता। वह चाहता है कि मेरे राज्य में कोई दुःखी न रहे और मेरे राज्य में अन्याय न हो। चक्रवर्ती अपने राज्य में सभी को स्थान देता है, मगर उन्हें अपनी छत्रछाया में रखना चाहता है।

भगवान् का स्याद्वाद सिद्धान्तों का चक्रवर्ती है। इस सिद्धान्त के महात्म्य से सभी प्रकार के विरोधों का अन्त आ जाता है। प्रतीत होने वाले विरोध को नष्ट कर देना स्याद्वाद का लक्षण है। कहा भी है–'विरोध्मथनं हि स्याद्वादः।' अर्थात् विरोध का मथन कर देना ही स्याद्वाद है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त सब झगड़े मिटाकर शान्ति स्थापित करने का अमोघ साधन है। इसका आश्रय लेने पर सभी धर्मो के अनुयायी एक ही झंडे के नीचे आ जाते हैं। स्याद्वाद ने सभी सिद्धान्तों को यथायोग्य स्थान दिया है और

सम्पूर्ण सत्य को प्रकाशित करता है। इस प्रकार अतिशय विशाल भाव वाला भगवान् का राज्य है।

धर्म है जो प्रधान चक्रवर्ती है वही धर्मवर चक्रवर्ती कहलाता है। जैसे समुद्र में मिल जाने पर नदियों में भेद नहीं रहता, उसी प्रकार धर्मों के सार भगवान् के सिद्धान्त में आकर एक हो जाते हैं उनमें भेद नहीं रहता। यह भगवान् का धर्म के विषय में चक्रवर्तीपन है।

पार्थिव चक्रवर्ती के विषय में कहा जाता हे कि वह अन्यान्य राजाओं की अपेक्षा अत्यन्त अतिशयशाली एवं प्रजा पालक होता है। ग्रन्थों से विदित होता है कि चक्रवर्ती प्रजा से उसकी आय का चौसठवां भाग कर लेता है। कम कर लेकर प्रजा को अधिक सुखी एवं समृद्ध बनाने वाला पूर्वोक्त राजा चक्रवर्ती कहलाता है। जो स्वार्थ से प्रेरित होकर नये–नये कर प्रजा से वसूल करता है, प्रजा जिसकी शरण में स्वेच्छा से नहीं अपितु भय के कारण जाती है, वह राजा नहीं, चक्रवर्ती भी नहीं हो सकता। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में देखने से ज्ञात होगा कि सच्चा राजा कौन हो सकता है और राजा का कर्त्तव्य क्या है?

संसार में जितने धर्मोपदेशक हुए हैं, उनमें सब से उत्तम बाधा रहित शक्ति से उपदेश करने वाले भगवान् महावीर हैं। इसी कारण उन्हें धर्म का चक्रवर्ती कहा गया है। चक्रवर्ती उच्च–नीच और छोटे–बड़े का भेदभाव नहीं रखता, किन्तु समानभाव से सभी को अपने राज्य में स्थान देता है। इसी प्रकार भगवान् महावीर ने अपने धर्म में स्त्री–शूद्र आदि के भेदभाव को स्थान नहीं दिया है। भगवान् के धर्म में हर किसी को समान अधिकार प्राप्त हैं। जिस में जितनी योग्यता हो वह उतना धर्म का अनुष्ठान कर सकता है। जहां जाति–पांति के कल्पित भेदभावों को स्थान है, वह वास्तव में धर्म ही नहीं है।

चक्र अनेक प्रकार के होते हैं। राज्यचक्र भी चक्र कहलाता है और धर्मचक्र भी चक्र ही है। धर्मचक्र उनमें प्रधान है। धर्मचक्र के प्रवर्त्तक अनेक हुए हैं। कपिल, सुगत आदि ने जो धर्मचक्र चलाये हैं, उनकी अपेक्षा भगवान् का धर्मचक्र अत्यन्त अतिशयशाली और सब में प्रधान है। इस कारण भी भगवान् को धर्मचक्रवर्ती कहा गया है।

अथवा–दान, शील, तप और भावना का चतुर्विध धर्म का उपदेश एवं प्रसार के कारण भगवान् धर्मवर चातुरन्त चक्रवर्ती कहलाते हैं।

दान, धर्म उत्पन्न होने की भूमि है। दान से ही धर्म होता है। दूसरे से कुछ भी लिये बिना किसी का जीवन ही नहीं निभ सकता। माता–पिता, पृथ्वी,

अग्नि आदि से कुछ न कुछ सभी को ग्रहण करना पड़ता है। मगर जो ले तो लेता है, मगर बदले में कुछ नहीं देता वह पापी है।

कई लोग दान देकर अभिमान करते हैं। इसलिए भगवान् ने कहा कि दान के साथ शील का भी पालन करो अर्थात सदाचारी बनो।

तप के अभाव में सदाचार भ्रष्ट हो जाता है। सदाचार को स्थिर रखने के लिए तप अनिवार्य है। अतएव भगवान् ने तप का उपदेश दिया है। तप का अर्थ केवल अनशन करना ही नहीं है। तप की व्याख्या बहुत विशाल है। भगवान् ने बारह प्रकार के तपों का वर्णन किया है। भगवान् ने कहा है कि तप के बिना मन, शरीर और इन्द्रियां ठीक नहीं रहती।

भावना हीन तप यथेष्ट फलदायक नहीं होता। अतः धर्म में भाव की प्रधानता है। 'यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः' अर्थात् भावशून्य क्रियाएं काम की नहीं हैं।

भगवान् ने धर्म के यह चार विभाग बतलाये हैं। ऐसे विभाग दूसरे धर्मोपदेशकों ने नहीं बतलाये हैं। इन चार धर्मों को चतुरन्त या चातुरन्त कहा गया है भगवान् इस धर्म के चक्रवर्ती हैं।

अथवा–देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति और नरकगति का अन्त करने वाला चतुरन्त कहलाता है। ऐसे चतुरन्त श्रेष्ठ धर्म का उपदेश देने के कारण भगवान् धर्मवर चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाते हैं।

शास्त्रकारों को न तो स्वर्ग से प्रीति थी और न उन्होंने स्वर्ग प्राप्ति के लिए उपदेश ही दिया है। उन्होंने चारों गतियों का यथार्थ स्वरूप बतलाकर उनका अन्त करने का उपदेश दिया है। यहीं नहीं शास्त्रकारों ने समय समय पर स्वर्ग की निन्दा भी की है और कहा है कि स्वर्ग ऐसा स्थान है जहां पहुंच कर जीव का पतन भी हो सकता है।

चारों गतियों का अन्त करने के लिए भवसंतति का छेदन करना आवश्यक है। एक गति से दूसरी गति में आना और दूसरी गति के बाद तीसरी गति में उत्पन्न होना भवसंतति है। इस भव परम्परा को खंडित कर देना ही चार गतियों का अन्त करना कहलाता है।

अप्रतिहत ज्ञान–दर्शनधर

भगवान् के लिए जो चक्षुदाता, मार्गदाता आदि विशेषण लगाये हैं, वह लोकोत्तर ज्ञान–सम्पन्न पुरुष में ही पाये जा सकते हैं, साधारण पुरुष में नहीं। भगवान् में क्या लोकोत्तर ज्ञान था? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा है–'भगवान् अप्रतिहत ज्ञान–दर्शन के धारक थे। अप्रतिहत का अर्थ है किसी से बाधित न होने वाला, किसी से न रुकने वाला। पदार्थ की सूक्ष्मता, देश और काल सम्बन्धी व्यवधान, ज्ञानावरण कर्म आदि हमारे ज्ञान के बाधक हैं। मगर भगवान् के ज्ञान में इनमें से कोई भी बाधक विद्यमान नहीं है। पदार्थ चाहे स्थूल हो चाहे सूक्ष्म हो, कितनी ही दूर हो या पास हो, भूतकाल में हो या भविष्यकालीन हो, भगवान् का ज्ञान समस्त पदार्थों को हथेली पर रक्खे हुए पदार्थ की भांति स्पष्ट रूप से जानता है। देश, काल या पदार्थ सम्बन्धी किसी भी सीमा से भगवान् का ज्ञान सीमित नहीं है। तर्क–वितर्क से उसमें विषमता नहीं आ सकती। कहीं भी वह ज्ञान कुण्ठित नहीं होता। इसलिए भगवान् का ज्ञान अप्रतिहत है क्योंकि वह क्षायिक हैं।'

इसी प्रकार भगवान् में अप्रतिहत दर्शन है। वह दर्शन भी किसी भी पदार्थ से रुकता नहीं है। भगवान् दर्शन से संसार के समस्त पदार्थों को अबाधित रूप से देखते हैं।

वस्तु में सामान्य और विशेष–दोनों धर्म हैं। कोई पदार्थ न केवल विशेष रूप ही है, अपितु जहां सामान्य है वहां विशेष भी है, जहां विशेष है वहां सामान्य भी अवश्य है। यथा–जीवत्व एक सामान्य धर्म है, जहां जीवत्व होगा वहां कोई न कोई विशेष धर्म अवश्य होगा–अर्थात् वहाँ मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारक आदि में से कोई होगा ही। इसी प्रकार जो पशु, पक्षी या मनुष्य है वह जीव रूप अवश्य होगा। सामान्य और विशेष सहचर हैं–एक को छोड़ कर दूसरा नहीं रह सकता। अथवा यों कहा जा सकता है कि सामान्य

और विशेष धर्मों का समूह ही वस्तु कहलाता है। वस्तु के सामान्य अंश को जानने वाला ज्ञान, दर्शन कहलाता है और विशेष अंश को जानने वाला ज्ञान, ज्ञान कहलाता है। भगवान् का ज्ञान और दर्शन दोनों ही अप्रतिहत हैं और समस्त आवरणों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण वर अर्थात् प्रधान है।

विगतछद्म

कई लोगों की यह मान्यता है कि छद्मस्थों में भी इस प्रकार का ज्ञान–दर्शन पाया जा सकता है। मगर यह सम्भव नहीं है। छद्मस्थ का उपदेश मिथ्या भी होता है, अतएव वह अप्रतिहत ज्ञान दर्शन का धारक नहीं हो सकता। छद्मस्थ में अप्रतिहत ज्ञान–दर्शन नहीं हो सकता, यह भाव प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है कि भगवान् 'विगतछद्म' हैं।

छद्म के दो अर्थ हैं–आवरण–ढक्कन भी छद्म कहलाता है और धूर्त्तता को भी छद्म कहते हैं। भगवान् से छद्म हट गया है अर्थात् न उनमें कपट है, न आवरण है। जहां कपट होगा, वहां ज्ञान का आवरण भी अवश्य होगा। कपट को पूर्ण रूप से जीत लेना ज्ञान का मार्ग है।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि आज जो धर्मोपदेशक हैं, वह छद्मस्थ हैं। उनमें से कुछ कपट हटा होगा, पर कुछ कपट तो अब भी विद्यमान है। ऐसी अवस्था में उन पर विश्वास कैसे किया जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि यदि कोई उपदेशक अपनी ही ओर से उपदेश दे तब तो उपदेशक से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या आप को पूर्ण ज्ञान हो गया है ? क्या आप में कपट नहीं रहा? अगर उपदेशक यह उत्तर दे कि हम पूर्णज्ञानी नहीं हैं तो उससे कहना चाहिए कि आपका उपदेश हमारे काम का नहीं है। हां, अगर उपदेशक यह कहता है कि मैं अपनी बुद्धि से उपदेश नहीं देता सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र की ही बात कहता हूं। उस पर मैं स्वयं चलता हूं और दूसरों को चलने के लिये कहता हूं, तब तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता। फिर वह उपदेश छद्मस्थ का नहीं, सर्वज्ञ का ही है।

आज मजहब से ऐसी बातें चल पड़ी हैं कि जिनसे लोग चक्कर में पड़ जाते हैं। परन्तु श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि मैं अपनी ओर से कुछ भी नहीं कर रहा हूं, जिन्होंने छद्म पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर ली थी, उन सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान् के उपदेश का ही मैं अनुवाद करता हूं। इस प्रकार शास्त्र को प्रमाण मान कर चलने से धोखा नहीं हो सकता।

अमुक शास्त्र सर्वज्ञ की वाणी है या नहीं? इस शंका का समाधान करने के लिए शास्त्र का लक्षण समझ लेना चाहिए। कहा है–

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
शास्त्रोपकृत् सार्व शास्त्रं कापथघट्टनम्।।

अर्थात् जो शास्त्र आप्त का कहा हुआ होता है उसका तर्क या युक्ति से खण्डन नहीं किया जा सकता। उसमें प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से विरोध नहीं होता। वह प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी होता है और अन्याय, असमानता, मिथ्यात्व आदि कुमार्ग का विरोधी होता है।

यह लक्षण जिसमें घटित होता हो अथवा जिस शास्त्र के पढ़ने सुनने से तप, क्षमा, अहिंसा आदि सद्गुणों के प्रति रुचि जागृत हो, उस शास्त्र के सम्बन्ध में समझना चाहिए कि यह सर्वज्ञ की वाणी है। उसे किसने लिपिबद्ध किया है, यह प्रश्न प्रधान नहीं है, प्रधान बात है उसमें पूर्वोक्त दैवी भावनाओं का होना।

परीक्षा दो प्रकार की होती है—आन्तरिक और बाह्य परीक्षा। यह बात समझाने के लिए एक दृष्टान्त उपयोगी होगा।

कल्पना कीजिए, एक आदमी आपके सामने एक आम लाया। उस आम की परीक्षा दो प्रकार से हो सकती है। प्रथम यह कि आम कहां का है—किस बाग का है? किस वृक्ष का है? आदि। यह बाह्यपरीक्षा है। बाह्य परीक्षा में बड़ी उलझन होती है और फिर भी ठीक—ठीक निश्चय होना कठिन होता है। दूसरी अन्तरंग परीक्षा के लिए केवल इतना ही करना पर्याप्त है कि आम का छिलका उतार कर उसे चख लिया। चखने से तत्काल आम की मिठास या खटास का पता चल जाता है। लोक में कहावत प्रसिद्ध है—आम खाने से काम है, पेड़ गिनने से क्या काम! वह आम चाहे बड़े और अच्छे बगीचे का ही क्यों न हो, अगर खट्टा है तो काम में नहीं लिया जायेगा। तात्पर्य यह है कि अन्तरंग परीक्षा में बाह्य परीक्षा जैसी उलझन नहीं होती और अन्तरंग परीक्षा अचूक होती है।

शास्त्र को आम के स्थान पर समझ लीजिए। शास्त्र चाहे किसी ने बनाया हो, चाहे किसी ने संग्रह किया हो, लेकिन इसके विषय में थोथी तर्कणा से काम न चलेगा।

इस प्रकार के तर्क—वितर्क चाहे जीवन भर किया करो, तब भी किसी निश्चय पर न पहुंच सकोगे। तर्क—वितर्क बाह्य परीक्षा है, जिससे उलझन

बढ़ती ही है, घटती नहीं है और किसी प्रकार के निश्चय पर पहुंचना कठिन हो जाता है।

इसी बात को लक्ष्य में रखकर शास्त्रकारों ने कह दिया है कि धर्म, तर्क द्वारा बाह्य परीक्षा की चीज नहीं है। परीक्षा करनी है तो इसकी आन्तरिक परीक्षा करो। तर्क का आधिक्य बुद्धि में चंचलता उत्पन्न करता है और अन्त में मनुष्य सांशयिक बन जाता है।

केले के वृक्ष के छिलके उतारोगे तो क्या पाओगे ? सिवाय छिलकों के और कुछ भी न मिलेगा। अगर उसे ऐसा ही रहने दोगे और उसमें पानी देते रहोगे तो मधुर फल प्राप्त कर सकोगे। जब केले का वृक्ष छिलके उतारने पर फल नहीं देता और छिलके न उतारने पर फल देता है तो छिलके क्यों उतारे जाएं? यही बात धर्म के विषय में समझनी चाहिए। अनेक लोगों का तर्क–वितर्क करके धर्म के छिलके उतारने का व्यसन–सा हो जाता है। मगर यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। ज्ञानी पुरुष धर्म के छिलके उतारने के लिए उद्यत नहीं होते, वे धर्म के मधुर फलों का ही आस्वादन करने के इच्छुक होते हैं।

शास्त्र रूपी आम में मिठास की भांति तप, क्षमा और अहिंसा की त्रिपुटी का होना आवश्यक है। जिसमें इन तीन बातों की शिक्षा हो वही शास्त्र है, अन्यथा नहीं। यह तीनों बातें परस्पर सम्बद्ध हैं।

भगवान महावीर ने दान; शील और भावना रूप जो चतुर्विध धर्म प्ररूपित किया है वह इतना प्रभावशाली एवं असंदिग्ध है कि उससे भगवान् का धर्मचक्रवर्ती होना सिद्ध है और यह भी सिद्ध है कि वे छद्म से सर्वथा अतीत हो चुके थे।

जिन ज्ञापक–

भगवान् छद्म से अतीत होने के साथ ही जिन हैं। राग द्वेष आदि आत्मिक शत्रुओं को पराजित करने वाला जिन कहलाता है। राग आदि दोषों को जीतने के लिए ज्ञान की अपेक्षा रहती है। राग–द्वेष आदि शत्रुओं को पहचानना और पहचान कर उन्हें पराजित करने के उपायों को समझना, ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। ज्ञानी पुरुष ही रागादि को पराजित कर सकता है।

यों तो अचेत अवस्था में पड़ी हुए आत्मा में भी राग–द्वेष प्रतीत नहीं होते, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अचेत आत्मा राग–द्वेष को देखती

है–रोग–द्वेष के विपाक को जानता है और फिर उसे हेय समझकर राग–द्वेष का नाश करता है, वही राग–द्वेष का विजेता है। उदाहरणार्थ–दुमुंही सांप की एक जाति, (जिसके दोनों ओर मुख होते हैं) को छेड़ने पर क्रुद्ध नहीं होती और सर्प छेड़ने से क्रोधित हो जाता है। दुमुही का क्रुद्ध न होना, क्रोध को जीत लेने का प्रमाण नहीं है। क्रोध न करना उसके लिए स्वाभाविक है। लेकिन अगर कोई सर्प ज्ञानी होकर क्रोध न करे तो कहा जायेगा कि उसने क्रोध के जीत लिया है, जैसे चण्डकोशिक ने भगवान् के दर्शन के पश्चात् क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली थी। जिसमें जिस वृत्ति का उदय ही नहीं है, वह उस वृत्ति का विजेता नहीं कहा जा सकता। अन्यथा समस्त बालक काम–विजेता कहलाएंगे। विजय संघर्ष का परिणाम है। जिसने संघर्ष ही नहीं किया उसे विजेता का महान् पद प्राप्त नहीं होता। संघर्ष और विजय, दोनों के लिए ज्ञान अनिवार्य है। अज्ञानी पुरुष अगर अपने विरोधी को नहीं पहचानता तो वह संघर्ष में कैसे कूद सकता है? और अगर कूद भी पड़ता है तो विजय के साधनों से अनभिज्ञ होने के कारण विजेता कैसे हो सकता है? इस प्रकार राग–द्वेष पर विजय प्राप्त करने के लिए, प्रथम ही उनके स्वरूप का और उनके विपाक का ज्ञान हो जाना आवश्यक है। समझ बूझकर ज्ञानपूर्वक उन्हें जीतना ही सच्चा जीतना है।

भगवान् 'जाणए' अर्थात् ज्ञापक हैं। यद्यपि राग आदि को जीतने से पहले भगवान् में केवलज्ञान प्रकट नहीं हुआ था, तथापि उन्हें चार निर्मूल ज्ञान प्राप्त थे। उन ज्ञानों से भगवान् ने राग आदि विकारों के स्वरूप को जाना और उन्हें जीतने के उपायों को भी जाना। तत्पश्चात् विकारों पर विजय प्राप्त की। तात्पर्य यह है कि भगवान् ने रागादि को जानकर ही उन्हें जीता था। इस कारण भगवान् 'जिणे' हैं और 'जाणए' भी हैं अर्थात् राग आदि को जीतने वाले भी हैं और उन्हें सम्यक् प्रकार से जानने वाले भी हैं।

शास्त्रकारों ने कहा है कि, अगर तुम क्रोध को जानते हो तो इस बात को भी जानो कि क्रोध के बदले क्रोध करने से क्रोध नहीं मिटता। तुम्हें यह भी जानना चाहिए कि क्षमाभाव धारण करने से ही क्रोध का अन्त आता है। 'उवसमेण हणे कोहं'। अर्थात् क्षमा से क्रोध को विरोधी से संघर्ष करने के पश्चात् विजय पाने वाला विजेता जीतना चाहिये।

आप दुकान पर बैठे हों और कोई आदमी आप से कंकर के बदले हीरा लेना चाहे तो आप उसे हीरा दे देंगे? नहीं!

अगर कंकर के बदले हीरा मिलता हो तो ले लेंगे या नहीं ? अवश्य। क्रोध के बदले क्रोध करना, हीरे के बदले में कंकर खरीदना है और क्रोध के बदले क्षमा धारण करना कंकर के बदले हीरा लेना है। आप जो पसंद करें वही ले सकते हैं।

अक्सर लोग गाली का बदला गाली से चुकाते हैं, लेकिन भगवान् महावीर का सिद्धान्त यही नहीं है। गाली के बदले गाली देने का नाम ज्ञान नहीं है। यदि कोई गाली देता है तो उससे भी कुछ न कुछ शिक्षा लेना ज्ञान है। मान लीजिए, किसी ने कहा—'तुम नीच हो'। जो ज्ञानी होगा वह यह गाली सुनकर विचार करेगा कि नीचता बुरी वस्तु है। यदि मुझ में नीचता है तो गाली देने वाला सत्य ही कह रहा है और मुझे शिक्षा दे रहा है। इस शिक्षा के लिए मुझे क्षुब्ध क्यों होना चाहिए? मैं अपनी नीचता पर ही क्षुब्ध क्यों न होऊं ? फिर शिक्षा देने वाले पर क्रोध करना क्या नीचता नहीं है ? मुझे अपनी नीचता का ही त्याग करना चाहिए।

अगर कोई आदमी कहता है—आपके सिर पर काली टोपी है, तो काली टोपी वाला पुरुष, अपने सिर से वह टोपी न हटाकर उस पर नाराज हो, यह कौन—सा न्याय है? पर संसार में सर्वत्र यही झगड़ा चल रहा है। लोग अपने सिर की काली टोपी उतारते नहीं—अपने दुर्गण देखते नहीं और दूसरे पर नाराज होते हैं।

भगवान महावीर उत्कृष्ट ज्ञानी थे। वे भूत, भविष्य और वर्तमान काल के समस्त भावों के ज्ञाता थे। अपने अपमान को भी जानते थे। मगर उन्होंने क्रोध नहीं किया। घोर से घोर उपसर्ग देने वाले पर भी भगवान् ने अपूर्व क्षमा की वर्षा की—स्वयं शान्त रहे और उपसर्ग दाता को भी शान्ति पहुंचाई। इसी से भगवान् जिन और 'जाणए' कहलाए।

चौसठ इन्द्र, जिन भगवान् महावीर के चरणों में नमस्कार करके अपने को कृतार्थ मानते हैं, उन भगवान् पर सामान्य अनार्य लोग धूल फैंकें, उन्हें चोर कहकर बांधें, भेदिया कहकर उनकी अवहेलना करें, सूने मकान में ध्यान करते समय दुष्ट लोग उन्हें वहां से बाहर भगा दें, क्या यह अपमान की बात नहीं समझी जाती? मगर इतना अपमान होने पर भी भगवान् ने इसे अपमान नहीं समझा। इस अपमान को भी भगवान् ने अपना सम्मान ही समझा और यह माना कि इसकी बदौलत मुझे शीघ्र ही महाकल्याण की प्राप्ति होगी।

भगवान् का यह आदर्श और पवित्र चरित्र ही हमारा आदर्श होना चाहिए। अगर हम उस आदर्श पर आज ही न पहुंच सकें तो कोई हानि नहीं,

मगर उसकी ओर आज ही चलना तो आरंभ कर दें। थोड़ा–सा भी क्रोध जीतने से अन्तरात्मा में शान्ति का संचार होगा।

जिसने वास्तविक कल्याण का मार्ग जान लिया है और उस मार्ग पर चलकर अपना कल्याण साध लिया है, उसे ही दूसरे के कल्याण करने का अधिकार प्राप्त होता है। जिसने अपना ही कल्याण नहीं किया है, उसे दूसरे का कल्याण करने का अधिकार नहीं है। वह ऐसा कर भी नहीं सकता। भगवान् ने स्वयं राग–द्वेष को जीत लिया था, इसी से उन्होंने दूसरों को राग–द्वेष जीतने का उपदेश दिया।

बुद्ध–बोधक–

भगवान् ज्ञानवान् होने से और राग–द्वेष को जीतने से 'बुद्ध' हो गये थे। सम्पूर्ण तत्त्व को जान कर राग–द्वेष को पूर्ण रूप से जीतने वाला 'बुद्ध' कहलाता है। भगवान् नाम के ही 'बुद्ध' अपने सद्‌गुणों के कारण बुद्ध थे। 'बुद्ध' होने के साथ ही भगवान् 'बोधक' भी थे। जीव, अजीव आदि तत्त्वों का जैसा स्वरूप भगवान् आप जानते थे, वैसे ही स्वरूप का उन्होंने दूसरों को भी उपदेश दिया है।

भगवान् का उपदेश उनके केवलज्ञान का फल है। उस उपदेश में कुछ बातें ऐसी हो सकती हैं जो अत्यन्त अल्प ज्ञान के कारण हमें दिखाई न दें। फिर भी उन पर शंका करने का कोई कारण नहीं है। सर्वज्ञ की वाणी में असत्य की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। भगवान् ने स्वयं कहा है कि अगर तुम्हें परलोक सम्बन्धी बातें नहीं दिखती हैं तो भी मेरे कथन पर विश्वास करो। कालान्तर में साधना के द्वारा तुम्हारा और मेरा स्वरूप समान हो जायेगा। भगवान् ने गौतम से भी यही बात कही है कि यह बात मैं ही देखता और जानता हूं। मगर मेरी बात पर विश्वास कर। तेरी और मेरी दृष्टि एक हो जायेगी।

मुक्त–मोचक–

भगवान् बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रंथि से मुक्त थे, अतएव उन्हें 'मुक्त' कहा गया है। यहां यह आशंका की जा सकती है कि बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथि से मुक्त हुए बिना कोई बुद्ध और बोधक नहीं हो सकता। जो स्वयं बुद्ध है और दूसरों का बोधक है, वह ग्रंथि से मुक्त होगा ही। जैसे लखपति हुए बिना कोई

करोड़पति नहीं हो सकता। जो करोड़पति होगा उसका लखपति होना स्वयं सिद्ध है। फिर करोड़पति को लखपति बताने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार जो बुद्ध और बोधक होगा वह ग्रंथि से मुक्त तो होगा ही। फिर उसे 'मुक्त' कहने की क्या आवश्यकता है? इस शंका का समाधान यह है कि बाल जीवों के भ्रम का निवारण करने के लिए भगवान् को यह विशेषण लगाया गया है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि जो भगवान् हैं उनके पास अगर धन भी हो, स्त्री आदि भी हो तो भी क्या हानि है? मगर यह उनका भ्रम है। जो बुद्ध होगा, बोधक होगा, उसे मुक्त पहले ही होना चाहिए। मुक्त होने से पहले कोई बुद्ध–बोधक नहीं हो सकता। इस भाव को समझाने के लिए भगवान् को मुक्त विशेषण लगाया गया है।

वही उपदेशक प्रभावशाली होता है जो स्वयं अपने उपदेश का आदर्श हो। जो पुरुष स्वयं ही अपने उपदेश के अनुसार नहीं चलता, उसका उपदेश प्रभावजनक नहीं हो सकता। नीतिकार ने कहा है–

परोपदेशे पाण्डित्यं, सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्म स्वीयमनुष्ठानं, कस्यचित्तु महात्मनः।।

अर्थात्–दूसरों को उपदेश देना सभी के लिए सरल है, मगर स्वयं धर्म का आचरण करने वाले महात्मा विरले ही होते हैं।

तात्पर्य यह है कि स्वयं धर्म का पालन करने वाला ही धर्मोपदेश का अधिकारी हो सकता है। जो गुरु स्वयं सोने के कड़े पहनता है, वही अपने शिष्य का अगर चांदी के कड़े पहनने का निषेध करे तो उसका उपदेश वृथा जायेगा। यही नहीं, बल्कि इस प्रकार के उपदेश से धृष्टता का पोषण होगा। भगवान् ने अपरिग्रह का उपदेश दिया है। उस उपदेश को प्रभावशाली बनाने के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे स्वयं परिग्रह से मुक्त होते। परिपूर्ण वीतराग दशा में पहुंच जाने पर न किसी वस्तु को ग्रहण करना आवश्यक होता है, न त्यागना ही। फिर भी भगवान् आदर्श उपस्थित करने के लिए मुक्त थे। भगवान् स्वयं मुक्त थे और अन्य प्राणियों को मुक्त बनाने वाले भी थे।

सर्वज्ञ–सर्वदर्शी–

कुछ दर्शनकारों के मत के अनुसार मुक्तात्मा जड़ हो जाती है। उसे ज्ञान नहीं रहता। मुक्तात्मा को ज्ञान होगा तो वह सब बातें जानेगी और सब बातें जानने पर उसे राग–द्वेष भी होगा। राग–द्वेष होने से कर्म–बन्ध अनिवार्य

हो जायेगा कर्म–बन्ध होने से वह मुक्तता नहीं रहेगी। संसारी जीवों से उसमें कोई विशेषता न रह जायेगी।

बुद्ध से किसी ने पूछा–'मुक्तात्मा का स्वरूप क्या है?' बुद्ध ने उत्तर दिया–दीपक के बुझ जाने पर उसका जो स्वरूप होता है, वही मुक्ति का स्वरूप है। अर्थात् मुक्त होने पर आत्मा शून्य रूप हो जाता है।

विचार करने पर उक्त दोनों मत युक्ति–संगत प्रतीत नहीं होते। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव का नाश हो जाने पर स्वभाववान् ठहर नहीं सकता। अतएव ज्ञान के साथ आत्मा का भी नाश मानना पड़ेगा। अगर मुक्त अवस्था में आत्मा का नाश मान लिया जाये तो फिर मोक्ष के लिये कौन कष्ट उठायेगा? कौन अपना अस्तित्व गंवाने के लिए प्राप्त सुखों को त्याग कर तपस्या के कष्ट उठाना पसंद करेगा? इसके अतिरिक्त ज्ञान से राग–द्वेष का होना कहना भी ठीक नहीं है। ज्यों–ज्यों ज्ञान की वृद्धि होती है, त्यों–त्यों राग–द्वेष की वृद्धि नहीं, वरन् हानि देखी जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का परिपूर्ण विकास होने पर राग–द्वेष भी नहीं रहते। मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञानी है अतएव उन में राग–द्वेष की उत्पत्ति होना संभव नहीं है।

एक विकार ही दूसरे विकार का जनक होता है। आत्मा जब पूर्ण निर्विकार दशा प्राप्त कर लेती है, तब विकार का कारण न रहने से उसमें विकास उत्पन्न होना असंभव है। अतएव राग–द्वेष के भय से मुक्तात्मा को जड़ मानना उचित नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा के विनाश को मोक्ष या निर्वाण मानना भी भ्रमपूर्ण है। अगर आत्मा की सत्ता है, तो आत्मा का भी कभी नाश नहीं हो सकता। जैसे सर्वथा असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सत् का सर्वथा विनाश भी नहीं हो सकता। जो है, वह सदैव रहता है और जो नहीं है वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकती, उसी प्रकार सत् का सर्वथा विनाश भी नहीं हो सकता। जो है, वह सदैव रहता है और जो नहीं है वह कभी उत्पन्न नहीं होता। जिसे हम लोग वस्तु की उत्पत्ति या विनाश समझते हैं, वह वास्तव में वस्तु की अवस्थाओं का परिवर्तन मात्र है। वस्तु एक अवस्था त्यागती है और दूसरी अवस्था धारण करती है। दोनों अवस्थाओं में वस्तु की मूल सत्ता विद्यमान रहती है। इससे यह साबित है कि किसी भी वस्तु का मूल स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता। आधुनिक विज्ञान और हमारा अनुभव इस सत्य की साक्षी देता है। ऐसी अवस्था में आत्मा का सर्वथा नष्ट हो जाना कैसे माना जा सकता है?

मुक्तावस्था में आत्मा की अखण्ड और शुद्ध सत्ता रहती है और मुक्तात्मा सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी होते हैं। वह सभी कुछ जानते हैं, सभी कुछ देखते हैं। जानने और देखने में जो अन्तर है, उसे समझ लेना चाहिए। उदाहरणार्थ एक पुस्तक आपके सामने है। पुस्तक का रंग तो सभी देखते हैं, मगर उस पुस्तक में क्या लिखा है, इस बात को सब नहीं जानते। इससे प्रतीत हुआ कि देखना तो सामान्य है और जानना विशेष है। भगवान् केवल–ज्ञान से जानते हैं और केवल दर्शन से देखते हैं। इस कथन से यह भी सिद्ध है कि मुक्तात्मा, मुक्ति से जड़ नहीं हो जाते; वरन् उसकी चेतना सब प्रकार की उपाधियों से रहित, निर्विकार और शुद्ध स्वरूप में विद्यमान रहती है।

मुक्तिकामी–

टीकाकार कहते हैं कि किसी–किसी प्रति में 'सव्वण्णूं' और 'सव्वदरिसी' यह दो विशेषण नहीं पाये जाते, इसका कोई कारण तो होगा ही, पर मुक्तात्मा के सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने में जैन शास्त्र निश्चित प्रमाणभूत है।

मोक्ष की विशेष अवस्था प्रकट करने के लिए सूत्रकार कहते हैं–मोक्ष शिव है। जो बाधा, पीड़ा दुःख से रहित हो वह शिव कहलाता है। मोक्ष में किसी प्रकार की बाधा या पीड़ा नहीं है।

मोक्ष अचल भी है। चलन दो प्रकार का होता है–स्वाभाविक और प्रायोगिक। दूसरे की प्रेरणा बिना अथवा अपने ही पुरुषार्थ के बिना स्वभाव से ही जो चलन हो वह स्वाभाविक चलन कहलाता है। जैसे जल में स्वभाव से ही चंचलता है। इसी प्रकार बैठा हुआ मनुष्य यद्यपि स्थिर दिखता है मगर योग की अपेक्षा से उसमें भी चंचलता है। यह स्वाभाविक चलन है। वायु आदि बाह्य निमित्त से जो चंचलता उत्पन्न होती है वह प्रायोगिक चलन कहलाता है। मुक्तात्माओं में न स्वभाव से ही चलन है, न प्रयोग से ही। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, इतना सूक्ष्म कि वायु भी उसे नहीं चला सकती है। मुक्तात्माओं में गति का भी अभाव है और इस कारण भी वह अचल है।

मोक्ष अरुज है। मुक्तात्माओं को किसी प्रकार का रोग नहीं होता। शरीर–रहित होने के कारण वात, पित्त और कफ विषमता जन्य शारीरिक रोग उन्हें नहीं हो सकते और कर्म रहित होने के कारण भाव–रोग रोगादि–भी नहीं हो सकते।

मोक्ष अनन्त है। मुक्तात्माओं का ज्ञान अनन्त है, दर्शन अनन्त है और वह ज्ञान–दर्शन अनन्त पदार्थों को जानता देखता है। अतएव मोक्ष अनन्त है।

मोक्ष अक्षय है। मोक्ष प्राप्त करने की आदि तो है, मगर अन्त नहीं है, अतएव मोक्ष को अक्षय कहा है।

मोक्ष अव्याबाध है—पीड़ा रहित है। मुक्तात्माओं को किसी प्रकार का कष्ट या शोक नहीं है, और न वह किसी दूसरे को पीड़ा पहुंचाते हैं।

मोक्ष पुनरागमन रहित है। जो एक बार मुक्त हो जाता है वह फिर लौट कर कभी संसार में नहीं आता।

सिद्ध एक गति है। जिसके सब काम सिद्ध हो जावें वह सिद्ध कहलाता है। आत्मा कृतकृत्य हो जाने पर जहां जाती है वह सिद्धिगति या सिद्धगति है। इस गति में आत्मा सदा काल विद्यमान रहती है। सिद्धिगति नामक स्थान इन सब पूर्वोक्त विशेषणों से रहित है।

शंका—जीव को 'शिव' कहना तो उचित कहा जा सकता है, पर स्थान को शिव क्यों कहा गया है?

समाधान—सिद्धात्मा आधेय और सिद्धिगति स्थान आधार है। दोनों में आधार आधेय का संबंध है। इस संबंध के कारण स्थान शिव कहा गया है। जहां शिव जीव ठहरता है, वह स्थान भी शिव रूप ही कहलाता है। इस प्रकार आधार पर आधेय में अभेद की कल्पना करके यहां स्थान को शिव कहा गया है।

उदारहण के लिए लॉर्ड की कोठी और शाहजहां का किला लीजिये। लार्ड की कोठी लॉर्ड से नहीं बनी है, शाहजहां का किला शाहजहां से नहीं बना है—अर्थात् उनकी हड्डियों से उनका निर्माण नहीं हुआ है—किन्तु ईंट, पत्थर चूना आदि से बना है तथापि जिस कोठी में लॉर्ड रहता है वह लॉर्ड की कोठी और जिस किले में शाहजहां रहता था वह शाहजहां का किला कहलाता है। तात्पर्य यह है कि यहां भी आधार—आधेय के अभेद की विवक्षा से ऐसा लोक व्यवहार होता है। मोक्ष क्षेत्र में शिव जीव जाते और रहते हैं, इसलिए वह क्षेत्र भी शिव कहलाता है।

अथवा जहां स्थिति की जाये वह स्थान कहलाता है। निश्चय नय से विचार किया जाये तो प्रत्येक वस्तु अपने ही स्वरूप में स्थित रहती है और विशेष रूप से सिद्ध आत्मा तो अपने ही स्वरूप में स्थित है। अतएव स्थान का तात्पर्य यहां जगह क्षेत्र न समझकर आत्मा का स्वरूप ही समझना चाहिए। जब स्थान का अर्थ आत्मा का स्वभाव है तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता कि क्षेत्र को शिव क्यों कहा गया है?

भगवान् महावीर उस समय सिद्ध गति को प्राप्त नहीं हुए थे। वे सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक थे। ऐसे भगवान् महावीर स्वामी राजगृही नगरी में पधारे।

भगवान् को जाना तो है मोक्ष में, लेकिन पधारे हैं वे राजगृह में। इसका क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जगत् का उद्धार करना भगवान् का विरुद्ध है। इस विरुद्ध को निभाने के लिए ही भगवान् राजगृही में पधारे हैं। भगवान् स्वयं बुद्ध हो चुके हैं परन्तु संसार को बोध देने के लिए वह राजगृही में पधारे हैं।

यहां एक बात और भी लक्ष्य देने योग्य हैं। वह यह कि भगवान् को किसी भी प्रकार की कामना नहीं थी। फिर भी उनके लिए कहा गया है कि भगवान् मोक्ष के कामी होकर भी राजगृही में पधारे। इस कथन से यह सूचित किया गया है कि एक कामना सभी को करनी चाहिए, जिससे अन्य समस्त कामनाओं का अन्त हो सके। वह कामना है मोक्ष की। मोक्ष की कामना समस्त कामनाओं के क्षय का कारण है और अन्त में वह स्वयं भी क्षीण हो जाती है। मोक्ष के अतिरिक्त और किसी वस्तु की कामना न करके ऐसे कार्य करना चाहिए जिसमें, दूसरे को चाहे आलस्य आवे परन्तु मोक्ष के कामी को आलस्य न आवे। भगवान् प्रतिक्षण–चौबीसो घंटे जगत् के कल्याण में ही लगाते हैं। हमें भी अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिए।

यह कहा जा सकता है कि भगवान् वीतराग थे, उन्हें अपने लिए कुछ करना शेष नहीं रहा था, अतएव वे जगत्–कल्याण में ही सम्पूर्ण समय व्यतीत करते थे, परन्तु हमारे मस्तक पर गृहस्थी का भार है, संसार सम्बन्धी सैकड़ों प्रपञ्च हमारे साथ लगे हैं। अगर हम अपना समस्त समय परोपकार में ही यापन करें तो गृहस्थिक कर्त्तव्यों का समुचित रूप से पालन कैसे हो सकता है?

इसका उत्तर यह है कि भगवान् उस समय शरीरधारी थे। शरीरधारी होने के कारण भगवान् को शरीर सम्बन्धी अनेक चेष्टाएं करनी ही पड़ती थीं। फिर भी उनके लिए यह कहा गया है कि वे केवल मोक्ष के कामी थे, और कोई कामना उनमें विद्यमान नहीं थी। इसी प्रकार अगर आप यह विचार लें कि चलते–फिरते, उठते–बैठते, खाते–पीते समय मैं अपने इष्ट को न भूलूं और गृहस्थी के कार्य करते समय भी संसार के कल्याण का ध्यान बनाये रक्खूं, तो क्या गृहस्थी सम्बन्धी कार्य रुक सकते हैं? नहीं। किसी भी कार्य को उदार भावना के साथ किया जाये तो वह कार्य बिगड़ता नहीं है वरन् उसमें एक प्रकार का सौन्दर्य आ जाता है।

आपके मुनीम ने अगर भोजन नहीं किया है तो आप उसे भोजन करने की प्रेरणा करेंगे। अगर उसने निद्रा नहीं ली है तो आप उसे सोने की प्रेरणा करेंगे। आप समझेंगे कि यह खिलाना और सुलाना हमारा ही काम है। यदि मुनीम खाएगा–सोएगा नहीं तो हमारा काम यथावत् कैसे करेगा? इसी प्रकार आप अपने मुनीम को छुट्टी भी देते होंगे। वह अपने परिवार की सार–संभाल भी करता होगा, क्योंकि वह अपने परिवार की चिन्ता न करेगा तो आपकी चिन्ता कब करेगा? तात्पर्य यह है कि जैसे मुनीम के निजी कार्य को भी आप अपने कार्य का अंग मानते हैं, उसी प्रकार आप अपने निजी कार्य को भी संसार के कल्याण का अंग मान कर उस का निर्वाह कर सकते हैं। ऐसा करने से आपके जीवन में विशालता का प्रवेश होगा और आपके व्यवहार में प्रामाणिकता, नैतिकता एवं धार्मिकता का समावेश होगा। जीवन में जो क्षुद्र स्वार्थपरता दृष्टिगोचर होती है, उसका स्थान लोक–कल्याण की भावना को प्राप्त होगा और इस प्रकार संसार में संघर्ष की प्रबलता का अन्त आकर प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे का सहायक, पूरक और उपग्राहक होगा। इस भावना से संसार में शान्ति का संचार होगा और अशान्ति का अन्त होगा।

सच्चा सेवक अपने स्वामी की सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने देगा। भगवान् वीतराग आपके स्वामी हैं। उनकी सेवा इस भांति करो कि उसमें किसी प्रकार की कमी न होने पावे। भगवान् की सेवा किस प्रकार की जा सकती है, यह जानने के लिए बारह व्रतों पर विचार करना चाहिए। भगवान् द्वारा प्ररूपित बारह व्रतों को एक राजा भी पाल सकता है, आनन्द जैसा ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक भी पाल सकता है और पूणिया जैसा गरीब भी पाल सकता है। हां, शर्त यही है कि इनके पालन में किसी प्रकार का कपट न किया जाये।

एक मनुष्य भगवान् महावीर के मार्ग का दुश्मन बनने के लिए अपना विवाह करता है और दूसरा भगवान् का सेवक बनने के लिए करता है। इन दोनों के विवाहों में क्या अन्तर है? ऊपरी दृष्टि से चाहे अन्तर न दिखाई दे किन्तु वास्तव में दोनों में महान् अन्तर है।

खारे पानी में रहने वाली मछली को लोग मीठी कहते हैं। भला खारे पानी की मछली मीठी कैसे हो गई? मछली खारे पानी में रहती हुई भी इस प्रकार से श्वास लेती है कि जिससे खारापन मिटकर मीठापन आ जाता है। यद्यपि मछली ने मीठापन अपने लिए पैदा किया है, फिर भी जिह्वालोलुप दुष्ट लोग कहते हैं कि यह हमारे खाने के लिए मीठी हो गई है।

समुद्र की भांति यह संसार भी खारा है। संसार के खारेपन में से जो मिठास उत्पन्न करता है वही सच्चा भक्त है। लेकिन आज के लोग खारे समुद्र से मिठास न निकाल कर खारापन ही निकालते हैं, जिससे आप भी मरते हैं और दूसरों को भी मारते हैं। मगर सच्चे भक्त की स्थिति ऐसी नहीं होती। भक्त संसार में रहता हुआ भी उसके खारेपन में नहीं रहता। वह समुद्र में मछली की भांति मिठास में ही रहता है।

कोई स्थलचर प्राणी दो–चार घंटे भी समुद्र में रहेगा तो मरने लगेगा। मगर मछली समुद्र की तह तक चली जाती है फिर भी नहीं मरती। वह अपने भीतर हवा का खजाना भर लेती है, जिससे आवश्यकता के समय उसे हवा मिलती रहती है। अतएव उसका श्वास नहीं घुटता और वह जीवित रहती है।

यह संसार खारा और अथाह है। इसमें दम घुट कर मरना संभव है। लेकिन भक्त लोग अपने भीतर भगवद्भक्ति रूपी ताजी हवा भर लेते हैं, जिससे वे इस संसार में फंस कर मरते नहीं हैं। यद्यपि प्रकट रूप में भक्त और साधारण मनुष्य में कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता, लेकिन वास्तव में उनमें महान् अन्तर होता है। भक्त की आत्मा संसार के खारेपन से सदा बची रहती है।

मछली जब जल में गोता लगाती है, तब लोग समझते हैं कि मछली डूब मरी। अगर मछली कहती है–डूबने वाला कोई और होगा। मैं डूबी नहीं हूं। यह तो मेरी क्रीड़ा है। समुद्र मेरा क्रीड़ा स्थल है। इसी प्रकार भक्त जन संसार में भले ही दीखते हों, साधारण पुरुषों की भांति व्यवहार भले ही करते हों मगर उनकी भावना में ऐसी विशिष्टता होती है कि संसार में रहते हुए भी वे संसार के प्रभाव से बचे रहते हैं। वे संसार समुद्र के खारेपन से विलग रह कर मिठास ही ग्रहण करते हैं।

अगर आप सागर में मछली की भांति रहेंगे तो आनंद की प्राप्ति कर सकेंगे। अगर आप आसक्ति के खारेपन से न बच सकेंगे तो दुःख के पहाड़ आपके सिर पर आ पड़ेंगे।

पामर प्राणी चेते तो चेताऊं तोनेरे !
खोलामां थी धन खोयो, धूल थी कपाल धोयो,
जाणपणूं तारो जोयारे।। पामर.।।
हजी हाथमां छे बाजी, करी ले प्रभु ने राजी।
तारी मूड़ी थशे ताजी रे।। पामर.।।
हाथमां थी बाजी जासी, पाछे पछतावो थासी।
पछे कछू न करी सकारी रे।। पामर.।।

दलपत कवि ने कहा है कि यदि तू चेते तो तुझे चेताऊं। मित्रों! आप भी अपनी आत्मा को चेताओ कि–'रे अविवेकी! तू क्या कर रही है? तू कौन है? कैसी है? और किस अवस्था में आ पड़ी है? जाग! अपने आपको पहचान! अपने असली स्वरूप को निहार! भ्रम को दूर कर! अज्ञान को त्याग! उठ खड़ी हो। अभी अवसर है। इसे हाथ से न जाने दे। ऐसा स्वर्ण अवसर बार–बार हाथ नहीं आता। बुद्धिमान पुरुष की तरह अवसर से लाभ उठा ले।' अगर आप अपने आपको इस प्रकार चेताओगे तो उठ खड़े होओगे। दूसरों का चेताना उतना उपयोगी नहीं हो सकता। अपने आपको आप ही जागृत करना चाहिए। सोचना चाहिए कि–मैं करने योग्य कार्य को छोड़े बैठा हूं और न करने योग्य कार्यों में दिन–रात रचा–पचा रहता हूं। अगर ऐसी ही स्थिति बनी रही तो बाजी हाथ से निकल जायेगी। एक बार हाथ से बाजी निकल जाने पर फिर ठिकाना लगना कठिन है। फिर तो यहां भी दुःख ही दुःख है और वहां भी दुःख ही दुःख है। अरे प्राणी ! तू इतना पाप करता है सो किस प्रयोजन के लिए ? कितना–सा जीवन है तेरा, जिसके लिए इतना पाप करता है।

पानी में पतासा तन का तमाशा है!

यह जीवन कुछ ही समय का है। इस अल्पकालीन एक जीवन के लिए इतना काम करते हो, रात–दिन पसीना बहाते रहते हो। मगर भविष्य का जीवन तो अनन्त है। उस की भी कभी चिन्ता करते हो? क्या तुम यह समझते हो कि सदा–सर्वदा यही जीवन तुम्हारा स्थिर रहेगा? अगर तुम्हारे आंखें हैं तो दुनिया को देखो। क्या कोई भी सदा के लिए स्थिर रहा है या तुम्ही अकेले इस दुराशा में फंसे हो! एक समय आयेगा–निश्चित समझो कि वह समय बहुत दूर नहीं है, जब तुम्हारा वैभव तुम पर हंसेगा और तुम रोते हुए उसे छोड़ कर अज्ञात दिशा की ओर प्रयाण कर जाओगे।

वर्तमान जीवन स्वल्पकालीन है और भविष्य जीवन अनन्त है। इसलिए हे भद्र पुरुष ! वर्तमान के लिए ही यत्न न कर, किन्तु भविष्य को मंगलमय बनाने की भी चेष्टा कर।

साधारणतया आयु के सौ वर्ष माने जाते हैं, यद्यपि सब इतने समय तक जीवित नहीं रहते। इसमें से दस वर्ष बचपन के गये और बीस वर्ष तक पढ़ाई की। इस तरह तीस वर्ष निकल गये। शेष सत्तर वर्ष के आराम के लिए यदि बीस वर्ष तक पढ़ने की मेहनत उठाते हो तो अनन्त काल के सुख के लिए कितना परिश्रम करना चाहिए? जिसकी बदौलत सदा–सर्वदा के लिए सुख

मिल सकता है उस धर्म के लिए जरा भी उत्साह न होना कितने बड़े दुर्भाग्य की बात है? मगर आजकल सर्वत्र यही दृष्टिगोचर हो रहा है कि मां दासी बन रही है और दासी रानी बन रही है।

सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं कि भगवान् मोक्ष के कामी है, अभी मोक्ष में पहुंचे नहीं हैं। इस प्रकार मोक्ष कामी भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील बाग में पधारे।

भगवान मोक्ष के कामी हैं, अब तक मुक्ति में नहीं पहुंचे हैं, यह बात इसलिए कही गई है कि मोक्ष को प्राप्त हो जाने वाले बोलते नहीं हैं। उनके बोलने का कोई कारण ही शेष नहीं रहता है और भगवान् ने उपदेश दिया है। मोक्ष में पहुंचे हुए उपदेश नहीं देते, किन्तु देहधारी ही उपदेश देते हैं।

कई लोगों की मान्यता यह है कि हमारे वेद अपौरुषेय हैं। अर्थात् किसी पुरुष के उपदेश से उनकी रचना नहीं हुई है वरन् वह आप ही प्रकट हुए हैं–अर्थात् अनादि काल से चले आये हैं। मगर जैन धर्म की मान्यता ऐसी नहीं है। शब्द ध्वनि रूप हैं और ध्वनि तालु, कंठ, ओष्ठ आदि स्थानों से ही उत्पन्न होती है। तालु, कंठ आदि स्थान पुरुष के ही होते हैं, इसलिए शब्द पौरुषेय ही हो सकता है–अपौरुषेय नहीं। बिना बोले वचन नहीं होते, इसी बात को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकारों ने यह उल्लेख किया है कि भगवान् उपदेश देते समय मोक्ष में पहुंचे नहीं थे, किन्तु मोक्ष के कामी थे। कामी से मतलब है प्राप्त करने वाले।

प्रश्न–भगवान् पूर्ण रूप से वीतराग हैं। उनका छद्म चला गया है। मोहनीय कर्म सर्वथा क्षीण हो गया है, फिर उनमें कामना कैसे हो सकती है? कामना मोह का विकार है तो निर्मोह में वह कैसे संभव है?

उत्तर– भगवान् में वस्तुतः कामना नहीं है, फिर भी उपचार से उन्हें मुक्तिकामी कहा गया है। कोई कोई वस्तु असली स्वरूप में नहीं होती, लेकिन समझाने के लिए उसका आरोपण किया जाता है। जैसे जब किसी वस्तु में मनुष्य की बुद्धि काम नहीं देती तब समझाने के लिए कहते हैं कि यह घोड़ा है। यद्यपि वह चित्र है मगर आकार का ज्ञान कराने के लिए उसे घोड़ा कह देते हैं। ऐसा करने को उपचार कहते हैं। इस प्रकार शास्त्रों में अनेक स्थलों पर उपचार से भी काम लिया जाता है। यहां भी उपचार से अभिलाषा मानी है।

भगवान् को और कोई अभिलाषा नहीं है, केवल मोक्ष की अभिलाषा है, इस कथन का उद्देश्य यह है कि संसार के प्राणी अन्यान्य सांसारिक

अभिलाषाओं का परित्याग करके केवल मोक्ष की ही अभिलाषा करें। जब तक कषाय का योग है तब तक आशा कामना बनी ही रहती है। इसलिए और आशा न करके केवल यही आशा करो। कहा भी है–

मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः।

अर्थात्–उच्च अवस्था को प्राप्त मुनि–केवली क्या मोक्ष और क्या संसार सभी विषयों में निस्पृह ही होते हैं। और भी कहा है–

यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति

अर्थात्–जिस महापुरुष को मोक्ष की भी इच्छा नहीं रह जाती, जो पूर्ण रूप से निरीह बन जाता है, जिसका मोह समूल नष्ट हो जाता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है।

भगवान् के लिए जो विभिन्न विशेषण यहां दिये गये हैं, उनसे उनका अन्तरंग परिचय मिल जाता है। भगवान् की बाह्य विभूति का भी शास्त्र में वर्णन है। मस्तक से पैरों तक शरीर का अशोक, वृक्ष आदि आठ महाप्रातिहार्यों का, चौंतीस अतिशयों का, पैंतीस गुणों का। अतिशय सम्पदा और उपकार गुण का परिचय यहां संक्षेप से सुनाया जाता है।

भगवान् के केश भुजमोचन रत्न के समान हैं अथवा नील, काजल या मतवाले भ्रमर के पंखों के समान कृष्णता लिए हुए हैं। वह केश वनस्पति के गुच्छे के समान हैं और दक्षिण दिशा से चक्कर खाकर कुण्डलाकार हो गये हैं।

केश का वर्णन करके टीकाकार ने पाठ को संकुचित कर दिया है और पदतल का वर्णन किया है। भगवान् के पदतल (पैरों के तलुवे) रक्त वर्ण के कमल के समान कोमल और सुन्दर हैं।

टीकाकार ने विस्तारभय से अन्य अवयवों का वर्णन न करके उववाई सूत्र का उल्लेख कर दिया है। तात्पर्य यह है कि उववाई सूत्र में भगवान् के अंगोपांगों का जो वर्णन पाया जाता है वही वर्णन यहां भी समझ लेना चाहिए।

प्रधान पुरुष के शरीर में 1008 प्रशस्त लक्षण होते हैं। भगवान् के शरीर में वह सभी लक्षण विद्यमान हैं। भगवान् का धर्मचक्र, धर्मछत्र, चावर, स्फटिक रत्न के पादपीठ सहित सिंहासन आदि आकाश में चल रहे हैं।

इस बाह्य और अंतरंग विभूति से विभूषित भगवान् महावीर चौदह हजार मुनियों और छत्तीस हजार आर्यिकाओं के परिवार से घिरे हुए हैं।

यह आशंका की जा सकती है कि पचास हजार साधु–साध्वियों का परिवार भगवान् के साथ था या यहां परिवार की संख्या मात्र बताई गई है?

इसका समाधान यह है कि यहां दोनों ही अर्थ निकल सकते हैं। अर्थात् इसे परिवार का साथ रहना भी समझा जा सकता है और परिवार इतना था, यह भाव भी समझा जा सकता है।

इस काल में इतने साधु–साध्वियों के एक साथ विहार होने में बहुत सी बातों का विचार हो सकता है, लेकिन जिस समय का यह वर्णन है उस समय के लोगों का प्रेम, उस समय के गृहस्थों की दशा, आदि बातों पर ध्यान देने में यह बात मालूम हो जायेगी कि इतने साधु–साध्वियों के एक साथ विहार करने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं हो सकती। अकेले आनन्द श्रावक के यहां चालीस हजार गायें थी। इस श्रावक के घर कितने साधुओं की गोचरी हो सकती थी, यह सरलता से समझ में आ सकता है।

इस कथन से यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि सब साधु–साध्वी एक ही साथ विहार करते थे। शास्त्र में अलग–अलग विहार करने के प्रमाण भी विद्यमान हैं। जैसे– सूर्यगडांग सूत्र में गौतम स्वामी के अलग विहार करने का उल्लेख मिलता है। केशी स्वामी से चर्चा करने के लिए भी गौतम स्वामी ही गये थे। उस समय भगवान् साथ नहीं थे। इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि साधु अलग–अलग भी विहार करते थे।

इसके अतिरिक्त एक बात और है केवलज्ञानी के लिए दूर या पास में कोई अन्तर नहीं है। उनके लिए जैसे दूर, वैसे ही पास। ऐसी स्थिति में यदि यह कहा जाये कि भगवान् इतने परिवार से घिरे हुए पधारे, तब भी कोई असंगति नहीं है।

भगवान् चौदह हजार साधुओं और छत्तीस हजार आर्यिकाओं के परिवार से घिरे हुए हैं, अनुक्रम से अर्थात् आगे बड़ा और पीछे छोटा–इस क्रम से ग्रामानुग्राम यानी एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करते हुए पधारे।

कुछ लोगों की ऐसी भ्रममय धारणा है कि महापुरुष आकाश से उड़कर आते हैं–वे साधारण पुरुषों की भांति पृथ्वी पर नहीं चलते ! इस धारणा का विरोध करने के लिए ही भगवान् के विहार का यह वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर आकाश में उड़कर नहीं चलते थे, किन्तु ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पधारते थे। पक्षियों की भांति उड़ना महापुरुषों का विहार नहीं है।

इसके अतिरिक्त चाहे ग्राम हो या नगर हो, भगवान् की दृष्टि सभी जगह रहने वाले सभी जीवों पर समान थी। इसी कारण वे पैदल और ग्रामानुग्राम विचरते थे, जिससे सभी जीवों का कल्याण हो। इस प्रकार

घूम–घूम कर कल्याण करने के कारण भगवान् को जंगम तीर्थ कहा है। दूसरी बात यह है कि शहर में रहने वाले लोगों में वैसी प्रेम भावना प्रायः नहीं होती जैसी ग्रामीणों में होती है। ग्रामीणों पर थोड़े ही उपदेश का बहुत प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उनका हृदय विशेष सरल होता है और उनका जीवन भी अपेक्षाकृत सात्विक और अल्पप्रवृत्ति वाला होता है। इसलिए भगवान् ग्रामानुग्राम होते हुए पधारे जिससे ग्राम्य जनता का भी कल्याण हो। आज भी पैदल विचरने वाले जानते हैं कि नागरिकों की अपेक्षा ग्रामीणों में कितनी अधिक श्रद्धा और कितना अधिक प्रेम पाया जाता है। उनमें त्याग–वैराग्य भी अधिक होता है और वे मुनियों को उच्च एवं आदर की दृष्टि से भी देखते हैं। ग्रामीणों में उत्साह भाव भी कहीं अधिक पाया जाता है।

पैदल विहार करने में संयम का भी आनन्द होता है। जो रेल से यात्रा करते हैं उन्हें पैदल यात्रा के आनन्द की कल्पना भी नहीं हो सकती।

अनुक्रम से पैदल ग्रामानुग्राम विहार करने का वृत्तान्त पीछे होने वालों के लिए लिखा गया है, जिससे भगवान् के पुनीत पथ पर चलने वालों को भगवान् के विहार की रीति मालूम हो और वे भी इसी प्रकार विहार करें। अन्यथा भगवान् तो वीतराग थे। उनके लिए नगर और ग्राम में कोई अन्तर नहीं था।

भगवान् महावीर इस प्रकार विहार करते थे जिससे शरीर को विशेष कष्ट न हो अर्थात् वे सुखे–सुखे विहार करते थे। इस प्रकार विहार करते हुए भगवान् राजगृह नगर के गुणशील नामक बाग में पधारे। वहां पधार कर यथायोग्य अवग्रह करके तप–सयंम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

भगवान् तीन लोक के नाथ हैं। जन्म समय में इन्द्र उत्सव मनाते हैं। समस्त देवेन्द्र उनकी सेवा करने में कृतार्थता अनुभव करते हैं। छत्र–चामर आकाश में चलते है। उनका आन्तरिक और देवनिर्मित्त बाह्य वैभव अनुपम होता है। फिर भी भगवान् को अगर एक तिनके की आवश्यकता हो तो मांगकर ही लेते हैं। जो वस्तु संयम में उपयोगी नहीं है उसे लेने का तो पहले से ही त्याग है, मगर संयम में काम आने वाली वस्तुओं में से तिनका जैसी तुच्छ चीज भी वह बिना मांगे नहीं लेते। इस अनुपम त्याग के प्रभाव से ही छत्र–चामर आदि आकाश में चलते थे।

भगवान् के छत्र–चामर आदि आकाश में चलते थे, लेकिन वह यह नहीं कहते थे कि हमें किसी से याचना करने की क्या आवश्यकता है, सब हमारा

ही है। ऐसा कहना ढोंगियों का काम है। इसी कारण शास्त्रकारों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् ने उस बाग में ठहरने की आज्ञा ली और तप–संयम में विचरने लगे।

जब भगवान् स्वयं एक तिनका भी बिना मांगे नहीं लेते थे–एक तिनके को भी अपना नहीं मानते थे, तो मुनियों को सोचना चाहिए कि वे भी बिना याचना के कोई वस्तु कैसे ग्रहण कर सकते हैं?

जब भगवान् राजगृह के गुणशील नामक उद्यान में पधारे, तब भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक जाति के देवगण भगवान् को वन्दना करने के लिए किस प्रकार आये, कैसे बैठे, इत्यादि बातों का वर्णन उववाई सूत्र में विस्तार से पाया जाता है।

भगवान् के पधारने का समाचार राजगृह नगर में पहुंचा। जहां दो पंथ, तीन पंथ और चार पंथ मिलते थे, वहां बहुत से लोग एकत्रित होकर आपस में बात करने लगे–देवानुप्रिय! श्रमण भगवान् महावीर यावत् सम्पूर्ण तीर्थकर गुणों से विराजमान अपने नगर के गुणशील उद्यान में, समर्थ होने पर भी आज्ञा मांग कर तप–संयम में विचरते हैं तथा रूप अरिहंत भगवान् के नाम और गुणों के स्मरण का फल भी अपार है, तो भगवान् के सन्मुख जाकर उन्हें वंदना करने से कितना फल होगा? इसलिए अविलम्ब चलें और भगवान् महावीर को वंदना करके, नमस्कार करके उनके मुखारबिन्द से धर्मोपदेश सुनें।

इस प्रकार परस्पर वार्त्तालाप करके उग्रवंशीय, भोगवंशीय आदि राजकुमार, नगर के अन्य लोग तथा राजा श्रेणिक और रानी चेलना, कोई हाथी पर, कोई घोड़े पर, कोई रथ पर सवार होकर भगवान् को वंदना करने आये। सब ने भगवान् को विधि पूर्वक वंदन नमस्कार किया। श्रेणिक राजा, चेलना रानी और समस्त परिषद् को सर्वानुगामिनी भाषा में अर्थात् सभी की समझ में आने वाली भाषा में, भगवान् ने धर्मोपदेश दिया।

प्रथम तो भगवान् सर्वज्ञ हैं–सब के मन की बात जानते हैं। दूसरे भगवान् का अतिशय ही ऐसा है कि वे प्रत्येक को ऐसी भाषा में धर्मतत्त्व समझा सकते हैं, जिस भाषा में वह समझ सकता हो। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्मतत्व सभी की समझ में सरलता से आ जाये। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दिया जाता है।

जंगल में रहने वाला एक जंगली मनुष्य कहीं जंगल में जा रहा था। उसके साथ उसकी चार स्त्रियां भी थीं। वह अपनी चारों स्त्रियों पर समान भाव से प्यार करता था। चलते–चलते रास्ते में एक स्त्री ने कहा–'अगर आप

गायन गावें तो मैं स्वर से स्वर मिलाऊं'। दूसरी स्त्री ने कहा—मुझे प्यास लगी है, पानी पिलाइए'। तीसरी ने कहा 'मुझे भूख सता रही है, कहीं से कोई शिकार करो तो पेट की ज्वाला शान्त करूं'। चौथी बोली—'मैं बहुत थक गई हूं, बिस्तर कर दो तो मैं सो जाऊं'।

चारों स्त्रियों की बात एक दूसरी से विरुद्ध है। लेकिन उस पुरुष ने ऐसा उत्तर दिया, जिससे चारों का समाधान हो गया। चारों ही अपनी—अपनी बात का उत्तर पा गईं। जंगली ने चारों की बात के उत्तर में कहा—'सर नहीं'।

प्राकृत भाषा में 'स्वर' के स्थान पर सर होता है। 'सर नहीं' इससे यह मतलब निकला कि मैं गाऊं क्या, मेरा स्वर तो चलता ही नहीं है। 'सर नहीं' इस उत्तर से पहली स्त्री यही समझी कि इनका कण्ठ नहीं चलता है, इसलिए यह गा नहीं सकते। दूसरी स्त्री ने जल मांगा था। 'सर नहीं' इस उत्तर से वह यह समझी कि तालाब नहीं है, यह पानी कहां से लावें ! तीसरी ने शिकार करने के लिए कहा था। 'सर नहीं' इस उत्तर से वह समझी कि जब सर अर्थात् बाण ही नहीं तो यह शिकार कैसे कर सकते हैं ? सर अवसर को भी कहते हैं। चौथी स्त्री ने बिस्तर करने की बात कही थी। वह इस उत्तर से यह समझी कि अभी बिस्तर करने का अवसर नहीं है—भला राह चलते सोने का अवसर कहां?

इस प्रकार पुरुष के एक ही उत्तर से चारों स्त्रियां सन्तुष्ट हो गई। अर्थात् उन्हें अपनी—अपनी बात का उत्तर मिल गया।

तात्पर्य यह है कि जब एक साधारण जंगली भी ऐसा उत्तर दे सकता है कि जिससे चारों स्त्रियां एक ही बात में अपना—अपना उत्तर पा सकती हैं तो जो समस्त विद्याओं के स्वामी हैं—जिन्हें सम्पूर्ण विद्याएं कण्ठस्थ हैं, वे भगवान् यदि सर्वानुगामिनी भाषा बोलें तो क्या आश्चर्य की बात है ?

भगवान् ने जो धर्मदेशना दी, उसका भी संक्षिप्त वर्णन दिया गया है। उसका मूल यह है कि भगवान् ने अस्तिकाय की बात कही और कहा कि लोक भी है।

'लोक' किसे कहते हैं? लोक—विलोकने धातु से लोक शब्द निष्पन्न हुआ है। 'लोक्यते इति लोकः' अर्थात् जो देखा जाये वह लोक है। यहां पर कहा जा सकता है कि सब को समान तो दिखता नहीं है, इस कारण लोक एक न रहकर अनेक हो जाएंगे। इसका उत्तर यह है कि केवलज्ञान से—निरावरण दृष्टि से जो देखा जाये वही लोक है। निरावरण दृष्टि भिन्न प्रकार की नहीं होती, अतएव लोक की एकरूपता में कोई बाधा नहीं आती।

प्रश्न–जो केवलज्ञान से देखा जाये वह लोक है, ऐसा अर्थ मानने पर अलोक भी लोक कहलाएगा, क्योंकि केवल–ज्ञान द्वारा अलोक भी देखा जाता है?

उत्तर–यद्यपि केवलज्ञानी लोक और अलोक–दोनों को ही देखते हैं फिर भी सिर्फ देखने मात्र से ही अलोक, लोक नहीं हो सकता। केवली भगवान् और जिस आकाश–विभाग को पंचास्तिकायमय देखते हैं उस प्रदेश की संज्ञा लोक है जिस आकाश–विभाग को पंचास्तिकाय से शून्य शुद्ध आकाश रूप में देखते हैं उसकी संज्ञा अलोक है। इस प्रकार लोक और अलोक का विभाग होने से किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होती।

अलोक का अर्थ 'न देखा जाना' है। मगर यह 'न देखा जाना' ज्ञान की न्यूनता का परिचायक नहीं है। जब कोई वस्तु विद्यमान हो मगर देखी न जाये तो दृष्टि की न्यूनता समझी जायेगी। जहां वस्तु न हो वहां अगर वह नहीं दिखाई देती तो उसमें दृष्टि सम्बन्धी कोई दोष नहीं माना जा सकता। मान लीजिए एक जगह जल है और दूसरी जगह स्थल है। स्थल की जगह अगर कोई जल के विषय में पूछे तो यही कहा जायेगा कि यहां जल नहीं है। वास्तव में वहां जल है ही नहीं तो दिखाई कैसे देगा? इस प्रकार भगवान् के केवलज्ञान में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है, लेकिन जहां उन्होंने पांच अस्तिकाय–लोक दिखाई दिया उसे अलोक कहा। वास्तव में वहां एक ही अस्तिकाय है, शेष चार अस्तिकाय हैं ही नहीं तो दीखते कहां से?

प्रश्न–अलोक लोक में क्यों नहीं मिल जाता? समुद्र में मर्यादा है इसलिए वह स्थल से नहीं मिलता। लेकिन लोक–अलोक के बीच में क्या कोई दीवार है जो अलोक को लोक के साथ नहीं मिलने देती? जीव नरक से निकल कर सिद्धशिला तक चौदह राजू लोक तक जाता है, फिर क्या कारण है कि लोक के जीव अलोक में नहीं जाते?

उत्तर–हम जब किसी वस्तु के बीच का अंग देखते हैं तो यह समझ लेते हैं कि इसका आदि और अन्त भी कहीं अवश्य होगा। इसी प्रकार स्थूल लोक हम मध्य में देखते हैं तो उसकी आदि और अंत भी कहीं होगा ही। जब आदि और अंत हैं तो सीमा हो ही गई। इसके अतिरिक्त पदार्थ जहां के तहां बने रहेंगे तभी लोक और अलोक का नाम रहेगा। अगर लोक के पदार्थ अलोक में गये तो लोक और अलोक नाम रहेगा ही क्यों ? ऐसी स्थिति में तो लोक–अलोक के पृथक्–पृथक् नाम ही मिट जायेंगे।

प्रश्न–लोक के पदार्थों को अलोक में न जाने देने वाली शक्ति क्या है? पदार्थों को अलोक में जाने देने से कौन रोकता है ?

उत्तर–पदार्थों को अलोक में न जाने देने वाली शक्ति धर्मास्तिकाय है। जैसे जहाज और मछली को यद्यपि पानी नहीं चलाता किन्तु पानी के बिना उनका चलना संभव भी नहीं है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय किसी पदार्थ को प्रेरित करके गति नहीं कराता, फिर भी धर्मास्तिकाय के बिना जीव और पुद्गल की गति नहीं हो सकती। धर्मास्तिकाय जल के समान है। जहां धर्मास्तिकाय रूपी जल भरा है वहीं जीव और पुद्गल जाते हैं। जहाँ धर्मास्तिकाय नहीं है वहां उनका गमन होना असंभव है। इस प्रकार लोक के पदार्थों को अलोक में न जाने देने का निमित्त धर्मास्तिकाय है।

प्रश्न–लोक चौदह राजू प्रमाण ही क्यों हैं?

उत्तर–प्रकृति से ही लोक इतना बड़ा है। अगर किसी ने लोक का निर्माण किया होता तो कहा जा सकता था कि उसने इतना बड़ा ही क्यों बनाया ? और बड़ा या छोटा क्यों नहीं बनाया? लोक तो प्राकृतिक ही अनादि काल से इतना बड़ा है। उसके विषय में क्यों और कैसे को अवकाश नहीं है। अग्नि उष्ण क्यों है? जल शीतल क्यों है? इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि–

स्वभावोऽतर्कगोचर :।

अर्थात्–स्वभाव में किसी की तर्क नहीं चलती।

इसी प्रकार लोक का पूर्वोक्त परिणाम स्वाभाविक है। उसमें तर्क–वितर्क नहीं किया जा सकता। लोक का जो स्वाभाविक परिणाम है उसे शास्त्रकारों ने बतला दिया है।

धर्मास्तिकाय पदार्थ जैन शास्त्र के सिवाय और कहीं नहीं है। खोज तो बहुतों ने की, मगर केवलज्ञानी के सिवाय इस पदार्थ को कोई न बता सका। लोक अलोक की कल्पना बहुतों ने की है, लेकिन लोक अलोक के विभाग का वास्तविक कारण जैन शास्त्र के अतिरिक्त और कोई न बतला सका। यही परिपूर्ण ज्ञान का परिचायक है।

भगवान् यही उपदेश दे रहें हैं कि–'हे जगत् के जीवों! लोक भी है और अलोक भी है' इस प्रकार उपदेश देकर भगवान् ने लोक–अलोक का अस्तित्व बता दिया मगर हमें अपने कर्त्तव्य का भी विचार करना चाहिए।

मानव डर रे।

मानव डर रे चौरासी में घर है रे, मानव डर रे।
तू तो जाणे छे यो घर म्हारो रे,
प्राणी थारे न चलसी लारो रे,
थाने बाल ने करसी छारो रे, मानव डर रे।।

भगवान् ने लोक का अस्तित्व इसलिए बतलाया है कि जगत् के जीव संसार से भयभीत और विरक्त हों। हे जीव! तू किस सम्पदा पर गर्व कर रहा है?

एक बालक को उसका शिक्षक नक्शा बता रहा था। बालक का पिता भी वहीं बैठा था। बालक ने अपने पिता से कहा—पिताजी, देखिए इस नक्शे में कैसे—कैसे पदार्थ बताये गये हैं। लेकिन पिताजी, आप एक मिल के मालिक हैं। उस मिल ने बहुत—सी जगह रोक रक्खी है। वह मिल इस नक्शे में कहां है? मैंने बहुत खोजा, मगर अपना मिल नक्शे में कहीं नहीं मिला। आप बतलाइए वह मिल इसमें कहां है?

बालक की बात सुनकर पिता ने कहा—भोले बच्चे! जिस नक्शे में इतना बड़ा देश बताया गया है उसमें अगर एक—एक मिल बताया जाये तो कैसे काम चलेगा? जिस नक्शे में कलकत्ता और बम्बई जैसे विशाल नगर भी एक—एक बिन्दु में बतलाये हैं, उसमें एक मिल का क्या पता चलेगा?

बालक ने कहा—आप अपने मिल को बहुत बड़ा बतलाते थे, इसलिए मैंने पूछा। लेकिन इस देश के नक्शे में उसका क्या पता लगेगा? वह मिल चाहे जितना बड़ा हो मगर दुनिया में उसका कुछ भी स्थान नहीं है।

बालक की यह बात सुनकर पिता का गर्व शान्त हो गया। उसने सोचा—बालक की इस भोलेपन की बात में कितना महान् तथ्य छिपा हुआ है? मैं जिस पर गर्व करता हूं, वह दुनिया की दृष्टि में नगण्य है—तुच्छ है !

ज्ञानियों ने यह स्पष्ट कह दिया है कि लोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां यह जीव जन्म—मरण न कर चुका हो। इस जीव ने सम्पूर्ण लोक में अनन्त चक्कर काटे हैं, फिर भी यह जैसा का तैसा है। अतएव ममता त्याग कर समता धारण करना ही सार है।

आप कहेंगे—हमें क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि नक्शे में आपका घर न होने से आप नक्शा बनाने वाले पर दावा नहीं करते हैं। इतनी निस्पृहता एवं उदारता आप में है ही। इस निस्पृहता और उदारता को आगे बढ़ाओ। जैसे थोड़े से जीवन के लिए घर बनाते हो, वैसे ही अनन्त जीवन के घर का सोच करो। इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा था—

पासाएकारइत्ताणं, वद्धमाणगिहाणिय।
वालग्गपोइयाओय, तओ गच्छसिखत्तिया।।

उत्तराध्ययन 9 वां अ०

अर्थात्—पहले आप ऐसा घर बनाइए, जिसे सारा संसार देखे, फिर चाहे दीक्षा ले लेना।

इसके उत्तर में राजर्षि नमि ने कहा–

संसयंखलुसोमकुणई, जोमग्गेकुणइघरं।
जत्थेवगन्तुमिच्छेजा, तत्थकुविज्जसासयं।।

उत्तराध्ययन 9 वां अ॰

मित्र! तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु जिसे यहां से परलोक जाने में संशय हो, वह भले यहां घर बनावे। जिसे परलोक जाने का विश्वास है–परलोक के घर के संबंध में संशय नहीं है वह यहां घर क्यों बनावें ? वह वहीं अपना घर क्यों न बनावें? यहां थोड़े दिन रहना है तो घर बनाने की क्या आवश्यकता है? घर तो कहीं बनाना ही है, सो ऐसी जगह घर बनाना होगा जहां सदैव रह सकें–जिसे छोड़कर फिर भटकना न पड़े। राह चलते, रास्ते में घर बनाना बुद्धिमत्ता नहीं है।

मित्रों! एक अल्पकालीन जीवन के लिए घर बनाते हो तो जहां जाना है–सदा रहना है, वहां भी तो घर बना लो। साधु–सन्त और सतियां वहीं का घर बना रही हैं। आप भी वहां घर बनाने की अभिलाषा रखते हैं। मगर वह घर बनाने के लिए त्याग चाहिए। जीवन की आशा भी छोड़ देनी होगी। ऐसा त्यागी ही वहां घर बना सकता है। जब जाना निश्चित है और यह जानते हो कि शरीर नाशवान् और आत्मा अविनाशी है, तो अविनाशी के लिए अविनाशी घर क्यों नहीं बनाते?

सराय दुनिया है कूच की जां।
हर एक को खोफ दम बदम है।।
रहा सिकन्दर यहां न दारा।
न है करीदां यहां न जम है।।
मुसाफिराना थके हो जागो।
मुकाम फिरदो सही दुरम है।।
सफर है दुशवार खुवाब कब तक।
बहुत बड़ी मंजिले अदम है।।
नसीम जागो कमर को बांधो।
उठावो बिस्तर के रात कम है।।

संसार सराय है, इसमें स्थायी रूप से नहीं रह सकते। आप किसी मकान को ही सराय समझते हैं मगर वास्तव में सारा संसार ही सराय है। इसमें आज तक कोई स्थायी न रहा, न रहेगा। सिकन्दर एक बड़ा बादशाह हुआ है, जिसने थोड़े से हिन्दुस्तान के सिवाय और अनेको देश जीत लिये थे।

जब वह मरने लगा, तब उसने कहा—मेरे हाथ कफ़न से बाहर रखना। उसका जनाजा निकला। लोग सोचने लगे—'शाही उसूल के खिलाफ इस बादशाह के हाथ कफन से बाहर क्यों निकले हैं?' चलते—चलते जब एक मैदान आया, तब शाही चोबदार एक टीले पर खड़ा होकर कहने लगा—'अपने बादशाह की अन्तिम बात सुनिये।' सब लोग उत्सुक होकर अपने मृत बादशाह की अन्तिम बात सुनने के लिए व्यग्र हो उठे। सन्नाटा छा गया। चोबदार ने कहा—आपके बादशाह कह गये हैं—कि मैंने जीवित अवस्था में आप लोगों को अनेक उपदेश दिये हैं, लेकिन एक उपदेश देना बाकी रह गया था, जो अब देता हूं। मृत्यु के समय ही इस उपदेश का मुझे खयाल आया। मैंने हजारों—लाखों मनुष्यों के गले काट कर यह सल्तनत खड़ी की और काबू में रक्खी है। मुझे इस सल्तनत पर बड़ा नाज था और इसे मैं अपनी समझता था। लेकिन यह दिन आया। मेरे तमाम मन्सूबे मिट्टी में मिल गये। सारा ठाट यहीं रह गया और मैं चलने के लिए तैयार हूं। मेरी मुसाफिरी में साथ देने वाला कोई नहीं है। मुझे अकेले ही जाना होगा। मैं आया था—हाथ बांधकर और जा रहा हूं खुले हाथ। अर्थात् जो कुछ लाया था वह भी यहीं रह गया। मेरे साथ सिर्फ नेकी—बदी जाती है; शेष सारा वैभव यहीं रहा जाता है।

यह बात चाहे कोई भी क्यों न कहे, यह निश्चित है कि एक दिन जाना होगा। जब जाना निश्चित है तो समय रहते जाग कर जाने की तैयारी क्यों नहीं करते? साथ जाने वाली चीज के प्रति घोर उपेक्षा क्यों सेवन कर रहे हो? समय पर जागो और अपने हिताहित का विचार करो।

भगवान् महावीर को वन्दना करने के लिए जो परिषद् गई थी, उसे भगवान् ने धर्मदेशना दी। भगवान् ने लोकालोक का स्वरूप बतलाया और जिस धर्म से आत्मा मोक्ष का अधिकारी बनती है, उस धर्म का स्वरूप निरूपण किया। धर्मदेशना सुनकर और यथाशक्ति धर्म धारण करके सब लोग अपने—अपने स्थान को चले गये।

प्रकृत शास्त्र का मूल वक्ता कौन है? श्रोता कौन है? इस प्रकार गुरुपर्वक्रम दिखलाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं:—

गोतम स्वामी का वर्णन

मूल—तेणं कालेणं, तेणं समएणं समण्स्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इंदभुई नामं अणगारे गोयमगुत्ते णं, सत्ततुस्सेहे, समचउरंससंठाणसंठिए, वज्जरिसहनारायसंघयणे,

कणयपुलयनिग्घसपम्हगोरे, उग्गतवे दित्ततवे, तत्ततवे, हातवे, ओराले, घोरे, घोरगुणे, घारतवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छुढसरीरे, संखित्तविउलतेयलेस्से, चौद्दसपुव्वी, चउनाणोवगए, सव्वक्खरसन्निवाई, संमणस्स भगवओ महावीरस्स अनुरसामंते, उड्ढंजाणू, अहोसिरे, झाणकोट्ठोवगए, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावे माणे विहरई।(2)

संस्कृत–छाया–तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूतिर्नामाऽनगारः, गौतमगोत्रः, सप्तोत्सेधः, समचतुरस्र संस्थानसंस्थितः, वज्रर्षभनारायसंहननः, कनकपुलकनिकषपक्ष्म–पद्म) गौरः, उग्रतपाः, दीप्ततपाः, तप्ततपाः, महातपाः, उदारः, घोरः, घारेःगुणः, घोरतपव्सी घोरब्रह्मचर्यवासीः, उच्छ्ढशरीरः, संक्षिप्तपुलतेजोलेश्यः, चतुर्दशपूर्वी, चतुर्ज्ञानोपगतः, सर्वाक्षरसन्निपाती, श्रमणस्सः, भगवतः महावीरस्य अदूरसामन्ते, ऊर्ध्वजातुः, अधःशिराः, ध्यानकोष्ठोगतः, संयमेन तपसा आत्मनं भावयन् विहरति। (2)

शब्दार्थ–उस काल, उस समय, श्रमण भगवान् महावीर के पास (न बहुत दूर, न बहुत पास) उत्कुटुकासन से, नम्र सिर किये हुए, ध्यान रूपी कोठे में प्रविष्ट, भगवान्के ज्येष्ठ बड़े शिष्य इन्द्रभूति नामक अणगार संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं। वह गौतम गोत्र वाले, सात हाथ ऊंचे, सम चौरस संस्थान वाले, वज्र–ऋषभनाराच संहनन वाले, सोने के टुकड़े की रेखा समान पद्म–पराग समान वर्ण वाले उग्र तपस्वी, दीप्ततपस्वी, तप्त तपस्वी, महातपस्वी, उदार, घोर, घोर गुणों वाले, घोर तप वाले, घोर ब्रह्मचर्य में वास करने वाले, शारीरिक संस्कार का त्याग करने वाले, संक्षिप्त और विपुल तेजो लेश्यों वाले, चौदह पूर्वो के ज्ञाता, चार ज्ञान के धनी और सर्वाक्षर सन्निपाती समस्त अक्षरों के ज्ञाता हैं। (2)

व्याख्यान–श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं–इस काल और उस समय में इत्यादि। यद्यपि काल तो वही है, लेकिन समय का निर्धारण करने के लिए फिर काल का उल्लेख किया है। वह अवसर्पिणी नामक हीयमान काल था। और समय वह था जब भगवान् राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान में पधारे हैं। परिषद् धर्मदेशना सुनकर गई है और भगवान् सुखासन पर विराजमान हैं। उसी समय की यह बात है।

समय का उल्लेख करने का तात्पर्य है कि उचित समय पर ही प्रश्न करना चाहिए। जिससे प्रश्न करना है वह अगर किसी अन्य कार्य में व्यस्त

हो तो उस समय प्रश्न करना उचित नहीं है। ऐसे समय प्रश्न करने से उत्तर भी यथोचित नहीं मिल पाता है। अतएव किये जाते हुए कार्य से निवृत्त होने पर प्रश्न पूछना चाहिए।

श्री गौतम स्वामी ने, जो भगवान् के प्रथम और प्रधान शिष्य थे, यह सूत्र भगवान् से श्रवण किया और धारण किया। इस कथन से यह सूचित किया गया है कि गौतम स्वामी संघ के नायक या अग्रेसर थे। उनका नाम इन्द्रभूति था। यह उनके माता–पिता का दिया हुआ नाम था।

नाम के बिना लोक–व्यवहार नहीं चलता। किसी से रुपया वसूल करने के लिए न्यायालय में दावा करना है तो सर्वप्रथम नाम बतलाना होगा। इसी प्रकार खाने–पीने, आने–जाने आदि के सम्बन्ध में, किसी की कोई बात कहनी है तब भी नाम बताये बिना काम नहीं चलता। जब छोटे कार्य में भी नाम की आवश्यकता है तो जो मनुष्य बड़ा कार्य करने वाला है, उसका पता बिना नाम के कैसे चल सकता है? इसी उद्देश्य से यहां नाम का उल्लेख किया गया है–उनका नाम इन्द्रभूति था, जो माता–पिता का दिया हुआ नाम है।

ज्येष्ठ अन्तेवासी कहने से यह भी समझा जा सकता है कि कोई बड़ा श्रावक होगा, क्योंकि भगवान् का शिष्य श्रावक भी कहला सकता है और साधु भी कहला सकता है। ऐसी स्थिति में इन्द्रभूति श्रावक थे या साधु, यह स्पष्ट करने के लिए उन्हें 'अनागार' विशेषण लगाया गया है। अनागार का अर्थ है–घर रहित जिसके घर न हो अर्थात् साधु। इस विशेषण से यह स्पष्ट हो गया कि इन्द्रभूति श्रावक नहीं, साधु थे।

संसार में एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं, अतएव जब तक गोत्र न बतलाया तब तक किसी व्यक्ति विशेष को समझने में भ्रम हो सकता है। इस प्रकार का भ्रम न हो, उस उद्देश्य से इन्द्रभूति अनागार का गोत्र गौतम था। वे अपने गोत्र से प्रसिद्ध थे। जैसे आजकल 'मोहनदास करमचन्द' कहने से कई लोग चक्कर में पड़ जाएंगे मगर 'गांधीजी' कहने से कई लोग शीघ्र ही उन्हें पहचान जाऐंगे। जैसे गांधीजी अपने गोत्र से प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार इन्द्रभूतिजी भी अपने गौतम गोत्र से ही प्रसिद्ध थे। अर्थात् इन्द्रभूति कहने से तो समझने में किसी को अड़चन भी हो सकती थी किन्तु 'गौतम स्वामी' कह देने से सब समझ जाते थे।

इस प्रकार गौतम स्वामी के नाम–गोत्र का परिचय देने के पश्चात् अब उनके शरीर का परिचय दिया जाता है।

यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।

सामुद्रिक शास्त्र बतलाता है कि जिसकी आकृति अच्छी होगी उसमें गुण भी अच्छे होंगे। इस कथन के अनुसार ही गौतम स्वामी के शरीर का परिचय दिया गया है।

गौतम स्वामी का शरीर सात हाथ ऊंचा था। यों तो सभी मनुष्य अपने–अपने हाथ से 3।। हाथ के होते हैं मगर यहां ऐसा नहीं समझना चाहिए। जैन शास्त्र में नापने के परिमाणों का बहुत स्पष्ट वर्णन दिया गया है। अंगुल तीन प्रकार के होते हैं–(1) प्रमाणांगुल (2) आत्मांगुल और (3) उत्सेधांगुल। जो वस्तु शाश्वत है अर्थात् जिसका नाश नहीं है वह प्रमाणांगुल से नापी जाती है। ऐसी वस्तु का जहां परिमाण बतलाया गया हो वहां प्रमाणंगुल से ही समझना चाहिए। आत्मांगुल से तत्कालीन नगर आदि का परिमाण बतलाया जाता है। इस पांचवें आरे को साढ़े दस हजार वर्ष बीतने पर उस समय के लोगों के जो अंगुल होंगे, उन्हें उत्सेधांगुल कहते हैं। गौतम स्वामी का शरीर उत्सेधांगुल से सात हाथ का था। इस प्रकार यद्यपि गौतम स्वामी के हाथ से उनका शरीर साढ़े तीन हाथ ही था। परन्तु पांचवें आरे के साढ़े दस हजार वर्ष बीत जाने पर यह साढ़े तीन हाथ ही सात हाथ के बराबर होंगे। इस बात को दृष्टि में रखकर ही गौतम स्वामी का शरीर सात हाथ लम्बा बतलाया गया है। गौतम स्वामी आकार में सुडौल और सुगठित थे।

शरीर के मुख्य दो भाग माने जाते हैं। एक भाग नाभि के ऊपर का और दूसरा भाग नाभि के नीचे का। जिस मनुष्य के सम्पूर्ण अवयव अच्छे हों, उनमें किसी प्रकार की न्यूनता न हो–प्रमाणोपेत हों, उसे समचतुरस्रसंस्थानवान् कहते हैं।

अथवा–किसी एक अंग को दृष्टि में रखकर अन्यान्य अंगों का तदनुसार जो परिमाण है अर्थात् आंख इतनी बडी है तो कान इतना बड़ा होना चाहिए, कान इतना बडा है तो ललाट या नाक इतनी बड़ी होनी चाहिए, इस प्रकार के परस्पर सापेक्ष परिमाण के अनुसार जो आकृति हो वह समचतुरस्रसंस्थान कहलाती है।

अथवा–कोई मनुष्य समतल भूमि पर पालथी मार कर बैठ जावें उसके बीच में से एक डोरी निकाल कर ललाट तक नापे। ललाट तक नापी हुई रस्सी से दोनों घुटनों के अन्तर को, तथा दाहिने कंधे और बायें घुटने के अन्तर को और बांयें कंधे तथा दाहिने घुटने के अन्तर को नापे। अगर चारों जगह का नाप बराबर हो तो समचतुरस्रसंस्थान समझना चाहिए।

प्रश्न—सर्प भी समचतुरस्रसंस्थान वाला हो सकता है, मगर पूर्वोक्त समचतुरस्रसंस्थान का लक्षण उसमें घटित नहीं होता। सर्प में जितनी लम्बाई होती है उसके हिसाब से मोटाई नहीं पाई जाती। इसलिए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस योनि में जो जन्मा हो उसके परिमाण के अनुसार जो सुडोल और सुन्दर हो वह समचतुरस्रसंस्थान वाला कहलाता है। इस प्रकार कौन, कितना ऊंचा, लम्बा आदि हो, इसका हिसाब अलग—अलग हो जाता है। इस विषय का विचार शास्त्रों में यथास्थान किया भी गया है।

गौतम स्वामी के शरीर की आकृति का वर्णन किया। आकृति सुन्दर होने पर भी हाड निर्बल हो सकते हैं। मगर गौतम स्वामी की हड्डियां कमजोर नहीं थीं, यह प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है—गौतम स्वामी वज्रर्षभनाराचसंहनन वाले थे।

ऋषभ का अर्थ पट्टा है और वज्र का अर्थ कीली है। नाराच का अर्थ है दोनों ओर खींचकर बंधा होना। यह तीनों बातें जहां विद्यमान हों उसे वज्र—ऋषभ—नाराचसंहनन कहते हैं। जैसी लकडी में लकडी जोड़ने के लिए पहले लकड़ी की मजबूती देखी जाती है, फिर कीली देखी जाती और फिर पत्ती देखी जाती है।

कहा जा सकता है कि हाड में कीली होने की बात आधुनिक विज्ञान से संगत नहीं है, तब यह क्यों कही गई है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकारों ने कहा है कि यह सब उपमा—कथन है। पट्टा, कीली और बन्धन होने से मजबूती आ जाती है और मजबूती को सूचित करना यहां शास्त्रकार का प्रयोजन है। साराशं यह है कि गौतम स्वामी का शरीर हाड़ों की दृष्टि से भी सदृढ़ और सबल है। जिस का शरीर बलवान होता है उसकी आत्मा भी प्रायः बलवान होती है।

आकृति की सुन्दरता और अस्थियों की सुदृढ़ता होने पर भी शरीर का वर्ण निन्दनीय हो सकता है। पर गौतम स्वामी के विषय में यह बात नहीं थी। यह स्पष्ट करने के लिए उन्हें 'कनक पुलकनिकषपक्ष्मगौर' विशेषण लगाया गया है। कनक का अर्थ है सोना। सोने के टुकड़े को काट कर कसौटी पर घिसने से जो उज्ज्वल रेखा बनती है, उस रेखा के समान सुन्दर गौतम स्वामी के शरीर का वर्ण था अथवा पद्म—कमल के केसर जैसे पीतवर्ण होते हैं, वैसा ही गौर वर्ण गौतम स्वामी का था।

वृद्ध आचार्यों का यह भी कथन है कि सोने का सार निकाल कर कसौटी पर कसने से जैसी स्वर्ण रेखा बनती है, वही वर्ण गौतम स्वामी के

शरीर का था। सोने का सार निकाल कर कसौटी पर घिसने से होने वाली रेखा का वर्ण और भी अधिक सुन्दर होता है। इस प्रकार गौतम स्वामी का अतीव उज्ज्वल गौर वर्ण अतिशय सुहावना था।

अथवा–सोना तपाने पर गल जाता है गले हुए सोने के बिन्दु का जो रंग होता है वैसा ही वर्ण गौतम स्वामी के शरीर का था।

यहां तक गौतम स्वामी की शरीर–सम्पत्ति की विशेषता से ही किसी पुरुष की महत्ता नहीं है। मनुष्य की वास्तविक महत्ता उसके सद्गुणों पर निर्भर है। हाड़ से ही लाड़ करने वाले बहिरात्मा कहलाते हैं। अतएव यह देखना चाहिए कि गौतम स्वामी में क्या गुण थे? शास्त्रकार बतलाते हैं कि गौतम स्वमी हीन चारित्र वाले नहीं थे, किन्तु उग्र तप करते थे। उनका तप इतना उग्र है कि कायर पुरुष उसका विचार करके ही कांप उठेगा।

शारीरिक गठन और शारीरिक सौन्दर्य उसी का प्रशस्त है जिसमें तप की मात्रा विद्यमान है। सुन्दरता हुई मगर तपस्या न हुई तो वह सुन्दरता किस काम की? तपहीन सुन्दर शरीर तो आत्मा को और चक्कर में डालने वाला है।

जिसमें तप होता है उसी की महिमा का बखान किया जाता है। गौतम स्वामी घोर तपस्वी थे, इसी कारण साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध संघ उनका गुणगान करता है।

गुण अरूपी और शरीर रूपी है। निराकार का ध्यान साकार के अवलम्बन से किया जाता है। गौतम स्वामी के गुणों का ध्यान करने के लिए उनका शरीर का ध्यान करना पड़ता है। गौतम स्वामी के शरीर का ध्यान करते हुए ही यह कहा गया है कि वह ऐसे गौर वर्ण और सुन्दर थे कि उनके सामने देवता भी लज्जित हो जाते थे।

ध्यान कई प्रकार से किया जाता है। एक पिण्डस्थ ध्यान है, जिसमें पिण्ड का चिन्तन किया जाता है। रूपस्थ भी एक ध्यान है जिसमें वास्तविक रूप का ध्यान करना पड़ता है।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब पिण्ड का ध्यान किया जाता है तो फिर भगवान् की मूर्त्ति बना कर भगवान् का ध्यान करने में क्या हानि है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अगर मूर्त्ति से केवल ध्यान का ही काम लिया जाये तो कोई हानि नहीं है, लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि गौतम स्वामी के शरीर को भी शरीर कहा है, चैतन्य नहीं कहा है। यद्यपि शरीर और चैतन्य साथ हैं एकमेक हैं, फिर भी शरीर चैतन्य न कहकर शरीर ही कहा और शरीर का वर्णन किया, अब अगर कोई शरीर को ही घोर तप आदि कह

दे अर्थात् शरीर से गुणों का अभेद कहने लगे तो वह कथन ठीक कैसे माना जा सकता है? राजा प्रदेशी शरीर और आत्मा को अभिन्न कहता था, इसी कारण उसे नास्तिक कहते थे, क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न–भिन्न हैं। जैसे आत्मा को देखने और जानने के लिए शरीर को देखना और जानना आवश्यक है, उसी प्रकार यदि ईश्वर को जानने के लिए मूर्त्ति मानी जाती है तो हानि नहीं है, बशर्ते कि यह समझ कर मूर्त्ति का अवलोकन किया जाये कि ईश्वर और मूर्त्ति अलग–अलग हैं, मैं केवल ईश्वर पर दृष्टि जमाने के लिए मूर्त्ति को देखता हूं। इस प्रकार विचार रखकर मूर्त्ति को देखा जाये और ईश्वर को मूर्त्ति से भिन्न माना जाये तब तो कोई गड़बड़ ही न हो, लेकिन आज तो लोग मूर्त्ति को ही भगवान् माने बैठे हैं।

मूर्त्ति को भगवान् मानना जड़ को चेतन मानना है। यद्यपि शरीर और आत्मा निकटवर्ती हैं, फिर भी दोनों एक नहीं है। शरीर और आत्मा भिन्न–भिन्न हैं। गीता में कहा है –

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।अ 2।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।2।।

अर्थात्–हे अर्जुन! आत्मा वह है जो शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। शरीर जन्मता और मरता है परन्तु आत्मा जन्म नहीं, और मरण नहीं, हां, उपचार से आत्मा, और शरीर के साथ अवश्य जन्मती–मरती है, मगर यह उपचार है, वास्तविकता नहीं। आत्मा न भूतकाल में बनी है, न वर्तमान में बनी रही है और न भविष्य में बनेगी ही। आत्मा भूतकाल में थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगी।

अतीत काल कितना है, इसका विचार करो। आज कल विक्रमीय संवत् 1988 है। विक्रम राजा को हुए 1988 वर्ष व्यतीत हो गये। परन्तु उससे भी पहले काल था या नहीं? इस अनन्त काल को माप करके भी आप अपने को भूल रहे हैं। आत्मा ने अनन्त काल मापा है। मापने वाला बड़ा होता है और जिसे मापा जाता है वह उससे छोटा होता है। रत्न बड़ा नहीं होता उसका मूल्यांकन करने वाला बड़ा होता है। कदाचित् तुम यह समझो कि हम सौ वर्ष पहले नहीं थे, तो यह तुम्हारी भूल होगी। आपने ऐसे–ऐसे अनन्त शरीर ग्रहण करके त्यागे हैं। आत्मा सदा से है, सदा रहेगी। आप शरीर के पीछे आत्मा को भूल बैठे हैं, यही बुराई है। इसी प्रकार लोग मूर्त्ति के पीछे ईश्वर को भूल बैठे हैं। मूर्ति को ऐसा पकड़ा कि और कोई बात याद न रही। यही बुराई है।

एक आदमी वृक्ष की शाखा का सहारा लेकर चन्द्रमा को देखता है और दूसरा शाखा के सहारे के बिना ही उसे देखता है। बिना शाखा के सहारे के चन्द्रमा को देखना तो उत्तम है ही और शाखा का सहारा लेकर चन्द्रमा को देखना भी बुरा नहीं है। लेकिन शाखा को ही चन्द्रमा मान बैठना भूल है। इसी प्रकार मूर्ति के सहारे ईश्वर का स्मरण करना बुरा नहीं है लेकिन लोग तो मूर्ति को ही ईश्वर मान बैठे हैं। यह भयंकर भूल है।

अगर कोई आदमी बिना शाखा का अवलम्बन लिये ही चन्द्र देखता है तो क्या हानि है? फिर किसी को यह कहना कि तुम मूर्ति को क्यों नहीं मानते, पूजते हो, कैसे उचित कहा जा सकता है।

अगर कोई यह कहे कि हम ईश्वर की मूर्ति से ईश्वर का ध्यान करते हैं तो इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि समता भाव मूर्ति पूजने वालों में अधिक है या न पूजने वालों में? अगर अमूर्ति पूजकों की अपेक्षा, मूर्ति पूजकों में समता भाव की अधिकता नहीं है। तो फिर उनका यह कथन सत्य कैसे माना जाता है कि वे मूर्त्ति का अवलम्बन करके ईश्वर का ध्यान करते हैं?

ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को भूलकर और केवल मूर्त्ति को ही ईश्वर समझ कर उसकी विनय भक्ति करना उचित नहीं कहा जा सकता। वीतराग की मूर्त्ति देखकर वीतरागता का भाव लाना चाहिए–वीतराग बनने का प्रयास करना चाहिए, मगर यहां तो उल्टी गंगा बहती नजर आती है। वीतराग बनने की बात तो दूर रही, स्वकीय राग–भाव से प्रेरित होकर लोग वीतरागता की मूर्त्ति को ही सराग बनाने की चेष्टा करते हैं। अगर साधु को कुंडल एवं हार पहनाओ तो क्या वह विवेकपूर्ण भक्ति कहलाएगी? नहीं ।

साधु को देखकर और साधुता का चिन्तन करके आपको वैराग्य भाव होना चाहिए था, वही सच्ची साधुभक्ति कहलाती, लेकिन साधु को ही मुकुट कुंडल पहना देना उचित नहीं समझा जा सकता। मूर्त्ति पर मुकुट कुण्डल रखने से कौन कहेगा कि यह वीतराग की मूर्त्ति है? भगवान् तो निर्ग्रन्थ थे, मुक्त थे। उनकी इस भावना को छोड़कर सराग भावना में कैसे पड़ते हैं? वीतराग भावना छोड़कर सराग भावना में मूर्त्ति देखकर पड़ना वृक्ष की शाखा को ही चन्द्रमा मानने के समान भूल है। यदि मूर्त्ति से विकार के भाव मिट जाते हों तो मूर्त्ति देखकर ईश्वर का ध्यान करने में कोई आपत्ति नहीं, मगर वीतराग को ही सराग बना डालना अवश्य आपत्तिजनक है।

छद्मस्थ को शारीरिक (पिण्डस्थ) ध्यान करना पड़ता है, लेकिन शारीरिक ध्यान के साथ आत्मिक गुणों का संबंध अवश्य होना चहिए। गौतम

स्वामी के शरीर के साथ उनके आत्मिक गुणों का भी संबंध है, इसी कारण उनके शरीर का ध्यान किया जाता है और आत्मिक गुणों का संबंध बताने के लिए ही उनके तप का भी उल्लेख कर दिया है।

गौतम स्वामी का ऐसा शरीर तप के प्रभाव से है। दीपक में जो प्रकाश होता है, वह अग्नि का होता है, पात्र का नहीं। अग्नि में ही ऐसी शक्ति है कि वह पात्र प्रकाशित कर देती है। इसी प्रकार तप के प्रताप से ही गौतम स्वामी का शरीर प्रकाशमान है। जिस शरीर से तप विद्यमान है वह शरीर भी वंदनीय है।

आज गौतम स्वामी नहीं है और न उनके तप की समानता करने वाला ही कोई मौजूद है, लेकिन उनका आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित है। इसी आदर्श से अनुप्राणित होकर महात्मा लोग बड़े–बड़े तप करते हैं। साधुजन तप का केवल वर्णन ही नहीं करते, वरन् आचरण करके भी बतलाते हैं। इससे यह सिद्ध है कि शारीरिक दुर्बलता के इस जमाने में भी इतनी तपस्या की जा सकती है तो सबल संहनन वाले प्राचीन काल में कितनी तपस्या की जाती होगी!

गौतम स्वामी का तप शक्त्यानुसार साधु करते हैं तो क्या आनन्द और कामदेव का तप श्रावक करके नहीं दिखला सकते?

तप से शरीर क्षीण हो जाता है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। तपस्या करने से शरीर उल्टा निरोग और अच्छा रहता है। अमेरिका वालों ने बारह करोड़ पौंड या रुपये केवल उपवास चिकित्सा की खोज और व्यवस्था में व्यय किये हैं। उन्होंने जान लिया है कि उपवास मन, शरीर, बुद्धि आदि के लिए अत्यन्त लाभदायक है। उन्होंने अनेक रोगों के लिए उपवास–चिकित्सा की हिमायत की है। आपने डाक्टर पर भरोसा करके, अपना शरीर डाक्टरों की कृपा पर छोड़ दिया है, आपको उपवास पर विश्वास नहीं है, इसी कारण इतने रोग फैल रहे हैं। शारीरिक लाभ् के सिवाय उपवास से इन्द्रियों का निग्रह भी होता है और संयम पालन में भी उससे सहायता मिलती है।

तप बड़ो संसार में , जीव उज्ज्वल होवे रे।
कर्मारो ईंधन जले, शिवपुर नगर सिधावे रे ।।तप0।।
तपस्या तो कीनी श्री महावीरजी, कठिन कर्मा जो भागा रे।
धन्न मुनीश्वर तप तप्या, स्वार्थ सिद्ध तई लागा रे ।।तप0।।

संसार में तप बड़ी चीज है। तप का प्रभाव अद्भुत और अपार है। जिस काल ने, जिस देश ने और जिस समाज ने तप को अपनाया है–जो तप

की शरण में गया है, उसे आनन्द–मंगल प्राप्त हुआ है । तप से अशांति और अमंगल दूर हो जाते हैं।

तपस्या से देव सेवा करे, मारे लक्ष्मी पिण आवे रे।
ऋद्धि वृद्धि सुख सम्पदा, आवागमन मिटावे रे ।।तप0।।

यह संसार तपोमय है। तप से देवता भी कांप उठते हैं और तप के वशवर्ती होकर तपस्वी के चरणों का शरण ग्रहण करते हैं। ऋद्धि–सिद्धि, सुख सम्पत्ति भी तप से ही मिलती है। तीर्थंकर की ऋद्धि समस्त ऋद्धियों में श्रेष्ठ है। वह ऋद्धि भी तपस्वी के लिए दूर नहीं है। भगवान् महावीर ने नन्द राजा के भव में ग्यारह लाख, पच्चीस हजार मास–खमन का तप किया था। इसी तप के प्रभाव में वह महावीर हुए। इस चरम भव में भी भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष का घोर तप किया था।

भगवान् ने नौ बार चौमासी तप किया था–वह भी 120 दिन का चौविहार तप। एक छह मास का तप किया था और एक तेरह बोल युक्त छहमास का अभिग्रह तप किया था। इन अभिग्रहों के पूरा होने का वर्णन किया तो मालूम हुआ कि जैन संघ में कैसी–कैसी महान् शक्तियों ने जन्म लिया था। भगवान् महावीर ने ऐसे कठिन अभिग्रह किये तो देवी चन्दनबाला मिली ही। किसकी प्रशंसा की जाये भगवान् महावीर की या देवी चन्दनबाला की? आज तो लोग यह भी कहने का साहस कर सकते हैं कि धर्म करने से चन्दनबाला पर ऐसे कष्ट आये, मगर चन्दरनबाला ने कष्ट न झेले होते तो महावीर जैसे तपस्वी के पवित्र चरण उसके यहां कैसे पड़ते?

भगवान् महावीर का तप तो पांच मास, पच्चीस दिन तक चला था, लेकिन चन्दनबाला ने तो तेला ही किया था। फिर भी चन्दनबाला के तेले की शक्ति ने भगवान् महावीर को खींच लिया। भगवान् दीर्घतपस्वी थे। पांच मास, पच्चीस दिन तक उपवास करना उनके लिए बहुत बड़ी बात न थी, मगर चन्दनबाला राजकुमारी थीं। राजकन्या होकर बिक जाना, अपने ऊपर आरोप लगने देना, सिर मुंडवाना, प्रहार सहन करना, क्या साधारण बात है ? तिस पर उसके हथकड़ी–बेड़ी डाली गई और भौंयरे में बंद कर दी गई। फिर भी धन्य है चन्दनबाला महासती को, जो मुस्कुराती रहीं और अपना मन मैला न होने दिया।

भगवान् ने अन्यान्य मार्गों के विद्यमान रहने पर भी तप का ही मार्ग ग्रहण किया, अतएव हमें भी यह मार्ग नहीं त्यागना चाहिए। परिस्थिति कैसी भी हो, अगर क्षमा के साथ तप किया जाये तो अवश्य ही कल्याण होगा।

भगवान् महावीर सदृश महान तपस्वी के प्रधान शिष्य गौतम तपस्वी न हों, यह कैसे हो सकता है? यही कारण है कि गौतम स्वामी भी घोर तप के धारक थे। साधारण मनुष्य जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता, उसे उग्र कहते हैं। इस प्रकार के तप को उग्र तप कहते हैं। गौतम स्वामी ऐसे उग्र तप से सुशोभित हैं कि साधारण पुरुष जिसके स्वरूप का चिंतन भी नहीं कर सकते।

भगवान् गौतम में उग्र के साथ दीप्त तप भी हैं। दीप्त का अर्थ है–जाज्वल्यमान। अग्नि की तरह जाज्वल्यमान तप को दीप्त कहते हैं। गौतम स्वामी का जाज्वल्यमान तप कर्म रूपी वन को भस्म करने में समर्थ हैं, अतएव उन का तप दीप्त कहलाता है।

भगवान् गौतम दीप्त तप के साथ ही तप्त तप के भी धारक हैं। जिस तप से कर्मों को संताप उत्पन्न हो, कर्म ठहर न सकें उसे तप्त तप कहते हैं। अथवा गौतम स्वामी ने अपने आपको आराम में न रख कर, अपने शरीर को तप रूपी अग्नि में डाल दिया, इस कारण वह तप्त–तपस्वी हैं। आपने आपको तप की अग्नि में डालने से यह लाभ हुआ कि जैसे अग्नि को कोई हाथ नहीं लगाता उसी प्रकार तप की अग्नि में पड़े हुई आत्मा को पाप या कर्म स्पर्श नहीं कर सकता।

गौतम स्वामी महा तपस्वी हैं। किसी कामना से अर्थात् स्वर्ग–प्राप्ति, वैरी–विनाश या लब्धिलाभ आदि की आशा से किया जाने वाला तप महातप नहीं कहला सकता। गौतम स्वामी का तप महातप है, क्योंकि वह निष्काम भावना से किया गया है। उन्हें किसी प्रकार की कामना नहीं थी, यह गौतम स्वामी के तप का वर्णन हुआ।

तपो–वर्णन के पश्चात् कहा गया है कि गौतम स्वामी 'ओराले' हैं। 'ओराले' का अर्थ है भीम; अर्थात् गौतम स्वामी का तप भय उत्पन्न करता है। उनका तप पार्श्वस्थ (पासत्थ) लोगों को, जिन्हें ज्ञान दर्शन–चरित्र में रुचि नहीं है, जिनके ज्ञान आदि मंद हैं, जिन्हें इन पर श्रद्धा नहीं है, भय उत्पन्न करने वाला है।

गौतम स्वामी का तप पासत्थों के लिए भयंकर है, यह गौतम गुण समझा जाये या अवगुण? गौतम स्वामी सब को निर्भय बनाने वाले हैं, प्राणी मात्र को अभयदान देने वाले हैं, फिर उनके तप से किसी को भय क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर एक उदाहरण से समझना ठीक होगा। मान लीजिए एक चोर चोरी करने गया। वहां राजा या कोई राजकर्मचारी मिल

गया, जिससे डर गया। यह डर राजा या राजकर्मचारी से उद्भूत हुआ है या चोर के पास से पैदा हुआ है? वास्तव में इस भय के लिए राजा या राजकर्मचारी उत्तरदायी नहीं है, चोर का पाप ही उसे डरा रहा है। राजा या राजकर्मचारी ने उसे डराया नहीं है, उसका पाप ही उसे डरा रहा है; यद्यपि राजा या कर्मचारी उसमें निमित्त बन गया है। फिर भी यह राजा का गुण ही गिना जायेगा कि पापी उससे डरते हैं। इसी प्रकार यद्यपि गौतम स्वामी पासत्थों को डराते नहीं हैं तथापि उनके तप को देख कर वे अपनी शिथिलता अनुभव करते हैं और अपनी शिथिलता से आप ही डरते हैं। इस प्रकार गौतम स्वामी के तप को निमित्त बनाकर वे भयभीत होते हैं। यह गौतम स्वामी का अवगुण नहीं गिना जा सकता। सच्चे धर्मात्मा में ऐसा प्रभाव अवश्य होना चाहिए कि उसके बिना कुछ कहे ही पापी लोग उससे कांपने लगें। ऐसा धर्मात्मा ही तेजस्वी कहलाता है।

सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं–मैंने गौतम स्वामी के साथ विहार किया है। उनके तप के प्रभाव से शिथिलाचारी पासत्थे कांपने लगते थे। यह पासत्थे अपने पासत्थेपन के कारण ही भयभीत होते थे। अगर उनमें पासत्थापन न होता तो उन्हें गौतम स्वामी अतिशय प्रिय लगते। परन्तु पासत्थेपन के कारण उन्हें गौतम स्वामी उसी प्रकार प्रिय नहीं लगते जैसे चोरों को चांदनी प्रिय नहीं लगती पासत्थों को तप प्रिय नहीं है, अतएव वे गौतम से डरते हैं।

'ओराल' का अर्थ भीम या भयंकर है और उदार अर्थ भी है। उदार प्रधान को कहते हैं। गौतम स्वामी प्रधान होने के कारण उदार कहलाते हैं।

गौतम स्वामी 'घोर' हैं अर्थात् दया या घृणा से रहित हैं। उन्हें परीषह रूपी शत्रुओं को नाश करने में दया नहीं है। परिषह–शत्रु को जीतने में वह दया नहीं दिखलाते। अथवा–इन्द्रियों पर और विषय–कषाय पर वे कभी दया नहीं करते। इस अपेक्षा से गौतम स्वामी को 'घोर' कहा है।

दुर्गुणों पर और विशेषतः अपने ही दुर्गुणों पर दया दिखाने से हानि ही होती है। इसलिए इन्द्रियों को और दुर्गुणों को उन्होंने निर्दय होकर जीत लिया है। विजय वीरता से प्राप्त होती है। लौकिक युद्ध की अपेक्षा लोकोत्तर–आत्मिक युद्ध में अधिक वीरता अपेक्षित है। गौतम स्वामी ने आन्तरिक रिपुओं को–काम, क्रोध आदि को वीरता के साथ, निर्दय होकर जीता था।

दूसरे आचार्यों ने 'घोर' का अर्थ यह किया कि गौतम स्वामी आत्मा की अपेक्षा–रहित हैं अर्थात् वे आत्मा की ओर से निस्पृह हैं। उन्हें अपने प्रति तनिक भी ममता नहीं है, अतएव उन्हें 'घोर' कहा गया है।

गौतम स्वामी घोर गुण वाले हैं। उनके मूल गुण ऐसे हैं कि दूसरा कोई नहीं पाल सकता। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता रूप पांचों महाव्रतों का वे इस प्रकार पालन करते हैं कि इस प्रकार से पालन करना दूसरों के लिए कठिन है।

गौतम स्वामी का तप मूल गुणों के साथ ही साथ लगा है। मूल गुण अहिंसा का जितने प्रशस्त रूप में पालन होगा, तप वैसा ही प्रशस्त होगा। बिना अहिंसा तप नहीं होता। सत्य भी जितना घोर होगा, तप भी उतना ही घोर होगा। गौतम स्वामी में यह समस्त गुण तप के साथ हैं इसलिए उन्हें 'घोर' गुण कहा है।

गौतम स्वामी घोर ब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मचर्य सब तपों में उत्तम तप है। गौतम स्वामी के गुणों और व्रतों के वर्णन में यद्यपि ब्रह्मचर्य का समावेश हो जाता है तथापि ब्रह्मचर्य की महत्ता प्रकट करने के लिए उसका अलग उल्लेख किया है।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या लम्बी है, लेकिन ब्रह्मचर्य का संक्षिप्त अर्थ है–इन्द्रिय और मन पर पूर्ण रूप से आधिपत्य स्थापित करना। जो पुरुष अपनी इन्द्रियों पर और मन पर आधिपत्य जमा लेगा वह आत्मा में ही रमण करेगा, बाहर नहीं। गौतम स्वामी ब्रह्मचर्य का इतनी दृढ़ता से पालन करते हैं कि और लोग उनके ब्रह्मचर्य की बात सुनकर ही कांप जाते हैं। इसलिए उनका ब्रह्मचर्य घोर है।

गौतम स्वामी पूर्ण ब्रह्मचारी हैं, यह कैसे प्रज्ञात हुआ ? इसका उत्तर यह है कि गौतम स्वामी इस प्रकार रहते हैं मानों उन्होंने शरीर फैंक दिया हो। शरीर की उन्हें जरा भी चिन्ता नहीं रहती। उसकी ओर उनका ध्यान कभी नहीं जाता। इस प्रकार रहन–सहन के कारण उन्हें 'उछूढ़ शरीर' कहा है। जो शारीरिक सुखों की तरफ से सर्वथा निरपेक्ष हो जाता है–शरीर के सुख के प्रति उदासीन बन जाता है, वही पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। शरीर को संवारने वाला, शरीर सम्बन्धी टीमटाम करने वाला ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता।

एक गुण दूसरे गुण पर अवलम्बित रहता है। जिसका ब्रह्मचर्य गुण भली भांति नहीं पलता है, उनके अन्यान्य मूल गुण भी स्थिर नहीं रह पाते। इस प्रकार मूल गुणों की स्थिरता के लिए जैसे ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिए शरीर संस्कार के त्याग की परम आवश्यकता है। ऐसा किये बिना ब्रह्मचर्य व्रत नहीं पल सकता। अगर किसी

कंकर को भी संवार कर, अच्छे कपड़े में लपेट कर रास्ते में डाल दिया जाये तो लोग उसे उठा लेंगे। इसके विपरीत अगर मूल्यवान् हीरे को मैले-कुचेले फटे चीथड़े में बांधकर डाल दिया जाये तो उसे सहसा उठाने की कोई इच्छा न करेगा। यही शरीर की स्थिति है। शरीर का साज-सिंगार करके उसे सुन्दर बनाया जाये तो ब्रह्मचर्य टिक नहीं सकता। गौतम स्वामी शरीर में निवास करते हुए भी मानों शरीर से अतीत हैं। वे आत्मा में ही रमण करते हैं-शरीर को जैसे भूले हुए हैं।

ऐसा तप करने वाले और ब्रह्मचर्य पालने वाले के लिए कोई भी लौकिक या लोकोत्तर लब्धि या शक्ति दूर नहीं-समस्त शक्तियां उसकी मुट्ठी में रहती हैं। गौतम स्वामी की और लब्धियों का विचार न करके सिर्फ एक ही लब्धि का विचार कीजिए। उन्हें तेजोलेश्या नामक लब्धि प्राप्त हो गई थी।

गौतम स्वामी ने अपनी उत्पन्न हुई तेजोलेश्या को संक्षिप्त करके शरीर में लीन कर ली है। उनकी तेजोलेश्या लब्धि बाहर नहीं है। यद्यपि उनकी तेजोलेश्या है विपुल विस्तार वाली मगर उन्होंने संकुचित करके इतनी छोटी बना ली है कि शरीर के बाहर नहीं निकलने देते। उनकी तेजोलेश्या का विस्तार इतना बड़ा है कि अगर उसे बाहर निकाल दिया जाये तो हजारों कोस में फैल कर चाहे जिसे भस्म कर डाले। इस तपोजनित लब्धि को गौतम स्वामी ने सिकोड़कर अपने ही शरीर में लीन कर लिया है।

अपनी विपुल शक्ति को दबा लेना और समय पर शत्रु पर भी उसका प्रयोग न करना बड़े से बड़ा काम है। शक्ति उत्पन्न होना महत्व की बात है मगर उसे पचा लेना और भी बड़ी बात है। महान् सत्वशाली पुरुष ही अपनी शक्ति को पचा पाते हैं। सामान्य मनुष्यों को तो अपनी साधारण सी शक्ति का भी अजीर्ण हो जाता है।

कहा जा सकता है कि अगर शक्ति का उपयोग न किया जाये तो वह किस काम की? फिर तो उसका होना न होने के बराबर है। क्षत्रिय तलवार बांधता है, लेकिन जब शत्रु सामने आया तब अगर तलवार न चलाई तो उसकी तलवार किस काम की? गौतम स्वामी में ऐसी लब्धि है कि हजारों कोस तक फैल कर वह चाहे जिसे भस्म कर सकती है, फिर भी अगर अपमान करने वाले को दंड न दे सके तो वह लब्धि किस मर्ज की दवा है!

मैं पूछना चाहता हूं कि क्षत्रिय की तलवार किस पर चलनी चाहिए?

'शत्रु पर!'

मित्र पर नहीं?

'जी नहीं'

मित्र पर तलवार चलाने से क्षत्रियत्व प्रकट होता है कि मित्र पर तलवार न चलाने से क्षत्रियत्व प्रकट होता है?

'न चलाने पर।'

स्वार्थ से प्रेरित होकर अपने मित्र को मार डालने वाला क्षत्रिय क्या वास्तव में क्षत्रिय कहला सकता है?

'कदापि नहीं।'

क्षत्रिय के मित्र होते हैं और शत्रु भी होते हैं, इसलिए वह मित्रों को बचाता है और शत्रुओं को मारता है, लेकिन गौतम स्वामी का शत्रु कोई है ही नहीं, उनके सभी मित्र ही मित्र हैं। उनका सिद्धान्त है –

मित्ती से सव्वभुएसु।

जब उनका कोई शत्रु नहीं है, सब मित्र ही मित्र हैं, तो वे तेजोलेश्या किस पर चलावें?

गौतम स्वामी की प्राणीमात्र पर मित्रता की भावना है, यह इससे सिद्ध है कि उन्होंने तेजोलेश्या के होते हुए भी किसी पर उसका प्रयोग नहीं किया। आप कह सकते हैं कि जो अकारण ही ऊपर धूल फैंके उसे शत्रु समझना चाहिए, लेकिन जिसमें शत्रु–मित्र का भेदभाव हो वही धूल डालने वाले को शत्रु समझता है। गौतम स्वामी इस भेदभाव से परे हो गये हैं, उनकी दृष्टि में शत्रु–मित्र का भेद नहीं है; वे समस्त जीवों को मित्र ही मित्र मानते हैं। सम्मान करने वाला और अपमान करने वाला दोनों ही उनके आगे समान हैं।

सन्तों में क्षमा गुण की विशेषता पाई जाती है, इसीलिए वे वन्दनीय हैं। सम्मान के समय क्षमा की कसौटी नहीं होती। क्षमा की परीक्षा उसी समय होती है जब अप्रिय व्यवहार किया जाये, निन्दा की जाये, गुण होने पर भी दुर्गुणी बताया जाये। ऐसे अवसरों पर जिनके मनमहोदधि में किंचित् भी क्षोभ उत्पन्न नहीं होता, जिनके चेहरे पर सिकुड़न नहीं आती, जिनके नेत्र लाल होकर भौहें तन नहीं जातीं, वही पुरुषवर क्षमाशाली कहलाते हैं।

आप क्षमाशील को साधु मानते है, या थप्पड़ के बदले घूंसा मारने वाले को? 'क्षमाशील को।'

गौतम स्वामी उस पुरुष पर तो क्रोध करते ही क्यों जो उनका सत्कार करता है। रही अपमान करने वाले को सजा देने की बात। अगर वह अपमान करने वाले को अपनी तेजोलेश्या से भस्म कर देते तो क्या आप उन्हें मानते? क्या उनका इस प्रकार बखान करते? क्या वे हमारे लिए आदर्श होते? नहीं,

उन्होंने अपनी तेजोलेश्या को इस प्रकार गोप रक्खा था कि उन्होंने कोई कितना ही क्यों न सतावे, वे उसका प्रयोग नहीं करते थे। इस अपूर्व क्षमा गुण के कारण ही गौतम स्वामी हमारे लिए वन्दनीय, पूजनीय हैं। दुष्टों पर क्षमाभाव रखकर उन्हें भी अपना मित्र मान लेना आसाधारण सामर्थ्य का परिचायक है। यह सामर्थ्य देवों के सामर्थ्य से भी कहीं उत्तम है। गौतम स्वामी के इस रूप का ध्यान करने से पापों का विनाश होगा।

गौतम स्वामी के शरीर, तप, लेश्या, और क्षमा का वर्णन किया गया। अब यह देखना है कि उनमें ज्ञान की मात्रा कितनी थी? इस संबंध में सुधर्मा स्वामी कहते हैं–गौतम स्वामी चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। वे चौदह पूर्वों के ज्ञाता ही नहीं वरन् उनके रचयिता थे। गौतम स्वामी श्रुत केवली थे। जो केवल ज्ञानी की तरह निस्संदेह वचन बोलता है वह श्रुत केवली कहलाता है।

गौतम स्वामी में मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान और मन पर्याय ज्ञान है। अर्थात् केवल ज्ञान को छोड़ कर शेष चार ज्ञानों के धारक हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यद्यपि गौतम स्वामी चौदह पूर्वों के ज्ञाता और चार ज्ञानों के धनी थे, लेकिन सम्पूर्ण श्रुत में उनकी व्यापकता थी या नहीं? क्योंकि चौदह पूर्वधारियों में भी कोई अनन्त गुण हीन और कोई अनन्त गुण अधिक होता है। चौदह पूर्वधारी भी संख्यात भाग हीन, असंख्यात भाग हीन, अनन्त भाग हीन, संख्यात गुणहीन, असंख्यात गुणहीन, अनन्त गुणहीन होते हैं। और संख्यात भाग अधिक, असंख्यात भाग अधिक, अनन्त भाग अधिक संख्यात गुण अधिक, असंख्यात गुण अधिक और अनन्त गुण अधिक भी होते हैं। इस तरमता में गौतम स्वामी का क्या स्थान था?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए 'सव्वक्खरसन्निवाई' विशेषण दिया गया है। सारे संसार का और तीनों कालों का साहित्य 52 अक्षरों से ही लिखा जाता है। जितने वाच्य पदार्थ हैं उतने ही वचन हैं। गौतम स्वामी को इन सब वचनों का ज्ञान प्राप्त है। वह 'सर्वाक्षरसन्निपाती' हैं कोई भी अक्षर उनके ज्ञान से अज्ञात नहीं रहा है। वे सभी अक्षरों को जोड़ने वाले हैं।

अथवा–'सव्व' पद का 'श्रव्य' रूप भी बन जाता है। श्राव्य का अर्थ है सुनने योग्य। गौतम स्वामी की वचन रचना श्रवण करने योग्य है, अतः वह श्राव्य–अक्षरसन्निपाती हैं। उनके मुख से कटुक, कठोर या अप्रिय वचन निकलते ही नहीं है। उनके वचन अमृत के समान मधुर और जगत् का परम कल्याण करने वाले हैं।

इतने गुणों के धारक होने पर भी गौतम स्वामी गुरु की शरण में रहते थे? जो स्वयं ही सब के गुरु होने योग्य हैं, उनका भी कोई गुरु है ? इस संबंध में सुधर्मा स्वामी का कथन है कि गौतम स्वामी ऐसे गुण और ज्ञान के धारक होने पर भी अपने गुरु भगवान् महावीर की शरण में रहते थे। वे भगवान् का ऐसा विनय करते थे, मानों विनय के साक्षात रूप ही हों। उनमें जो लब्धियां थीं वे अभिमान चढ़ाने या बढ़ाने के लिए नहीं थीं।

श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कह रहे हैं कि ऐसे गौतम स्वामी, भगवान् से न बहुत दूर, न बहुत समीप आत्मा को संयम–तप से भावित करते हुए विचर रहे हैं। उन्हें यह विचार ही नहीं है कि–हम ऐसे ज्ञानी और गुणी हैं, इसलिए अलग रहकर अपना नाम फैलावें, क्योंकि यहां रहेंगे तो भगवान् के होते हमें कौन पूछेगा? जहां केवल ज्ञानी विराजते हैं वहां दूसरा चाहे जितना बड़ा विद्वान् क्यों न हो, उसकी पूछ नहीं होती। कैसी भी प्रकाशमान सर्च लाइट क्यों न हो, सूर्य की बराबरी नहीं कर सकती। गौतम स्वामी ने अपना अलग संघ बनाने का कभी विचार नहीं किया। वह इतने विनीत हैं कि भगवान् के चरण कमलों के भ्रमर बने रहते हैं और तप एवं संयम की साधना करते है।

संयम और तप मोक्ष के प्रथम अंग हैं। संयम और तप में अन्तर यह है कि संयम नये कर्म नहीं बंधने देता और तप पुराने कर्मों का नाश करता है। जब नये कर्मों का बन्ध बंद हो जाता है और पुराने कर्म क्षीण हो जाते हैं तो मुक्ति के अतिरिक्त और क्या फल हो सकता है? इसी कारण गौतम स्वामी संयम और तप की आराधना करते हुए भगवान् के समीप विचर रहे हैं।

हमे सुधर्मा स्वामी का कृतज्ञ होना चाहिए जिन्होंने गौतम स्वामी जैसे महान् पुरुष के महान् गुणों का वर्णन करके हमारे सामने एक श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित किया है। उन्होंने ऐसा न किया होता तो हम गौतम स्वामी का परिचय कैसे प्राप्त करते?

गौतम स्वामी के सद्गुणों को जानकर, हमें कर्त्तव्य का विचार करना चाहिए। हमारा कर्त्तव्य है कि उनके गुणों को जानकर, हममें जितनी भी शक्ति है वह सब दूसरे कामों में न लगाकर ऐसे काम में लगावें जिसमें गौतम स्वामी के गुणों की आराधना हो। गौतम स्वामी ने अनेक गुणों से विभूषित होने पर भी भगवान् के शिष्य रहने में लघुता में ही महत्ता देखी। उन्हें अपनी गुरुत्ता का ध्यान नहीं आया। अपनी गुरुत्ता को भूलने में ही महान् गुरुत्ता है। एक कवि ने कहा है––

पर कर मेरु समान, आप रहे रज कण जिसा।
ते मानव धन जान, मृत्यु लोक में राजिया।।

राजिया कवि कहता है कि मनुष्यलोक में धन्यवाद का पात्र वही है जो दूसरों को मेरु के समान उच्च बनाकर आप स्वयं रज–कण के समान रहता है। जिसमें दूसरों को मेरु के समान उच्च बनाने की शक्ति है वह स्वयं कितना ऊंची श्रेणी का होना चाहिए? दूसरों की दृष्टि में चाहे जितना ऊंचा हो परन्तु वह अपने आपको रज के कण के समान तुच्छ ही समझता है। वास्तव में ऐसा महापुरुष महान् है और धन्य है।

जो लोग अच्छे–अच्छे, मूल्यवान् एवं सुन्दर वस्त्राभूषण पहन कर निकलते हैं, उनकी भावना यही होती है कि लोग उन्हें अच्छा और बड़ा आदमी समझें। मगर यदि अच्छे कर्त्तव्य के साथ अच्छे गहने–कपड़े हों तब तो कदाचित् ठीक भी है। अगर भीतरी दुर्गुणों को छिपाने के लिए ही बढ़िया वस्त्र और आभूषण धारण कर लिए, भीतर पाप भरा रहा तो ऐसा मनुष्य धिक्कार का पात्र ही गिना जायेगा। बल्कि ऐसे आदमियों की प्रशंसा करने वाला भी मूर्ख समझा जायेगा। धन्य तो वही है जो बड़ा होकर के भी रज कण बना रहता है।

गांधीजी के विषय में अमेरिका के एक पादरी ने लिखा था कि संसार में सब से बड़ा मनुष्य मोहनदास करमचंद गांधी है। यद्यपि संसार में बड़े–बड़े बादशाह हैं, एक से बढ़कर एक धनवान् हैं, वे मनुष्य भी हैं, फिर गांधीजी को ही सब से बड़ा क्यों बतलाया है? जिन्हें संसार के सब मनुष्यों में बड़ा बतलाया जा रहा है, वे बड़े हो करके भी रहन–सहन में भिखारी की तरह रहते हैं। क्या इस उदाहरण से कवि का कथन सत्य साबित नहीं होता?

स्मरण रखिए, आप अपने को बड़ा दिखाने के लिए जितनी चेष्टा करते हैं, उतनी ही चेष्टा अगर बड़ा बनने के लिए करें तो आप में दिखावटी बड़प्पन के बदले वास्तविक बड़प्पन प्रकट होगा। तब अपना बड़प्पन दिखाने के लिए आपको तनिक भी प्रयत्न न करना होगा; यही नहीं बल्कि आप उसे छिपाने की चेष्टा नहीं करेंगे। यह बड़प्पन इतना ठोस होगा कि उसके मिट जाने की भी आशंका न रहेगी। ऐसा बड़प्पन पाने के लिए महापुरुषों के चरित्र का अनुसरण करना चाहिए और जिन सद्गुण रूपी पुष्पों से उनका जीवन सौरभमय बना है उन्हीं पुष्पों से अपने जीवन को भी सुरभित बनाना चाहिए।

बाहरी दिखावट, ऊपरी टीमटाम और अभिमान, यह सब तुच्छता की सामग्री है। इससे महत्ता बढ़ती नहीं है, प्रत्युत पहले अगर आंशिक महत्ता हो

तो वह भी नष्ट हो जाती है। तुच्छता के मार्ग पर चलकर महत्ता प्राप्त करने की आशा मत करो। विष पान करके कोई अजर–अमर नहीं बन सकता।

लोग दुकान सजाते हैं। दुकान सजाने का एक उद्देश्य यह है कि लोग भभके में आ जावें और उन्हें ठगा जाये। क्या ऐसा करना अच्छा काम है? यह उद्देश्य प्रशस्त है? दुकान की सजावट के साथ अगर प्रामाणिकता हो तब तो ठीक है, मगर केवल चालबाजी के लिए सजाना कैसे ठीक कहा जा सकता है।

आज अधिकांश मनुष्य, राजा से रंक तक प्रायः इसी चालबाजी में पड़े हैं। सभी यह चाहते हैं कि हमारे दुर्गुण भले ही बने रहें मगर लोग हमारी प्रशंसा करें। मगर एक बार अपनी आत्मा से पूछो। सोचो–'हे आत्मन्! तू चाहता तो बड़ाई है, मगर अपने दुर्गुणों से आप ही पतित हो रहा है।'

अपने को आप भूल कर हैरान हो गया ।
माया के जाल में फंसा वीरान हो गया ।।

लोग चाहते क्या हैं और करते क्या हैं? वाहवाही चाहते हैं मगर थू–थू के काम करते हैं। यह देखते नहीं कि हमारे काम कैसे हैं? आज गांधीजी की वाहवाही हो रही है तो क्या उन्होंने वाहवाही के लिए किसी प्रकार का ढोंग किया है? नहीं। उन्होंने काम ऐसे किये जिससे उनकी वाहवाह हो रही है। अगर आप ऐसे अच्छे काम नहीं कर सकते तो कम से कम झूठ वाहवाह पाने की लालसा तो न रखिए।

कोई गोटा कोई किनारी पहनकर नखरा दिखावे भारी ।
न हुक्म रब का कोई माने खुदा की बातें खुदा ही जाने ।।

हमारे यहां आत्मा ही खुदा है। जो खुद ही बना हो वह खुदा कहलाता है। क्या आत्मा स्वयं ही नहीं बना है? फिर क्या आत्मा की बातें आत्मा ही नहीं जानता? तुम्हारी बात तुमसे छिपी नहीं है। हे आत्मा! तू नखरेबाजी से संसार को रिझाना चाहता है, लेकिन यह देख कि तेरे में परमात्मा की आज्ञा मानने की कितनी शक्ति है? जिस कार्य के करने से और अधिक पतन होता है, वह कार्य करने से क्या लाभ है?

मिल के जिन कपड़ो को पहनने से न संसार का ही लाभ है, उन्हें पहननें में क्या लाभ है? थोड़ा परमात्मा के हुक्म को मानो तो क्या कोई हानि होगी? मिल के वस्त्र त्याग देने से क्या आत्मा का कल्याण न होगा? और मिल के वस्त्र त्याग देने पर क्या कोई कष्ट होगा? आप कह सकते हैं मोटे कपड़े गर्मी में कष्ट पहुंचाते हैं, मगर दूसरे सैकड़ों मनुष्य खादी के वस्त्र पहनते हैं,

सो क्या वह मनुष्य नहीं हैं? सारी सुकुमारता क्या आपके ही हिस्से आई? और क्या आप गौतम स्वामी के शिष्य नहीं हैं? गौतम स्वामी 'उच्छूढ़ शरीर' थे, भोगी शरीर वाले नहीं थे। आपके गुरु शरीर को भी त्याग दें और आप पाप को बढ़ाने वाले और संसार को रुलाने वाले कपड़े भी नहीं त्याग सकते? अगर ऐसे कपड़े भी आपसे नहीं छूट सकते तो आप 'उच्छूढ़ शरीर' का पाठ कैसे पढ़ेंगे? जिस सेना का नायक वीर हो उसके सैनिक कायर क्यों हों?

गाढ़ा (खद्दर) पहनने से यदि आपको गर्मी होती है तो क्या संसार में आप से बढ़ कर अमीर नहीं हैं? अगर हैं और वे गाढ़ा पहन कर देश की सेवा करते हैं तो क्या आप ऐसा नहीं कर सकते? अगर आप धर्म को दिपाने वाली छोटी–छोटी बातों का भी पालन नहीं कर सकेंगे तो बड़ी बातों का पालन करके कैसे धर्म दिपावेंगे? मिल के कपड़े त्याज्य हैं, इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। अगर आप इन्हें भी नहीं छोड़ सकते तो धर्म के बड़े काम कैसे कर सकोगे?

मिल के वस्त्रों की ही भांति विदेशी वस्त्र और विदेशी औषधियां भी त्याज्य हैं। क्योंकि इनमें अक्सर मांस–मदिरा चर्बी आदि का मेल रहता है। अधिकांश ऐलोपैथिक दवाइयों में मांस के सत और ब्रांडी का मिश्रण रहता है।

मित्रों! आप अपना जीवन त्यागमय बनाओ, जिससे गौतम स्वामी का नाम लेने लायक बन सको। गौतम स्वामी का जीवन ऐसा त्यागमय और सरल था कि बेले–बेले पारणा करके भी स्वयं गोचरी लेने जाते और एक बालक जिधर ले जाता, उधर ही चले जाते थे। गांधीजी की सादगी का उदाहरण इसलिए दिया है कि गौतम स्वामी दूर हैं और गांधीजी समीप हैं। अन्यथा जैन साहित्य में ऐसे–ऐसे उदाहरण मौजूद हैं कि जिन की तपस्या के सामने गांधीजी का तप–त्याग न कुछ सिद्ध होगा। जैन चरितानुयोग के ज्योति स्तम्भ अपने आपमें निराले हैं।

मित्रों! मिल के वस्त्र दूषित हैं। शरीर पर रहने से खराबी पैदा करते हैं। इसलिए इन्हें त्यागो। अगर आप विलायती और मिल के वस्त्र नहीं त्याग सकते तो कम से कम हम साधुओं को तो नहीं ही देना। हम केवल यही चाहते हैं कि किसी भी श्रावक के शरीर पर मिल के वस्त्र न दिखें।

बिना त्याग के जीवन शुद्ध नहीं बनता। त्याग सीखो और खान पान एवं रहन–सहन से अपने जीवन को शुद्ध बनाओ। इसी में तुम्हारा और संसार का कल्याण है।

भगवान् महावीर समवरण में विराजमान हैं और गौतम स्वामी उनसे न ज्यादा दूर न ज्यादा पास बैठे हैं। गौतम स्वामी किस आसन से बैठे हैं, यह भी सुधर्मा स्वामी ने बतलाया है। गौतम स्वामी के घुटने ऊपर को उठे हैं और सिर नीचे की ओर किंचित झुका हुआ है। गो दुहने के समय जो आसन होता है उसी आसन में बैठे हुए गौतम स्वामी धन रूपी कोठे में प्रविष्ट हैं।

अनाज अगर सुरक्षित स्थान में नहीं रक्खा जाता तो वह इधर उधर बिखरा रहता है, जिससे खराब होता है और उसका असली गुण भी कम हो जाता है। अतएव रक्षा की दृष्टि से अनाज मिट्टी की कोठियों में भर दिया जाता है। इससे वह बिखरा हुआ नहीं रहता और उसमें जीव जन्तु भी नहीं पड़ने पाते। वह सुरक्षित रहता है, जिससे कुटुम्ब का जीवन सुख से बीतता है।

लोक व्यवहार के इस दृष्टान्त को ध्यान में रखकर ही गौतम स्वामी के संबंध में यह कहा गया है कि वे ध्यान रूपी कोठे में तल्लीन हुए बैठे हैं। जैसे कोठे में नहीं भरा हुआ अनाज इधर–उधर बिखरा रहता है उसी प्रकार बिना ध्यान के मन और इन्द्रियां इधर–उधर बिखरी रहती हैं, जिससे खराब होकर विपत्ति में पड़ जाती हैं। अतएव मन और इन्द्रियों को खींच कर ध्यान रूपी कोठों में बंद कर दिया जाता है। ऐसा करने से उनकी शक्ति सुरक्षित रहती है।

इन्द्रियों को और मन को एकाग्र करके उनका संगठन करना ध्यान कहलाता है। ध्यान की व्याख्या करते हुए दार्शनिकों ने और योगशास्त्र ने यही बतलाया है कि चित्तवृत्ति का निरोध करना ध्यान है। जैसे बिखरी हुई सूर्य की किरणों से अग्नि उत्पन्न नहीं होती, परन्तु कांच के बीच में रखने से किरणें एकत्र हो जाती हैं और उस कांच के नीचे रुई रखने से आग उत्पन्न हो जाती है। अगर बीच में कांच न हो तो किरणों से जो काम लेना चाहते हैं वह नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार मन और इन्द्रियों को एकत्र करने से आत्म–ज्योति प्रकट होती है। ध्यान रूपी कांच के द्वारा बिखरी हुई इन्द्रिय रूपी किरणें एकत्र हो जाती हैं और आत्म–ज्योति प्रकट होकर अपार और अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

मनुष्य जब सोता है तो इन्द्रियों से सोता है मगर मन में जागता रहता है। इन्द्रियां सोती रहती हैं अतः उनके द्वारा निकलने वाली मन की शक्ति रुक जाती है। इस शक्ति के रुकने से स्वप्न आता है और स्वप्न में ऐसी बातें देखी–सुनी जाती हैं, जो पहले देखी–सुनी नहीं हों, न जिनकी कल्पना ही की

है। कभी–कभी पूर्वभव की बातें भी स्वप्न में दिखने लगती हैं, और कभी आगे होने वाली घटनाएं दिखने लगती हैं।

शालिवाहन राजा के संबंध में एक कथा है। एक रात वह सो रहा था। उसने स्वप्न में देखा कि मैं कनकपुर पट्टन नामक नगर को गया हूं। वहां के राजा की पुत्री हंसावली पर मैं मुग्ध हो गया हूं और उसके साथ मेरा विवाह हो रहा है। विवाह होने के पश्चात् मैं उससे वार्त्तालाप करता हुआ विश्राम कर रहा हूं।

राजा स्वप्न में इस आनन्द में इतना विभोर हो गया कि सवेरा होने पर भी नहीं उठा। लोग आश्चर्य करने लगे। अन्त में प्रधान ने जाकर उसे जगाया। प्रधान के जगाने पर राजा जाग तो गया मगर उस पर बहुत रुष्ट हुआ। कहने लगा–'प्रधान! तुमने मेरा आनन्द भंग कर दिया है, इसलिए तू वध ा के योग्य हो।'

राजा तलवार लेकर मंत्री को मारने के लिए उद्यत हुआ। मन्त्री चतुर था। उसने राजा से कहा–'मैं आपके अधीन हूं। कहीं जाता नहीं हूं। आप जब चाहें तभी मुझे मार सकते हैं। लेकिन मेरी एक प्रार्थना है। पहले मेरी प्रार्थना सुन लीजिए, फिर चाहें तो प्राण ले लीजिए। मगर आप मेरी प्रार्थना सुनने से पहले ही मुझे मार डालेंगे तो आपको पश्चात्ताप होगा कि मन्त्री न जाने क्या कहना चाहता था!'

राजा ने मन्त्री की यह बात स्वीकार की। कहा–'बोलो, क्या कहना चाहते हो?'

मन्त्री ने कहा–'मैं अनुमान करता हूं कि आप इस समय कोई स्वप्न देख रहे थे और उसी के सुख में तल्लीन हो रहे थे। मैंने आकर आपको जगा दिया और आपका सुख–स्वप्न भंग हो गया। यही बात है न?'

राजा बोला–'हां, बात तो यही है।'

मन्त्री ने कहा–आप स्वप्न में जो सुख भोग रहे थे, वह सुख अगर आप मुझे सुना दें तो मैं जिम्मेवारी लेता हूं कि उसे प्रत्यक्ष कर दिखाऊंगा। स्वप्न का सुख तो क्षणिक था , थोड़ी देर बाद वह नष्ट हो ही जाता। मगर मैं स्वप्न का वही सुख वास्तविक कर दिखाऊंगा।

राजा ने अपना स्वप्न मंत्री को कह सुनाया। अन्त में कहा–'सुख–समय में जगाकर तुमने मेरा सुख भंग किया है। अब अपनी प्रतिज्ञा याद रखना।'

मंत्री ने कहा–'इस सुख को प्रत्यक्ष कर दिखाना कौन बड़ी बात है ? कनकपुर पट्टन भी और हंसावली नामक राजकुमारी भी वहां है। यह मुझे मालूम है। मैं हंसावली को आप से अवश्य मिला दूंगा।'

यह किस्सा है। इसमें प्रयोजन नहीं। इसका उल्लेख करने का आशय यह है कि स्वप्न में ऐसी बात देखी–सुनी जाती है, जो कभी देखी–सुनी नहीं है।

कई लोग कहते हैं–बैठे–बैठे स्वर्ग का हाल कैसे मालूम हो जाता है? लेकिन उनसे पूछो–सोने पर इस प्रकार की बातें कैसे मालूम हो जाती हैं ? जैसे स्वप्न में अनदेखी और अनसुनी बातें मालूम हो जाती हैं, उसी प्रकार स्वर्ग का हाल भी मालूम हो जाता है।

क्षाभिक गुण की तो बात ही क्या, क्षायोपशमिक गुण में भी इतनी शक्ति है कि जो बात कभी देखी नहीं वह भी देखने को मिल जाती है।

निद्रा में जो सहज रीति से और थकावट से उत्पन्न होती है, में इतनी शक्ति है तो पराक्रम और योग की शक्ति से इन्द्रिय–वृत्ति का निरोध कर ध्यान में एकाग्र होने से प्रकट होने वाले ज्ञान का कहना ही क्या है? इसीलिए गौतम स्वामी इन्द्रिय और मन को इधर–उधर न जाने देकर ध्यान रूपी कोठे में लीन रखते हैं।

गौतम स्वामी को उस ध्यान में क्या लहर पैदा हुई, यह बात सुधर्मा स्वामी आगे चलकर बताएंगे।

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को गौतम स्वामी के ध्यान, विनय आदि का वर्णन क्यों सुनाया? इसलिए कि जम्बू स्वामी को और आगे की परम्परा को शिक्षा देनी थी। जब सासू यह चाहती है कि मेरी बहू सुधर जाय और चिड़चिड़ न करना पड़े तो वह अपनी लड़की को ससुराल जाते समय शिक्षा देती है कि –बेटी, ऐसा काम करना कि सब तेरी और मेरी प्रशंसा करें। तू चाहे तो मुझे धन्यवाद दिला सकती है और तू चाहे तो धिक्कार भी दिला सकती है।

सासू कहती है बेटी से, मगर सुनती बहू भी है। सासू समझती है कि यदि बहू में थोड़ी भी बुद्धि होगी तो मैंने बेटी को लक्ष्य करके जो कहा है उसे बहू समझ जायगी। अगर बहू में इतनी भी बुद्धि न होगी तो किटकिट करने से क्या लाभ है? इससे तो क्लेश ही अधिक बढ़ेगा।

सासू अगर लड़की को ऐसी शिक्षा देगी तब तो बहू भी सुनकर, समझकर सुधरेगी। अगर उसने अपनी बेठी को उल्टा ही समझाया कि–देख बेटी, ससुराल में ज्यादा काम करके तन मत तोड़ना। सास की बात मत सहना। सास ज्यादा कुछ कहे तो डटकर सामने हो जाना। हम लोग हलके कुद के नहीं है, न किसी से रुपया ही गिनाया है। उल्टा हमने दिया ही है।

अगर न बने तो यहीं आ जाना। दामाद को यहीं बुलाकर दुकान करा दूंगी।' बेटी को ऐसी शिक्षा देने से क्या बहू न समझेगी? वह भी यही सोचेगी कि नंनद उस घर की बहू है तो मैं इस घर की बहू हूं। जो बात उसके लिए कही गई है वही मेरे लिए भी है।

इसी प्रकार सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी को गौतम स्वामी की बात सुना रहे हैं। सुधर्मा स्वामी को शिष्य–परम्परा सुधारनी है, इसी उद्देश्य से वह गौतम स्वामी की विनय आदि की बात सुना रहे हैं, जिससे जम्बू स्वामी समझ लें कि गौतम स्वामी के गुरु भगवान् महावीर हैं और वे भगवान् का इतना विनय करते हैं तो मुझे भी अपने गुरु का इतना ही विनय करना चाहिए। जब गौतम जैसे महान् पुरुष जो तपस्वी हैं, संघ के नायक हैं, अनेक ऋद्धियों के धारक हैं और देवता भी जिन्हें नमस्कार करते है, वे भी अपने गुरु का विनय करते हैं तो हम उनके सामने किस गणना में हैं?

सुधर्मा स्वामी के कथन से जम्बू स्वामी तो समझ ही चुके थे, फिर यह वर्णन शास्त्र में क्यों लिखा गया है? इसे लिपिबद्ध करने का उद्देश्य है–संघ के हित पर दृष्टि रखकर उसकी सुन्दर परम्परा को कायम रखना। यह वर्णन इसलिए किया गया है कि जिस तरह गौतम स्वामी ने भगवान् से और जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से विनय पूर्वक प्रश्न किये थे उसी प्रकार प्रश्न करना चाहिए।

श्रावक को अगर अपने गुरु के समक्ष प्रश्न करना हो तो किस प्रकार करना चाहिए? क्या श्रावक लट्ठ की तरह जाकर प्रश्न करे ! अनेक श्रावक वन्दना–नमस्कार किये बिना ही, विनय की परवाह किये बिना ही और उचित अवसर है या नहीं, यह देखे बिना ही प्रश्न करने लगते हैं। अन्य तीर्थी लोग जब तक शिष्यत्व स्वीकार न करें तब तक भले ही विनय न करें, मगर आप तो श्रावक हैं। आपको तो विनय और नम्रता के बिना प्रश्न करना ही न चाहिए। अगर आप विनय के बिना प्रश्न करेंगे और साधु उत्तर भी न देंगे, तो भी यह स्मरण रखना चाहिए कि विनय के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

प्रेम और भक्ति की विद्यमानता में ही उपदेश लाभप्रद हो सकता है। फोटाग्राफर वैसा ही फोटो उतारता है जैसे आप बैठे होते हैं। इसीलिए लोग अच्छे दिखने के उद्देश्य से मांगकर भी गहने–कपड़े पहन लेते हैं। सुना गया है कि कई फोटोग्राफर नकली कड़े–कंठे रख छोड़ते हैं। जब छोटे से काम में भी इतनी ठसक रखते हों तो जहां हृदय में शास्त्र का फोटो लेना है वहां लापरवाही करने से कैसे काम चलेगा? वैद्य से दवा लेनी है तो उसके नियमों

का पालन करना पड़ेगा। वैद्य की दवा कदाचित् इस शरीर के रोग को मिटावेगी, लेकिन शास्त्रश्रवण तो भव–परम्परा के रोग मिटाता है? फिर वैद्य से दवा लेने के समय विनीत आचरण करो और शास्त्रश्रवण के समय अविनय सेवन करो, तो क्या यह उचित कहलाएगा?

खयाल आता है मुझे दिलजान तेरी बातों का।
खबर तुझको है नहीं आगे अंधेरी रातों का ।।
जोबन तो कल ढ़ल जायगा दरियाव है बरसाई का।
बोर कोई न खायेगा उस रोज तेरे हाथों का।।

दिलजान का अर्थ है–दिल से बंधा हुआ। दिलजान कह देना और दिलजान का–सा बर्ताव करना और बात है। दुनिया में धनजान, मकानजान और रोटीजान भी हैं। जो धन दे वह धनजान, जो रोटी वह दे रोटीजान और जो मकान दे वह मकानजान। इस प्रकार कई तरह की मैत्री होती है लेकिन दिलजान का दोस्ताना निराला ही है।

दिल परमात्मा का घर है परमात्मा जब मिलेगा तब दिल में ही, अगर दिल में न मिला तो फिर कहीं नहीं मिलेगा। जो दिलजान बन जाता है उसे हर घड़ी खौफ रहता है कि कहीं मेरे दिलजान का दिल न दुःख जावे? लोग खुशामद के मारे, अच्छा खाने को मिलने से दिलजान कहते हैं, लेकिन ईश्वरीय विश्वास पर जो दिलजान बनता है वह इसलिए कि दिल परमात्मा का घर है। यह बात भली भांति समझ लेता है कि किसी का दिल दुःखाना ईश्वर को दुःखाना है। इसी का नाम दया या अहिंसा है। दूसरे के दिल को रंज पहुंचाना ईश्वर को रंज पहुंचाना है।

यह आदर्श है। कोई इस आदर्श पर चाहे पहुंच न सके मगर आदर्श यही रहेगा। आदर्श उच्च, महान् और परिपूर्ण होना चाहिए। अगर आदर्श गिरा हुआ होगा तो व्यवहार कैसे अच्छा होगा?

पूरे सन्त वही हैं जो किसी का दिल नहीं दुःखाते। किसी का दिल दुःख जाय तो वह अपने आपको ईश्वर के सामने अपराधी मानते हैं।

कहा जा सकता है संतों की बात जुदी है, मगर गृहस्थ के सिर पर सैंकड़ों उत्तरदायित्व हैं। उसे लेन–देन करना पड़ता है और दावा–झगड़ा भी करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में किसी का दिल दुःखाये बिना काम कैसे चल सकता है? इसका उत्तर यह है कि जब आपका दिल ही ऐसा बन जायेगा कि मुझसे किसी का दिल न दुखे, मुझे किसी का दिल नहीं दुःखाना है तो, आपके सामने रगड़े–झगड़े आवेंगे ही नहीं। सिंह और सर्प भी अहिंसावादी

का कुछ नहीं बिगाड़ सकते। कदाचित् तुम्हारे सामने ऐसा मौका आवे भी तो कम से कम इतना करो कि दूसरे का हक छीनने के लिए उसका दिल न दुःखाओ। अपने हक का लेने में दूसरे का दिल दुःखाना उतना पाप नहीं है, जितना पाप दूसरे का हक छीनने के लिए दिल दुःखाने में है। अधिकांश लोग एक दूसरे का हक छीनने के लिए उसका दिल दुःखाते हैं। दूसरे का हक हड़प जाना और दूसरे का हक देना नहीं, यह भावना संसार में फैल रही है, इसी कारण संसार अशान्ति का अड्डा बना हुआ है।

मित्रों! अपने जीवन को उन्नत बनाना हो तो गौतम स्वामी के गुणों का चिन्तन–मनन करके उन्हें अपने जीवन में अधिक से अधिक मात्रा में चरितार्थ करने की चेष्टा करो। इसी में आपका कल्याण है।

प्रश्नोत्थान।

मूल–तए णं से भगवं गीयमे जायसड्ढे जायसंसए, जायकोऊहल्ले, उप्पणसड्ढे, उप्पण्णसंसए, उप्पण्णकोऊहल्ले; संजासयड्ढे, संजायसंसए, संजायकोऊहल्ले; समुप्पण्णसड्ढे, समुप्पण्णसंसए, समुप्पण्णकोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठाए उट्ठित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, वंदइ, नमंसइ। नमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे, नमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिऊडे पज्जुवासमाणे एवं व्यासी।(3)

संस्कृत–छाया–तदा स भगवान् गौतमो जातश्रद्धः, जातसंशयः, जातकुतूहलः, उत्पन्नश्रद्धः, उत्पन्नसंशयः, उत्पन्नकुतूहलः, संजातश्रद्धः, संजातसंशयः, संजातकुतूहलः, समुत्पन्नश्रद्धः, समुत्पन्नसंशयः, समुत्पन्नकुतूहलः, उत्थया उत्तिष्ठति। उत्थया उत्थाय येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैव उपगच्छति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिकृत्वः, आदक्षिणप्रदक्षिणं करोति, कृत्वा वन्दते, नमस्यति, नमस्यित्वा नात्यासन्नः, नातिदूरः, शुश्रूषमाणः, नमस्यन् अभिमुखो विनयेन कृतप्राञ्जलीः पर्युपासीन एवमवादीत्। (3)

मूलार्थ–तत्पश्चात् जातश्रद्ध–प्रवृत्त हुई श्रद्धा वाले, जातसंशय, जातकुतूहल, संजातश्रद्ध, संजातसंशय, संजातकुतूहल, समुत्पन्न श्रद्धा वाले समुत्पन्न संशय वाले, समुत्पन्न कुतूहल वाले भगवान् गौतम उत्थान से उठते हैं। उत्थान से उठकर जिस ओर श्रमण भगवान महावीर हैं उस ओर आते हैं। आ करके श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके प्रदक्षिणा करते है, प्रदक्षिणा करके वंदन करते हैं, नमस्कार करते हैं। नमस्कार

करके न बहुत पास, न बहुत दूर भगवान् के सामने विनय से ललाट पर हाथ जोड़ कर भगवान् के वचन सुनने की इच्छा करते हुए भगवान् को नमस्कार करते और उनकी पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले (3)

व्याख्या—श्री सुधर्मा स्वामी ने गौतम स्वामी के गुणों का वर्णन किया। अब भगवती सूत्र में वर्णित प्रश्नोत्तर किस जिज्ञासा से हुए हैं, यह वर्णन प्रारंभ से ही सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी को सुनाने लगे। उन्होंने कहा —हे जम्बू ! जब गौतम स्वामी ध्यान रूपी कोठे में विचरते थे उस समय उनके मन में एक श्रद्धा उत्पन्न हुई।

'जायसड्ढे' अर्थात् जातश्रद्धः। 'जात' का अर्थ प्रवृत्त और उत्पन्न दोनों हो सकते हैं। यहां 'जात' का अर्थ प्रवृत्त है। अर्थात् श्रद्धा में प्रवृत्ति हुई।

जात का अर्थ प्रवृत्त हुआ। रहा श्रद्धा का अर्थ। विश्वास करना श्रद्धा कहलाता है लेकिन यहां श्रद्धा का अर्थ इच्छा है। तात्पर्य यह हुआ कि गौतम स्वामी की प्रवृत्ति इच्छा हुई। किस प्रकार की इच्छा में प्रवृत्ति? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए कहा गया है कि जिन तत्वों का वर्णन किया जायेगा, उन्हें जानने की इच्छा में गौतम स्वामी की प्रवृत्ति हुई। इस प्रकार तत्व जानने की इच्छा में जिसकी प्रवृत्ति हो उसे 'जातश्रद्ध' कहते हैं।

जातसंशय अर्थात् संशय में प्रवृत्ति हुई। यहां इच्छा की प्रवृत्ति का कारण बतलाया गया है। गौतम स्वामी की इच्छा में प्रवृत्ति होने का कारण यह था कि उनकी संशय में प्रवृत्ति हुई, क्योंकि संशय होने से जानने की इच्छा होती है। जो ज्ञान निश्चयात्मक न हो, जिसमें परस्पर विरोधी अनेक बाजू मालूम पड़ते हों वह संशय कहलाता है। यथा—'यह रस्सी है या सर्प है?' इस प्रकार का संशय होने पर उसे निवारण करने के लिए यथार्थता जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। गौतम स्वामी को तत्व—विषयक—इच्छा हुई क्योंकि उन्हें संशय हुआ था।

संशयात्मा विनश्यति।

अर्थात्—शंकाशील पुरुष नाश को प्राप्त होता है।

दूसरी जगह कहा है—

न संशयमनारूह्य नरो भद्राणि पश्यति।

अर्थात्—संशय उत्पन्न हुए बिना—संशय किये बिना मनुष्य को कल्याण मार्ग दिखलाई नहीं पड़ता।

तात्पर्य यह है कि एक संशय आत्मा का घातक होता है और दूसरा संशय आत्मा का रक्षक होता है। गौतम स्वामी को कौनसा संशय उत्पन्न हुआ?

इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं कि जो वस्तु तत्व पहले निश्चित नहीं था उसके संबंध में गौतम स्वामी को संशय उत्पन्न हुआ। गौतम स्वामी का यह संशय अपूर्व ज्ञान–ग्रहण होने से आत्मा का घातक नहीं है।

भगवान् गौतम स्वामी को किस वस्तु तत्व के जानने के संबंध में संशय हुआ? इसके लिए टीकाकार स्पष्ट करते हैं कि–भगवान् महावीर का सिद्धान्त यह है कि–

चलमाणे चलिए।

अर्थात्–जो चल रहा है वह चला।

सूत्रार्थ में चलने वाले को चला कहा, इससे यह अर्थ निकलता है कि जो चलता है वही चला। जैसे एक आदमी कलकत्ता के लिए चला। इस चलते हुए 'गया' कहना यह एक अर्थ का बोधक है।

'चलता है' यह कथन वर्तमान का बोधक है और 'चला' यह भूतकाल या अतीतकाल का बोधक है। 'चलता है' यह वर्तमान की बात है और 'चला' यह भूतकाल की बात है। अतएव संशय पैदा होता है कि जो बात वर्तमान की है, वह भूतकाल की कैसे कह दी गई? शास्त्रीय दृष्टि से इस विरोधी काल के कथन को एक ही काल में बतलाने से दोष आता है। ऐसी दशा में यह कथन निर्दोष किस प्रकार कहा जा सकता है?

जमाली संशय से ही भ्रष्ट हुआ था और गौतम स्वामी संशय से ही ज्ञानी हुए थे। जमाली के संबंध में 'संशयात्मा विनश्यति' यह कथन चरितार्थ हुआ और गौतम स्वामी के विषय में 'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति' यह कथन चरितार्थ हुआ।

जो संशय निर्णयात्मक होता है अर्थात् जिससे गर्भ में निर्णय का प्रयोजन होता है वह लाभदाता है; और जो संशय निर्णय के लिए नहीं, अपितु हठ के लिए होता है वह नाश करने वाला होता है। जमाली का संशय हठ के लिए था निर्णय के लिए नहीं, इस कारण वह पतित हो गया। इससे विरुद्ध गौतम स्वामी का संशय निर्णय करने की बुद्धि से, वस्तु तत्व को बारीकी से समझने के प्रयोजन से था, उसमें हठ के लिए गुंजाइश नहीं थी, इसलिए गौतम स्वामी की आत्मा शुद्ध और ज्ञानयुक्त हो गई।

'जायकोउहले' अर्थात् जातकुतूहलः। गौतम स्वामी को कौतूहल उत्पन्न हुआ अर्थात् उनके हृदय में उत्सुकता उत्पन्न हुई। उत्सुकता यह कि मैं भगवान् से प्रश्न करूंगा, तब भगवान् मुझे अपूर्व वस्तु तत्व समझावेंगे, उस

समय भगवान् के मुखारविन्द से निकले हुए अमृतमय वचन श्रवण करने में कितना आनन्द होगा? ऐसा विचार करके गौतम स्वामी को कौतूहल हुआ।

गौतम स्वामी का संशय दोषमय नहीं है, क्योंकि उन्हें अकेला संशय नहीं हुआ, वरन्! पहले श्रद्धा हुई, फिर संशय हुआ, फिर कौतूहल भी हुआ। अतः उनका संशय आनन्द का विषय है। श्रद्धा पूर्वक की हुई शंका दोषास्पद नही है, वरन् अश्रद्धा के साथ की जाने वाली शंका दोष का कारण होती है। यहां तक जायसड्ढे, जायसंसए और जायकोउहले, इन तीनों पदों की व्याख्या की गई। इससे आगे कहा गया है–'उप्पन्नसड्ढे, उप्पन्नसंसए और उप्पण्णकोउहले।' अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न हुई, संशय उत्पन्न हुआ और कौतूहल हुआ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि 'जायसड्ढे' और 'उप्पण्णसड्ढे' में क्या अन्तर है? वह दो विशेषण अलग–अलग क्यों कहे गये हैं? इसका उत्तर यह है कि श्रद्धा जब उत्पन्न हुई तब वह प्रवत्त भी हुई। जो श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई उसकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती।

इस कथन में यह तर्क किया जा सकता है कि श्रद्धा में जब प्रवृत्ति होती है तब यह बात स्वयं प्रतीत हो जाती है कि श्रद्धा उत्पन्न हो ही गई है। फिर प्रवृत्ति और उत्पत्ति को अलग–अलग कहने की क्या आवश्यकता थी? उदाहरण के लिए–एक बालक चल रहा है। चलते हुए उस बालक को देखकर यह तो आप ही समझ में आ जाता है कि बालक उत्पन्न हो चुका है। उत्पन्न न हुआ होता तो चलता ही कैसे? इसी प्रकार गौतम स्वामी की प्रवृत्ति श्रद्धा में हुई, इसी से यह बात समझ में आ जाती है कि उनमें श्रद्धा उत्पन्न हुई थी। फिर श्रद्धा की प्रवृत्ति बतलाने के पश्चात् उसकी उत्पत्ति बतलाने की क्या आवश्यकता है?

इस तर्क का उत्तर यह है कि प्रवृत्ति और उत्पत्ति में कार्यकारणभाव प्रदर्शित करने के लिए दोनों पद पृथक्–पृथक् कहे गये हैं। कोई प्रश्न करे कि श्रद्धा में प्रवृत्ति क्यों हुई? तो इसका यह उत्तर होगा कि श्रद्धा उत्पन्न हुई थी?

कार्य–कारण–भाव बतलाने से कथन में संगतता आती है, सुन्दरता आती है और शिष्य की बुद्धि में विशदता आती है। कार्य–कारण–भाव प्रदर्शित करने से वाक्य आलंकारिक भी बन जाता है।

सादी और अलंकारयुक्त भाषा में अन्तर है। अलंकारमय भाषा उत्तम मानी जाती है, अतएव कार्यकारण भाव दिखलाना भाषा का दूषण नहीं है,

भूषण है। इस समाधान को साक्षी पूर्वक स्पष्ट करने के लिए आचार्य साहित्य शास्त्र का प्रमाण देते है। कि–

प्रवृत्तदीपामप्रवृत्तभास्करां प्रकाशचन्द्रां बुबुधे विभावरीम्।

अर्थात्–जिस दीपकों की प्रवृत्ति हुई है, सूर्य की प्रवृत्ति नहीं है, ऐसी चन्द्रमा के प्रकाश वाली रात्रि समझी।

इस कथन में भी कार्यकारणभाव की घटना हुई है। 'प्रवृत्तदीपाम्' कहने से 'अप्रवृत्तभास्करां' का बोध हो ही जाता है, क्योंकि सूर्य की प्रवृत्ति होने पर दीपक नहीं जलाये जाते। अतः जब दीपक जलाये गये हैं। तो सूर्य प्रवृत्त नहीं है, यह जानना स्वाभाविक है, फिर भी यहां सूर्य की प्रवृत्ति का अभाव अलग कहा गया है। यह कार्यकारणभाव बतलाने के लिए ही है। कार्य–कारणभाव यह कि सूर्य नहीं है अतः दीपक जलाये गये हैं।

आचार्य कहते है कि जैसे यहां कार्य–कारणभाव प्रदर्शित करने के लिए अलग दो पदों का ग्रहण किया गया है, उसी प्रकार शास्त्र में भी सकार्य–कारणभाव दिखाने के लिए ही 'जायसड्ढे' और 'उप्पणसड्ढे' इन दो पदों का अलग प्रयोग किया है। श्रद्धा में प्रवृत्ति होने से यह अवश्य जान गये कि श्रद्धा उत्पन्न हुई लेकिन वाक्यालंकार के लिए जैसे उक्त वाक्य में 'सूर्य नहीं है' यह दुबारा कहा गया है उसी प्रकार यहां 'श्रद्धा उत्पन्न हुई' यह कथन किया गया है।

'जायसड्ढे' और उप्पण्णसड्ढे ' की ही तरह 'जायसंसए' और उप्पण्णसंसए' तथा 'जायकुऊहले' और उप्पण्णकुऊहले' पदों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

इन छह पदों के पश्चात् कहा है–संजायसड्ढे, संजायसंसए, संजायकोऊहले और समुप्पण्णसड्ढे, समुप्पण्णसंसए और समुप्पण्णकुऊहले। इस प्रकार छह पद और कहे गये हैं।

अर्वाचीन ग्रन्थों में और प्राचीन शास्त्रों में शैली सम्बन्धी बहुत अन्तर है। प्राचीन ऋषि पुनरुक्ति का इतना खयाल नहीं रखते थे जितना संसार के कल्याण का ख्याल करते थे। उन्होंने जिस रीति से संसार की भलाई अधिक देखी उसी रीति को अपनाया और उसी के अनुसार कथन किया। यह बात जैन शास्त्रों के लिए ही लागू नहीं होती, वरन् सभी प्राचीन शास्त्रियों के लिए लागू है। गीता में अर्जुन को बोध देने के लिए एक ही बात विभिन्न शब्दों द्वारा दोहराई गई है। एक–सीधे सादे उदाहरण पर विचार करने से यह बात समझ में आ जायेगी। किसी का लड़का जोखिम लेकर, परदेश जाता हो तो उसे

घर में भी सावधान रहने के लिए चेतावनी दी जाती है, घर से बाहर भी चेताया जाता है, कि सावधान रहना और अन्तिम बार विदा देते समय भी चेतावनी दी जाती है। एक ही बात बार–बार कहना पुनरुक्ति ही है, लेकिन पिता होने के नाते मनुष्य अपने पुत्र को बार–बार समझाता है। यही पिता–पुत्र का सम्बन्ध सामने रखकर महापुरुषों ने शिक्षा की लाभप्रद बातों को बार–बार दोहराया है। ऐसा करने में कोई हानि नहीं है, वरन् लाभ ही होता है।

गौतम स्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वो के धनी थे। फिर भी उन्हें 'चलमाणे चलिए' के साधारण सिद्धान्त पर संशय और कुतूहल हुआ ! यह एक तर्क है। इस तर्क का समाधान स्वयं टीकाकार ने आगे किया है, किन्तु थोड़े से शब्दों में यहां भी स्पष्टीकरण किया जाता है।

गुरु और शिष्य के संबंध से सूत्र की निष्पत्ति होती है। श्रोता और वक्ता दोनों ही योग्य हों तभी बात ठीक बैठती है। भगवान् महावीर सरीखे वक्ता और गौतम स्वामी जैसे श्रोता खोजने पर भी अन्यत्र नहीं मिलेंगे। ऐसा होने पर भी गौतम स्वामी ने वही बात पूछी, जो सब की समझ में आ जाय। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तरों में यही विशेषता है। साधारण से साधारण जिज्ञासु भी इन बातों को समझ जाय, वह उलझन में न पड़े, इसी उद्देश्य से गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किये और भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त बना दिया।

भगवान् महावीर और गौतम स्वामी दोनों ही इतनी उच्च श्रेणी के ज्ञानी थे कि उन्हें अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने की आवश्यकता नहीं थी। उनका एक मात्र ध्येय संसार का कल्याण था। इसी ध्येय की समझ रखकर गौतम स्वामी ने प्रश्न किये और जैसे प्रश्न किये गये, वैसे ही उत्तर भी दिये गये।

कल्पना कीजिए, एक प्रधान न्यायधीश है। उसके सामने बहस करने वाला एक बॉरिस्टर है। एक साधारण व्यक्ति का साधारण–सा मामला है। यद्यपि मामला छोटा और साधारण व्यक्ति का है और निर्णय न्यायाधीश करेगा, परन्तु बॉरिस्टर इसलिए खडा किया गया है कि उसकी सहायता के बिना साधारण व्यक्ति अपने भाव न्यायाधीश को नहीं समझा सकता इसी कारण बॉरिस्टर उसकी ओर से बहस करता है। लेकिन बॉरिस्टर की बहस और न्यायाधीश का निर्णय है किसके लिए? उस साधारण व्यक्ति के लिए।

बहस करने वाला बॉरिस्टर केवल तत्व की ही बात नहीं करेगा, किन्तु मुकदमे से सम्बन्ध रखने वाली छोटी–छोटी बातें भी न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित करेगा, जिससे ठीक–ठीक न्याय प्राप्त किया जा सके।

भगवान् का मोक्ष जाना निश्चित है। अगर वे भाषण न करें तो भी उनका मोक्ष रुक नहीं सकता। लेकिन जिज्ञासु भव्य जीवों के हित के लिए उन्होंने छोटी–छोटी बातों का भी निर्णय दिया है। यद्यपि भगवान् निर्णय दे रहे है। मगर उनका निर्णय समझने वाला कोई ज्ञानी होना चाहिए, सो वह गौतम स्वामी है। जैसे बॉरिस्टर बॉरिस्टरी पास करता है, उसी प्रकार गौतम स्वामी ने चार ज्ञान और चौदह पूर्व या सर्वाक्षर सन्निपात में पूर्ण योग्यता प्राप्त की है।

इस प्रकार भगवान् प्रधान न्यायाधीश और गौतम स्वामी बॉरिस्टर के स्थान पर हैं। फिर भी प्रश्न कितना सादा है! यह प्रश्न हमारे लिए है, क्योंकि हम छद्मस्थ उलझन में पड़ जाते हैं और मतवाद के वादविवाद में गिर जाते हैं। अतएव गौतम स्वामी ने बॉरिस्टर बनकर भगवान् महावीर से उन प्रश्नों का निर्णय कराया है। इस निर्णय (फैसले) की नकल सुधर्मा स्वामी ने ली है। सुधर्मा स्वामी ने भगवान् के निर्णय की जो नकल प्राप्त की थी, वही जम्बू स्वामी प्रभृति उपकारी महापुरुष सुनाते आये हैं। इसी से हमें उसका किंचित् ज्ञान हुआ है। इन सब महर्षियों का हमारे ऊपर असीम उपकार है।

अन्तिम छह पदों में से पहले के तीन पद इस प्रकार हैं –संजायसड्ढे, संजायसंसए और संजायकोउहले। इन तीनों पदों का अर्थ वैसा ही है जैसा कि जायसड्ढे, जायसंसए और जायकोऊहले पदों का बतलाया जा चुका है। अन्तर केवल यही है कि इन पदों में 'जाय' के साथ 'सम्' उपसर्ग लगा हुआ है। 'जाय' का अर्थ है–प्रवृत्त, और 'सम्' उपसर्ग अत्यन्तता का बोधक है। जैसे 'मैंने कहा' इसके स्थान पर व्यवहार में कहते हैं–मैंने बहुत कहा–खूब कहा' 'मैं बहुत चला, मैंने खूब खाया' आदि। इस प्रकार जैसे अत्यन्तता का भाव प्रकट करने के लिए बहुत या खूब शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार शास्त्रीय भाषा में अत्यन्तता बतलाने के लिए 'सम्' शब्द लगाया जाता है। अतएव इन तीनों पदों का यह अर्थ हुआ कि बहुत श्रद्धा हुई, बहुत संशय हुआ और बहुत कौतूहल हुआ।

'सम्' उपसर्ग बहुतता का वाचक है, इसके लिए साहित्य का प्रमाण उद्घृत किया गया है–

'संजातकामो बलभिद्विभूत्यां,
मानात् प्रजाभिः प्रतिमाननाच्च ।।'
'ऐन्द्रैश्वर्य प्रकर्षेण जातेच्छः कार्तवीर्यः'

यहां 'संजातकामः' पद में 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। यहां 'संजातकामः' का अर्थ है अत्यन्त इच्छा वाला—प्रबल कामना वाला। जैसे इस जगह 'सम्' पद अत्यन्तता का बोधक है उसी प्रकार उक्त पदों में भी 'सम्' पद अत्यन्तता का बोधक है।

'संजायसड्ढे' की ही तरह 'संजायसंसए' और 'संजायकोउहले' पदों का अर्थ समझना चाहिए। और इसी प्रकार 'समुप्पणसड्ढे' 'समुप्पपण्णसंसंए' तथा समुप्पण्णकोउहले,' पदों का भाव भी समझ लेना चाहिए।

यह बारह पदों का अर्थ हुआ। इस अर्थ में आचार्यों का किंचित् मतभेद है। कोई आचार्य इन बारह पदों का अर्थ अन्य प्रकार से भी कहते हैं। वे 'श्रद्धा' पद का अर्थ 'पूछने की इच्छा, संशय से उत्पन्न होती है और संशय कौतूहल से उत्पन्न हुआ।' यह सामने ऊंची सी दिखाई देने वाली वस्तु मनुष्य है या ठूंठ है? इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय कहलाता है। इस प्रकार व्याख्या करके आचार्य एक का दूसरे पद के साथ संबंध जोड़ते हैं। अर्थात् श्रद्धा के साथ संशय का सम्बन्ध जोड़ते हैं और संशय से कौतूहल का सम्बन्ध जोड़ते हैं। 'कौतूहल' का अर्थ उन्होंने यह किया है—'हम यह बात कैसे जानेंगे— इस प्रकार की उत्सुकता को कौतूहल कहते हैं।

इस प्रकार व्याख्या करके वह आचार्य कहते हैं कि इन बारह पदों के चार—चार हिस्से करने चाहिए। इन चार हिस्सों में एक हिस्सा अवग्रह का है, एक ईहा का है, एक अवाय का है और एक धारणा का है। इस प्रकार इन चार विभागों में बारह पदों का समावेश हो जाता है।

दूसरे आचार्य का कथन है कि इन बारह पदों का समन्वय दूसरी ही तरह से करना चाहिए। इसके मन्तव्य के अनुसार बारह पदों के भेद करके उन्हें अलग—अलग करने की आवश्यकता नहीं है। जात, संजात, उत्पन्न, समुत्पन्न इन सब पदों का एक ही अर्थ है। प्रश्न होता है कि एक ही अर्थ वाले इतने पदों का प्रयोग क्यों किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर वह आचार्य देते है कि भाव को बहुत स्पष्ट करने के लिए इन पदों का प्रयोग किया गया है।

एक ही बात को बार—बार कहने से पुनरुक्ति दोष आता है। अगर एक ही भाव के लिए अनेक पदों का प्रयोग किया गया है तो यहां भी यह दोष क्यों न होगा? इस प्रश्न का उत्तर उन आचार्य ने यह दिया है कि स्तुति करने में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। शास्त्रकार ने विभिन्न पदों द्वारा एक ही बात

कहकर श्री गौतम स्वामी की प्रशंसा की है। अतएव बार-बार के इस कथन को पुनरुक्ति दोष नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमाण यह है।

'वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनाः स्तुवंस्तथा निन्दन्, यत् पदमसकृद् ब्रूते तत्पुनरुक्त न दोषाय'

अर्थात्-हर्ष या भय आदि किसी प्रबल भाव से विक्षिप्त मन वाला वक्ता, किसी की प्रशंसा या निन्दा करता हुआ अगर एक ही पद को बार-बार बोलता है तो उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता।

इस कथन के अनुसार शास्त्रकार ने गौतम स्वामी की स्तुति के लिए एक ही अर्थ वाले अनेक पद कहे हैं, फिर भी इस कथन में पुनरुक्ति दोष नहीं है।

जिन आचार्य के मन्तव्य के अनुसार इन बारह पदों को अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा में विभक्त किया गया है, उसके कथन के आधार पर यह प्रश्न हो सकता है कि अवग्रह आदि का क्या अर्थ है? उस प्रश्न का उत्तर यह है।

इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले मति ज्ञान के यह चार भेद हैं। अर्थात् हम जब किसी वस्तु को किसी इन्द्रिय द्वारा या मन द्वारा जानते हैं, तो वह ज्ञान किस क्रम से उत्पन्न होता है, यही क्रम बतलाने के लिए शास्त्रों में चार भेद कहे गये हैं। साधारणतया प्रत्येक मनुष्य समझता है कि मन और इन्द्रियों से एकदम जल्दी ही ज्ञान हो जाता है। वह समझता है मैंने आंख खोली और पहाड़ देख लिया। अर्थात् उसकी समझ के अनुसार इन्द्रिय या मन की क्रिया होते ही ज्ञान हो जाता है, ज्ञान होने में तनिक भी देर नहीं लगती। मगर जिन्होंने आध्यात्मिक विज्ञान का अध्ययन किया है, उन्हें मालूम है कि ऐसा नहीं होता। छोटी से छाटी वस्तु देखने में भी बहुत समय लग जाता है। मगर वह समय अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण हमारी स्थूल कल्पना शक्ति में नहीं आता।

एक बलवान् युवक सर्वथा जीर्ण वस्त्र को लेता है और दोनों ओर खींचकर चीर डालता है। वह समझता है कि इसके चीरने में मुझे तनिक भी देर नहीं लगी। मगर ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि इस बलवान् युवक को कपड़ा फाड़ने में बहुत काल लगा है। कपड़ा सूत के पतले-पतले तारों का बना होता है, जब तक ऊपर का तार न टूटे तब तक नीचे का तार नहीं टूटता। इस प्रकार पहले ऊपर का तार टूटा, फिर नीचे का तार। दोनों तार क्रम से टूटते हैं, इसलिए पहला तार टूटने का काल अलग है और दूसरा तार टूटने का काल

अलग है। इसी क्रम से और भी तार टूटते हैं। अब समस्त तारों के टूटने के काल का विचार करना चाहिए। घड़ी में सैकैंड तक के हिस्से किये जा सके हैं। अगर सारा कपड़ा फाड़ने में एक सैकैंड लगा है तो कपड़े में जितने तार हैं, उतने ही हिस्से सैकैण्ड के हो गये।

तात्पर्य यह कि स्थूल दृष्टि से लोग समझते हैं कि इन्द्रिय या मन से ज्ञान होने में देर नहीं लगती, परन्तु वास्तव में बहुत काल लग जाता है। इन्द्रिय या मन से ज्ञान होने में कितना काल लगता है, यह बात नीचे बताई जाती है।

जब हम किसी वस्तु को देखना चाहते हैं तब सर्व प्रथम दर्शनोपयोग होता है। निराकार ज्ञान को, जिसमें वस्तु का अस्तित्व मात्र प्रतीत होता है, जैन दर्शन में दर्शनोपयोग कहते हैं। दर्शन हो जाने के अनन्तर अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह दो प्रकार का है (1) व्यंजनावग्रह और (2) अर्थावग्रह। मान लीजिए, कोई वस्तु पड़ी है, परन्तु उसे दीपक के बिना नहीं देख सकते। जब दीपक का प्रकाश उस पर पड़ता है तब वह वस्तु को प्रकाशित कर देता है। इसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान में, जिस वस्तु का जिस इन्द्रिय से ज्ञान होता है, उस वस्तु के परिमाणु इन्द्रिय से लगते हैं। उस वस्तु का और इन्द्रिय का सम्बन्ध व्यंजन कहलाता है। व्यंजन का वह अवग्रह व्यंजनावग्रह कहलाता है। यह व्यंजनावग्रह आंख और मन से नहीं होता, क्योंकि आंख और मन का वस्तु के परमाणुओं के साथ संबंध नहीं होता। यह दोनों इन्द्रियां पदार्थ का स्पर्श किये बिना ही पदार्थ को जान लेती हैं। अर्थात् अप्राप्यकारी हैं। शेष चार इन्द्रियों से ही व्यंजनावग्रह होता है। आंख और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से पहले व्यंजनावग्रह ही होता हैं।

व्यंजनावग्रह के पश्चात् अर्थावग्रह होता है। व्यंजनावग्रह से, सामान्य रूप से जानी हुई वस्तु में, 'यह क्या है?' ऐसी जानने की इच्छा होना अर्थावग्रह है। अर्थावग्रह में भी वस्तु का सामान्य ज्ञान ही होता है।

अवग्रह के इन दो भेदों में से अर्थावग्रह तो पांचों इन्द्रियों से और मन से भी होता है। अतएव उसके छह भेद हैं। व्यंजनावग्रह आंख को छोड़कर चार इन्द्रियों से ही होता है वह मन एवं आंख से नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों और मन से ज्ञान होने में पहले अवग्रह होता है। अवग्रह एक प्रकार का अव्यक्त ज्ञान है। जिसे यह ज्ञान होता है उसे स्वयं ही मालूम होता कि मुझे ज्ञान हुआ है। लेकिन विशिष्ट ज्ञानियों ने इसे भी देखा है। जिस प्रकार कपड़ा फाड़ते समय एक–एक तार का टूटना मालूम नहीं

होता, लेकिन तार टूटते अवश्य हैं। तार न टूटें तो कपड़ा फट नहीं सकता। इसी प्रकार अवग्रह ज्ञान स्वयं मालूम नहीं पड़ता मगर वह होता अवश्य है। अवग्रह न होता तो आगे के ईहा, अवाय, धारणा आदि ज्ञानों का होना संभव नहीं था। क्योंकि बिना अवग्रह के ईहा, बिना ईहा के अवाय और बिना अवाय के धारणा नहीं होती। ज्ञानों का यह क्रम निश्चित है।

अवग्रह के बाद ईहा होती है। 'यह क्या है' इस प्रकार का अर्थावग्रह ज्ञान जिस वस्तु के विषय में हुआ था, उसी वस्तु के संबंध में भेद के विचार को ईहा कहते हैं। 'यह वस्तु अमुक गुण की है' इसलिए अमुक होनी चाहिए' इस प्रकार का कुछ–कुछ कच्चा–पक्का ज्ञान ईहा कहलाता है।

ईहा के पश्चात् अवाय ज्ञान होता है। जिस वस्तु के संबंध में ईहा ज्ञान हुआ, उसके संबंध में किसी निर्णय–निश्चय पर पहुंच जाना अवाय है। 'यह अमुक वस्तु ही है' इस ज्ञान को अवाय कहते हैं। उदाहरणार्थ–'यह खड़ा हुआ पदार्थ ठूंठ होना चाहिए' इस प्रकार का ज्ञान ईहा कहलाता है और 'यह पदार्थ अगर मनुष्य होता तो बिना हिले–डुले एक ही स्थान पर खड़ा न रहता, इस पर पक्षी निर्भय होकर न बैठते, इसलिए यह मनुष्य नहीं है, ठूंठ ही है।' इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान अवाय कहलाता है। अर्थात् जो है उसे स्थिर करने वाला और जो नहीं है, उसे उठाने वाला निर्णय रूप ज्ञान अवाय है।

चौथा ज्ञान धारणा है। जिस पदार्थ के विषय में अवाय हुआ है, उसी के संबंध में धारणा होती है। धारणा, स्मृति और संस्कार, यह एक ही ज्ञान की शाखाएं हैं। जिस वस्तु में अवाय हुआ है उसे कालान्तर में स्मरण करने के योग्य सुदृढ़ बना लेना धारणा ज्ञान है। कालान्तर में उस पदार्थ को याद करना स्मरण है और स्मरण का कारण संस्कार कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा का ज्ञानगुण मूलतः एक ही है। वह जब किसी वस्तु का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता है तो पहले–पहले अत्यन्त सामान्य रूप में होता है। फिर धीरे–धीरे विकसित एवं पुष्ट होता हुआ निर्णय रूप बन जाता है। उत्पत्ति से लेकर निश्चयात्मक रूप धारण करने में ज्ञान को बहुत काल लग जाता है। मगर वह काल इतना सूक्ष्म है कि हमारी स्थूल कल्पना में आना कठिन होता है। निश्चयात्मक रूप धारण करने में ज्ञान को अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। यह अवस्थाएं इतनी अधिक होती हैं कि हम उनकी ठीक–ठीक कल्पना भी नहीं कर सकते। तथापि सहज रीति से सब समझ में आ जाए, इस प्रयोजन से शास्त्रकारों ने उन सभी अवस्थाओं का मुख्य चार विभागों में वर्गीकरण कर दिया है। ज्ञान की इन मुख्य चार

अवस्थाओं को ही अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा कहते हैं। मगर यह नहीं समझना चाहिए कि हमारा ज्ञान सीधा अवग्रह से आरंभ होता है। अवग्रह से भी पहले दर्शन होता है। दर्शन में महासामान्य अर्थात् सत्ता का प्रतिभास होता है। सत्ता का प्रतिभास हो चुकने पर अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह में भी पहले व्यंजनावग्रह फिर अर्थावग्रह होता है। अवग्रह के पश्चात् संशय का उदय होता है। तब संशय को हटाता हुआ, ईहा,ईहा के अनन्तर अवाय और अवाय के पश्चात् धारणा ज्ञान होता है। इस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा क्रमपूर्वक ही होते हैं। पहला ज्ञान हुए बिना दूसरा आगे वाला ज्ञान नहीं हो सकता।

पहले आचार्य का कथन है कि गौतम स्वामी को प्रथम श्रद्धा, संशय और कौतूहल में प्रवृत्ति हुई। यह तीनों अवग्रह ज्ञान रूप हैं। प्रश्न होता है कि यह कैसे मालूम हुआ कि गौतम स्वामी को पहलेपहल अवग्रह हुआ? इसका उत्तर यह है कि—पृथ्वी में दाना बोया जाता है। दाना, पानी का संयोग पाकर पृथ्वी में गीला होता है—फलता है और तब उसमें से अंकुर निकलता है। अंकुर जब तक पृथ्वी से बाहर नहीं निकलता, तब तक दीख नहीं पड़ता। मगर जब अंकुर पृथ्वी के बाहर निकलता है तब उसे देखकर हम यह जान लेते हैं कि यह अंकुर पहले छोटा था, जो दीख नहीं पड़ता था, मगर था वह अवश्य। अगर वह छोटे रूप में न होता तो अब बड़ा होकर कैसे दीख पड़ता? इस प्रकार बड़े को देखकर छोटे का अनुमान करना ही चाहिए। कार्य को देखकर कारण को मानना ही न्यायसंगत है। बिना कारण के कार्य का होना असंभव है। अगर बिना कारण के कार्य का होना मान लिया जाय तो संसार का नियम ही बिगड़ जायेगा।

एक और उदाहरण लीजिए। मुर्गी के अंडे में पानी ही पानी होता है, शरीर नहीं होता। अगर उस अंडे के पानी में मुर्गी का शरीर न माना जाये तो क्या बिना उस पानी के मुर्गी का शरीर बन सकता है? नहीं। यद्यपि उस पानी में आज मुर्गी नहीं दीख पड़ती है, लेकिन जिस दिन मुर्गी दिखेगी उस दिन उसकी पानी रूप पर्याय का अनुमान अवश्य किया जायेगा, क्योंकि उस पर्याय के बिना मुर्गी का शरीर बन ही नहीं सकता।

इसी प्रकार कार्य—कारण के संबंध से यह भी जाना जा सकता है कि जो ज्ञान ईहा के रूप में आया है वह अवग्रह के रूप में अवश्य था, क्योंकि बिना अवग्रह के ईहा का होना संभव नहीं है। गौतम स्वामी छद्मस्थ थे। उन्हें

जो मति ज्ञान होता है वह इन्द्रिय और मन से होता है। और इन्द्रिय तथा मन से होने वाले ज्ञान में बिना अवग्रह के ईहा नहीं होती।

सारांश यह है कि पहले **'जायसड्ढे, जायसंसए और जायकोऊहले, यह तीन पद अवग्रह है।' उप्पणसड्ढे, उप्पण्णसंसए और उप्पण्णकोऊले यह तीन पद ईहा हैं। संजायसड्ढे, संजायसंसए और संजायकोऊहले** तथा **समुप्पणकोऊहले**, यह तीन पद धारणा हैं।

इसके आगे गौतम स्वामी के संबंध में कहा है कि–उट्ठाए उट्ठेएं। अर्थात् गौतम स्वामी उठने के लिए तैयार होकर उठते हैं।

प्रश्न–यहां 'उट्ठाए उट्ठेइ' यह दो पद क्यों दिये गये हैं?

उत्तर–दोनों पद सार्थक हैं। पहले पद से यह सूचित किया है कि गौतम स्वामी उठने के अभिमुख हुए अर्थात् उठने को तैयार हुए। दूसरे पद से यह सूचित किया है कि वे उठ खड़े हुए। अगर दो पद न दिए होते और पहला ही पद होता तो उठने के प्रारम्भ का ज्ञान तो होता परन्तु उठकर खड़े हुए, यह ज्ञान न होता। जैसे 'बोलने के लिए तैयार हुए' इस कथन में यह संदेह रह जाता है कि बोले या नहीं? इसी प्रकार एक पद रखने से यहां भी सन्देह रह जाता।

शास्त्र में गुरु और शिष्य के बीच में साड़े तीन हाथ की दूरी रहने का विधान है। इस विधान में अनेक उद्देश्य हैं। गुरु को शरीर फैलाने में दिक्कत नहीं होती और गर्मी आदि भी नहीं लगती। इस कारण शिष्य को गुरु से 3।। हाथ दूर रहना कहा है। गुरु के चरण–स्पर्श आदि किसी कार्य के लिए अवग्रह में जाना हो तो गुरु से आज्ञा लेनी चाहिए। अगर गुरु आज्ञा दें तो जाना चाहिए, अन्यथा नहीं जाना चाहिए, यह नियम है। आज इस नियम के शब्द तो सुधर्मा स्वामी की कृपा से मिलते हैं, लेकिन इसमें प्रवृत्ति कम देखी जाती है।

गौतम स्वामी अपने आसन से उठ खड़े हुए और चलकर भगवान् के समीप आये। भगवान् के समीप आकर उन्होंने भगवान् को तीन बार प्रदक्षिणा की।

कई लोग प्रदक्षिणा का अर्थ हाथ जोड़ कर अपने कान के आसपास हाथ घुमाना ही समझते हैं, लेकिन वह प्रदक्षिणा का विकृत किंवा संक्षित रूप है। आसपास चारों ओर चक्कर लगाने का नाम ही प्रदक्षिणा है। प्राचीन काल में इसी प्रकार प्रदक्षिणा की जाती थी।

प्रदक्षिणा करके गौतम स्वामी ने भगवान् के गुणों का कीर्त्तन किया और पांच अंग नमा कर भगवान् को वंदना की। वंदना करने के पश्चात् गौतम स्वामी भगवान् के सन्मुख बैठे। वचन से स्तुति करना वंदना है और काया से प्रणाम करना नमस्कार कहलाता है।

गौतम स्वामी भगवान् के सन्मुख–भगवान् की ओर मुंह करके, किस प्रकार बैठे, यह वर्णन भी शास्त्र में है। संक्षेप में वह भी बतलाया जाता है।

गौतम स्वामी भगवान के आसन की अपेक्षा नीचे आसनपर न बहुत दूर न बहुत नजदीक अर्थात भगवान से साढ़े तीन हाथ दूर बैठे। बहुत दूर बैठने से शिष्य गुरु की बात भली भाँति नहीं सुन सकता। अथवा गुरु को जोर से बोलने का कष्ट उठाना पड़ता है। बहुत समीप बैठने से गुरु को किस प्रकार की दिक्कत होती है। अतएव गौतम स्वामी भगवान से साढ़े तीन हाथ की दूरी पर भगवान के वचनों को श्रवण करने की इच्छा करते हुए विराजमान हुए। गौतम स्वामी, भगवान के सामने वैसी ही इच्छा लिये बैठे हैं जैसे बछड़े को गाय का दूध पीने की इच्छा होती है।

इसके पश्चात गौतम स्वामी अंजलि करके अर्थात दोनों हाथ जोड़ कर उन्हें मस्तक से लगाकर प्रार्थना करते हुए भगवान के प्रति विनयपूर्वक बोले।

यह गौतम स्वामी के विनय का वर्णन सुधर्मा स्वामी ने सुनाया है। इससे प्रतीत होता है कि श्रोता को अपने गुरू के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। श्रोता कैसा होना चाहिए इस विषय में कहा गया है।

णिंदा–विगहा परिवज्जिएहिं, गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं।
भत्ति–बहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेयव्वं।।

अर्थात– गुरु जब शास्त्र की प्ररूपणा करते हों तब श्रोताओं को नींद और आपस की बातचीत बंद करके, मन तथा शरीर को संयम में रखकर हाथ जोड़कर भक्ति एवं अत्यन्त आदर पूर्वक श्रवण करना चाहिए। शास्त्र की प्ररूपणा करते समय नींद लेना या बातें करना प्ररूपणा में विघ्न डालना है।

नन्दी सूत्र मे वक्ता और श्रोता के गुण दोष बतलाने के लिए और भी अधिक विवेचन किया गया है। उसमें कहा है कि एक श्रोता गाय के बछड़े के समान होता है। गाय का बछड़ा छूटने पर और किसी बात पर ध्यान नहीं देकर सीधा अपनी माँ के पास दौड़ता है। गाय के बछड़े के समान श्रोता किसी ओर बात पर ध्यान न देकर वक्ता के द्वारा किये जाने वाले विवेचन पर ही ध्यान देता है।

कोई–कोई श्रोता जौंक के समान होता है। जौंक को अगर दूध भरे स्तन पर लगाया जाय तो यह दूध न पीकर रक्त ही पीती है। किसी कवि ने कहा है

अवगुण को उमगी गहें, गुण न गहें खल लोक।
रक्त पिये पय ना पिये, लगी पयोधर जौंक।।

इसी प्रकार जो श्रोता वक्ता के छिद्र तो देखते हैं, परन्तु वक्ता के मुख से निकलने वाली अमृतवाणी को ग्रहण नहीं करते, वे जौंक के समान हैं।

भगवान ने चौदह प्रकार के वक्ता कहे हैं, मगर साथ यह भी कहा है कि श्रोता के वक्ता के दोष न देख कर गुण ही ग्रहण करना चाहिए। जहाँ अमृत मिल सकता है वहाँ रक्त ग्रहण करना उचित नहीं है।

विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार करके गौतम स्वामी ने भगवान महावीर स्वामी से स्वीकृति प्राप्त करके प्रश्न किये जिनका वर्णन आगे किया जाएगा।

।। इति ।।

श्री भगवती सूत्र व्याख्यान

भाग—2

श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (पंचमांगम्)
द्वितीय भाग :

प्रथम शतकः– प्रथम उद्देशक

मूल– से णूणं भंते! चलमाणे चलिए?उदीरिज्जमाणे उदीरिए? वेइज्जमाणे वेइए?पहिज्जमाणे पहीणे? छिज्जमाणे छिण्णे? भिज्जमाणे भिण्णे? डज्झमाणे दड्ढे? मिज्जमाणे मडे? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे?(3)

संस्कृत–छाया– तद् नूनं भगवन्! चलत् चलितम्? उदीर्यमाणं उदीरितम्? वेद्यमानं वेदितम्? प्रहीयमाणं प्रहीणम्? छिद्यमानं छिन्नम्? भिद्यमानं भिन्नम्? दह्यमानं दग्धम्? म्रियमाणं मृतम्? निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णम्?(3)

हे भगवन्! जो चल रहा हो; वह चला; जो उदीरा जा रहा हो; वह उदीरा गया, जो वेदा जा रहा हो; वह वेदा गया, जो नष्ट हो रहा हो वह नष्ट हुआ; जो छिद रहा है वह छिदा, जो भिद रहा है वह भिदा, जो जल रहा है वह जला, जो मर रहा है, वह मरा, जो खिर रहा है, वह खिरा, इस प्रकार कहा जा सकता है?(3)

व्याख्या– गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से उक्त नौ प्रश्न किये। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गौतम स्वामी ने इन प्रश्नों में पहले चलमाणे चलिए? यह प्रश्न ही क्यों किया? दूसरा प्रश्न पहले क्यों नहीं किया। इस प्रश्न का समाधन यह है।

पुरुषार्थ चार हैं उनमें मोक्ष पुरुषार्थ मुख्य हैं। जितने भी पुरुषार्थ हैं वह सब मोक्ष के लिए ही होने चाहिए। और कोई काम ऐसे पुरुषार्थ का नहीं है जैसे पुरुषार्थ का काम मोक्ष प्राप्त करने का है। अतएव सब प्राणियों को उचित है कि वे दूसरे काम छोड़ कर मोक्ष–प्राप्ति के काम में लगें।

इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करना सब कामों में श्रेष्ठ है। मोक्ष प्राप्ति एक कार्य है तो उसका कारण भी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। बिना कारण के कार्य का होना मान लेने से बड़ी

गड़बड़ी मच जायगी। अतएव प्राकृतिक नियम के अनुसार यही मानना उचित है कि कारण के होने पर ही कार्य होता है। इस नियम से जब मोक्ष साध्य है, तो उसका साधन भी अवश्य होना चाहिए।

मान लीजिए कोई महिला रोटी बनाना चाहती है। रोटी बनाना साध्य है तो उसके लिए साधनों का होना अनिवार्य आवश्यक है। चकला, बेलन, आटा, अग्नि आदि रोटी बनाने के साधनों को सामग्री कहते हैं। यह साधन सामग्री होगी तभी रोटी बनेगी। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य में साधन की आवश्यकता है। जैसा मनुष्य का साध्य होगा, वैसा ही उसे पुरुषार्थ भी करना पड़ता है। उसके अनुकूल ही साधन करने पड़ते हैं।

मोक्ष रूप साध्य के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप साधनों की आवश्यकता है। जैसे आटा, अग्नि, आदि सामग्री के बिना रोटी नहीं बन सकती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि सामग्री के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे यह साबित होता है कि मोक्ष रूप साध्य के साधन सम्यक्–दर्शन, सम्यक्–ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं।

साध्य के अनुकूल साधन और साधन के अनुसार साध्य होता है। अन्य जाति का कारण अन्यजातीय कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। अगर किसी को खीर बनानी है तो उसे दूध, शक्कर, चावल का उपयोग करना होगा। इसके बदले अगर कोई नमक–मिर्च इकट्ठा करने बैठ जाये तो खीर नहीं बनेगी। तात्पर्य यह है कि साध्य के अनुकूल ही साधन जुटाने चाहिएं।

साध्य के अनुसार साधन जुटाने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। खीर बनाने वाले को जानकारी होनी चाहिये कि खीर के लिये दूध, शक्कर आदि की आवश्यकता है और शाक बनाने वाले को जानना चाहिए कि उसके लिए नमक–मिर्च का उपयोग किया जाता है। ऐसा ज्ञान न होने से न खीर ही ठीक बन सकती है, और न तरकारी ही। तात्पर्य यह है कि कार्य करने के लिए कर्त्ता को कारणों का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। यथावत् ज्ञान के अभाव में कार्य यथावत् नहीं हो सकता।

यहाँ मोक्ष साध्य है और सम्यगज्ञान आदि उसके साधन हैं। साध्य और साधन के व्यभिचार को हटाकर जो उनका जोड़ मिलाने की शिक्षा दे, वह शास्त्र कहलाता है। अच्छे पुरुष इस बात की शिक्षा चाहते हैं कि साध्य (मोक्ष) और साधन (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्–चारित्र) समान मिल जावें। इनमें व्यभिचार न हो। इसलिए अच्छे पुरुष शास्त्र श्रवण की इच्छा रखते हैं।

भगवती सूत्र शास्त्र है। इस शास्त्र में कार्य कारण का व्यभिचार न होने देने की शिक्षा दी गई है। साध्य और साधन में व्यभिचार न आने देने के लिए साध्य और साधन दोनों पर विचार करने की आवश्यकता है। अगर साध्य को भूलकर दूसरे ही कार्य के लिए साधन जुटाते रहे अथवा साधन को भूलकर साध्य दूसरे को ही मानते रहे तो कैसे कार्य होगा? साध्य है खीर, और बना ली तरकारी। यहाँ साध्य का ज्ञान न होने से दूसरे ही कार्य के साधन जुटाये और उन साधनों से खीर की जगह तरकारी बन गई । भले ही तरकारी अच्छी बनी, मगर साध्य वह नहीं थी । साध्य तो खीर थी जो बनी नहीं। इसी प्रकार साध्य बनाया जाय मोक्ष और साधन जुटाए जाएँ संसार के तो मोक्ष कैसे मिलेगा? कारण कार्य में व्यभिचार नहीं होना चाहिए। दोनों एक हो जावें। इस बात की शिक्षा देने वाला शास्त्र कहलाता है।

यहाँ कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र साधन हैं और मोक्ष साध्य है। इन साधनों के द्वारा मोक्ष को साधा जाय तो कोई गड़बड़ न होगी।

हमारे आत्मा की शक्तियाँ बन्धन में है। उन शक्तियों पर आवरण पड़ा है, उस आवरण को हटाकर आत्मा की शक्तियों को प्रकट कर लेना ही मोक्ष है। आत्मा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्–चारित्र की शक्ति स्वभावतः विद्यमान है, लेकिन वह दब रही है। रत्नत्रय की इस शक्ति में आत्मा की अन्य सब शक्तियों का समावेश हो जाता है। ज्यों ज्यों इस शक्ति का विकास होता है, मोक्ष समीप से समीपतर होता चला जाता है।

तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना करेगा, वह मोक्ष की आराधना करेगा और जो मोक्ष की आराधना करेगा वह इन साधनों को अपनायेगा। जैसे खीर को दूध, चावल और शक्कर कहो या दूध, चावल, शक्कर को खीर कहो एक ही बात है। इसी प्रकार सम्यक्–ज्ञान–दर्शन–चाारित्र की आराधना कहो या मोक्ष की आराधना कहो, दोनों एक ही बात है।

सम्यक् ज्ञान–दर्शन–चारित्र मोक्ष के ही साधन हैं यह साधन मोक्ष को ही सिद्ध करेंगे, और किसी कार्य को सिद्ध नहीं करेंगे। मोक्ष को साधने वाला इन तीनों कारणों को ही साधेगा और इन्हीं कारणों से मोक्ष सधेगा।

मोक्ष को वही जान सकता है जो इन शक्तियों के बन्धन को जानेगा। जो बन्धन को न जानेगा, वह मोक्ष को क्या समझेगा? जो कैद या परतंत्रता को जानेगा वही स्वतंत्रता चाहेगा। आज जो भारतीय परतंत्रता को जानते हैं वे ही स्वतंत्रता को चाहते हैं। जिन्हें परतंत्रता का ही ज्ञान नहीं है, वे स्वतंत्रता

को नहीं समझ सकते। इसी प्रकार जो बन्धन को समझेगा, वही मोक्ष को भी समझेगा।

वस्तु दो प्रकार से जानी जाती है– स्वपक्ष से और विपक्ष से। वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होना स्वपक्ष से जानना है और उसके प्रतिपक्षी विरोधी वस्तु को जानकर और फिर उससे व्यावृत्त करके मूल वस्तु को जानना विपक्ष से जानना है। इसे विधिमुख से और निषेधमुख से जानना भी कहा जा सकता है। प्रकाश को जानने के लिए अन्धकार को जान लेना भी आवश्यक होता है। इसी प्रकार धर्म को जानने के लिए अधर्म को और अधर्म को जानने के लिए धर्म को जान लेना आवश्यक है। मोक्ष का प्रतिपक्ष बन्धन है। बन्धन है, इसी से मोक्ष भी है। बन्धन न होता तो मोक्ष भी न होता। मोक्ष को जानने के लिए बन्धन को जानना पड़ता है।

आत्मा के साथ कर्मों का एकमेक हो जाना बन्ध है। जैसे दूध और पानी आपस में मिलकर एकमेक हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्मप्रदेशों का आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना बन्धन है। और इस कर्मबन्ध का नाश हो जाना मोक्ष है। मोक्ष के लिए कर्मबन्धन काटना अनिवार्य है।

मूल बात यह है कि गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से जो नौ प्रश्न किये हैं। उनमें पहले चलमाणे चलिए प्रश्न ही क्यों किया? इस प्रश्न को हल करनेसे पूर्व हमें यह देखना चाहिए कि कर्म बंध का नाश क्रमशः होता है या एक साथ?

प्रत्येक कार्य में क्रम देखा जाता है। एक सड़े–गले कपड़े को फाड़ने में भी पहले और पीछे के तार टूटने का क्रम है। कपड़े के तमाम तार एक साथ नहीं टूटते। इस प्रकार संसार में किसी भी कार्य को लीजिए, उसके सम्पन्न होने में क्रम अवश्य दिखलाई पडेगा, जो सूक्ष्म दृष्टि से कार्य के क्रम को समझ लेगा वह गड़बड़ में नहीं पड़ेगा। जो मनुष्य बारीक नजर से किसी कार्य के क्रम को नहीं समझेगा उसका गड़बड़ में पड़ जाना स्वाभाविक है।

जैसे अन्यान्य कार्यक्रम क्रम से होते हैं उसी प्रकार कर्मबंध का नाश भी क्रम से होता है। इसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं होना चाहिए। अब देखना सिर्फ यही है कि कर्मबंध का नाश किस क्रम से होता है?

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से 'चलमाणे चलिए' से लगाकर 'णिज्जरिज्जमाणे णिज्जरिए' तक जो नौ प्रश्न किये हैं उनमें कर्मबंध के नाश का क्रम सन्निविष्ट है। यह क्रम 'चलमाणे चलिए' से आंरभ होता है। और 'णिज्जरिज्जमाणे णिज्जरिए' तक रहता है। इस अंतिम क्रम के पश्चात्

कर्मबंध नहीं रहता। कर्मबंध के नष्ट होने में पहला क्रम 'चलमाणे चलिए' ही है। इसी कारण यह प्रश्न सब से पहले उपस्थित किया गया है।

अब यह देखना चाहिए कि कर्मबंध के नाश का यह क्रम दिखाकर कौन–सी बात समझाई गई है, और इन पदों का अर्थ क्या है? सब से पहले 'चलमाणे चलिए' इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर कर्म उदयावलिका में आतें हैं, आवलिका कहते हैं –चक्कर को । स्थिति पूर्ण होने पर कर्म अपना फल देने के लिए जिस चक्कर में आते हैं, उसे उदय–आवलिका कहते हैं। इस प्रकार कर्म का फल देने लिए सामने आना ही चलित होना है।

उदय–आवलिका का शास्त्र में बहुत विस्तार पूर्वक वर्णन है, जिसे कहने का अभी समय नहीं है।

कर्मों को उदय–आवलिका में आने में असंख्यात समय लगते हैं, असंख्यात समय में कर्म उदय–आवलिका में आते हैं। जो समय असंख्यात है उनकी आदि भी है, मध्य भी है और अन्त भी है। असंख्यात में आदि, मध्य और अन्त होता ही है। कर्म–पुद्गल अनन्त हैं और उनके उदय–आवलिका में आने का क्रम है। इस समय में अनन्त पुद्गलों का कितना दल चले, दूसरे समय में कितना चले और तीसरे समय में कितना दल चले, आदि? इस प्रकार क्रमपूर्वक कर्मपुद्गल उदयावलिका में आते हैं। अतः क्रम से चलते–चलते कर्मपुद्गलों को उदयावलिका में आने में असंख्यात समय लग जाते हैं।

चलमाणे चलिए – जो चलता है वह चला।

इस सिद्धान्त के अनुसार पहले समय में कर्मपुद्गलों का जो दल चला है, उसे दृष्टि में रखकर, आगे के असंख्यात समयों में जो दल चलेगा। उसके लिए भी 'चला' कहा जायगा। अर्थात पहले समय में जो कर्मपुद्गलों का दल चला है, उसे लक्ष्य करके कर्मपुद्गलों के सब दलों के लिए कहना चाहिए कि वे सब 'चले हैं' ।

अब प्रश्न यह है कि जो कर्मपुद्गल चल रहे हैं, वे वर्तमान में हैं, उन्हें 'चले' इस प्रकार भूतकाल में क्यों कहा? वर्तमान को भूतकाल में क्यों कहा?

इस शंका का समाधान युक्ति से किया जाता है। शास्त्रकार का कथन है कि ऐसा न मानने से सारा व्यवहार ही बिगड़ जायेगा, और जब व्यवहार बिगड़ जायेगा तो आत्मिक क्रिया भी नष्ट होगी ही। कल्पना कीजिए एक आदमी कपड़ा बुन रहा है। कपड़ा बुनने में अनेक तार डालने पडेंगे। तभी कपड़ा पूरा बुना जायेगा। इस प्रकार कपड़ा बुनने में असंख्यात

समय लगेंगे। यद्यपि अभी कपड़ा पूरा बुना नहीं गया है, बुना जायेगा, लेकिन बुनने के लिए एक तार डालने पर भी कपड़ा बुना गया कहलाता है। इस प्रकार वर्तमान की बात भी भूतकाल में बतलाई जाती है। यह नित्य के लोक–व्यवहार में हम देख सकते हैं। हम देखतें हैं कि पहले समय में जो तार बुना गया है, उसी के आधार पर 'कपड़ा बुना गया' ऐसा कहा जाता है।

इस प्रकार का लोक–व्यवहार भी निराधार नहीं है। वस्त्र की उत्पत्ति एक क्रिया है। अन्यान्य क्रियाओं की भाँति इस क्रिया में भी असंख्यात समय लगते हैं। अतएव बुनने की क्रिया में जितने समय लगेंगे, उनके प्रारम्भिक समय में ही 'कपड़ा बुना गया' यह कहा जायगा। अगर ऐसा न कहा जाय, न माना जाय तो फिर कहना होगा कि अन्यान्य तार डालने पर भी कपड़ा उत्पन्न नहीं हुआ। जैसे एक तार डालने पर वस्त्र बुना गया नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार दो, तीन, चार, दस बीस और सौ तार डालने पर भी बुना गया नहीं कहलाएगा। ऐसी स्थिति में पहला तार डालने की क्रिया निरर्थक हुई, इसी प्रकार आगे के तार डालना भी निरर्थक होगा और फिर सभी तार निरर्थक हो जाएँगे। तात्पर्य यह है कि यदि पहला तार डालने की क्रिया करने पर भी कपड़ा उत्पन्न नहीं हुआ तो कहना होगा कि तार डालने की क्रिया निष्फल गई । जो चीज बनानी है, क्रिया करने पर भी अगर वह नहीं बनी तो यही कहना चाहिए कि क्रिया निष्फल हुई । मगर इस प्रकार की निष्फलता स्वीकार करने से बड़ी गड़बड़ी होगी। फिर अगले तार डालने की क्रिया भी निरर्थक होगी और इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक तार डालना जब निरर्थक हुआ तो कपड़ा बुना ही नहीं गया। इस प्रकार प्रत्यक्ष से विरोध उत्पन्न होगा।

जो पहला तार डालने पर वस्त्र की उत्पत्ति नहीं मानते, मगर अन्तिम तार डालने पर ही उत्पत्ति मानते हैं, उन्हें यह सोचना चाहिए कि पहले तार की अपेक्षा अन्तिम तार में क्या विशेषता है? जैसे पहला तार एक था, उसी प्रकार अन्तिम तार भी एक है। अगर एक तार से वस्त्र नहीं उत्पन्न होता तो अन्तिम तार से उत्पत्ति कैसे कही जा सकती है? प्रथम और अंतिम तार समान हैं। अगर अंतिम तार से वस्त्र उत्पन्न हुआ माना जाय तो प्रथम तार से भी उसे उत्पन्न हुआ मानना चाहिए। जो शक्ति प्रथम तार में है, वही अंतिम में भी है। ऐसी अवस्था में पहला तार पड़ने पर वस्त्र उत्पन्न हुआ न मानना और अंतिम तार पड़ने पर मानना उचित नहीं कहा जा सकता।

कपड़े में पड़ने वाले तार पूरक हैं और कपड़ा पूर्य है। जो सूत एक ही गांठ में बँधा है, उस सबका कपड़ा बनेगा। इसलिए सब धागों में समान शक्ति है। चाहे जिस धागे को पहले डाला जाय, चाहे जिसे पीछे डाला जाय। अगर पहले तार के डालने पर कपड़े को उत्पन्न न कहोगे तो पिछला तार डालने पर कपड़े को उत्पन्न क्यों कहोगे? सभी तार एक ही गांठ के हैं और समान शक्ति वाले हैं, फिर उनमें यह भेद–भाव क्यों किया जाता है? अगर पहले वाले तार को अंत में डाला जाय और अंत में डाले जाने वाले तार को पहले ही डाला दिया जाय तब तो कपड़े को उत्पन्न हुआ मानने में कोई आपत्ति न होगी? अंतिम तार डालने से ही अगर कपड़ा उत्पन्न हुआ कहलाता है तो अंतिम तार को पहले ही डाल देने पर कपड़ा उत्पन्न हुआ ऐसा मानने में आनाकानी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि आप अंतिम तार से ही कपड़े का उत्पन्न होना स्वीकार करते हैं। अगर इतने पर भी कपड़े को उत्पन्न हुआ न मानो तो फिर दुराग्रह ही कहलाएगा। इस दुराग्रह के कारण क्रिया में निरर्थकता आएगी। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पहला, दूसरा और तीसरा तार डालने से भी कपड़ा उत्पन्न हुआ है। अतएव यह मानना उचित है कि पहला धागा डालने से भी वस्त्र किंचित उत्पन्न हुआ है। अगर ऐसा न माना जायगा तो फिर कभी भी वस्त्र उत्पन्न हुआ नहीं कहलाएगा।

यह हुआ तार की अपेक्षा वस्त्र को उत्पन्न माना जाना। काल की अपेक्षा भी यही बात मानना युक्ति संगत है। कपड़ा उत्पन्न करने में जो काल लगता है उसके तीन स्थूल विभाग किये जा सकते हैं–प्रथम प्रारंभकाल, दूसरा मध्यकाल और तीसरा अंतिम काल। अगर कपड़े के प्रांरभकाल में उसे उत्पन्न हुआ न माना जायेगा तो मध्यकाल और अंतिमकाल में उत्पन्न हुआ क्यों माना जायेगा? तीनों काल समान हैं और तीनों कालों में वस्त्र उत्पन्न होता है– किसी एक काल में नहीं । जैसे प्रांरभकाल में कपड़ा बना उसी प्रकार मध्यकाल में भी और उसी प्रकार अंतिमकाल में भी। फिर क्या कारण है जिससे प्रांरभ और मध्य के काल में कपड़े को उत्पन्न हुआ न मानकर अंतिम काल में ही उत्पन्न हुआ माना जाय?

प्रांरभकाल में एक तार डालने पर कपड़े का एक अंश उत्पन्न हुआ है या नहीं? अगर यह कहा जाय कि एक अंश भी उत्पन्न नहीं हुआ तो इस का अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार सारा समय समाप्त हो गया और वस्त्र उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि जैसे प्रांरभ काल में उत्पन्न कपड़े के अंश को अनुत्पन्न माना जाता है, उसी प्रकार मध्यकाल में भी अनुत्पन्न मानना होगा

और अन्तिम काल में भी एक अंश ही उत्पन्न होता है, इसलिए उस समय में भी वस्त्र को उत्पन्न होना नहीं माना जा सकेगा। ऐसी स्थिति में वस्त्रोत्पादक की सम्पूर्ण क्रिया और सम्पूर्ण समय व्यर्थ हो जायगा। इस दोष से बचने के लिए यह मानना ही उचित है कि आरम्भ काल में भी अंशतः वस्त्र की उत्पत्ति हुई है।

तात्पर्य यह है कि जैसे एक तार पड़ जाने से ही वस्त्र का उत्पन्न होना मानना युक्ति संगत है, उसी प्रकार कर्मों की उदय–आवलिका असंख्यात समय वाली होने से पहले समय में जो कर्म उदय–आवलिका में आने के लिए चले हैं, उन कर्मों की अपेक्षा उन्हें 'चला' कहा जाता है। अगर ऐसा न माना जायगा तो जो कर्म उदय–आवलिका में आने के लिये चले हैं, उन कर्मों की चलन–क्रिया वृथा हो जायेगी। और यदि प्रथम समय में कर्मों का चलना नहीं माना जायेगा तो फिर दूसरे, तीसरे आदि समयों में भी उनका चलना नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि पहले समय में और पिछले समय में कोई अन्तर नहीं है। जैसे पहले समय में कुछ ही कर्म चलते हैं, सब नहीं, उसी प्रकार अन्तिम समय में भी कुछ ही कर्म चलते हैं–सब नहीं। (क्योंकि बहुत से कर्म पहले ही चल चुके हैं और जो थोडे से शेष रहे थे, वही अंतिम समय में चलते हैं) इस प्रकार सब समय समान हैं। किसी में कोई विशेषता नहीं है। अतः प्रथम समय में अगर 'कर्म चले' ऐसा न माना जाय तो फिर किसी भी समय में उनका चलना न माना जा सकेगा। इसलिए जिस प्रकार अंतिम क्रिया से 'कर्म चले' मानते हो, उसी प्रकार प्रथम क्रिया से भी 'कर्म चले' ऐसा मानना चाहिए।

यहाँ यह तर्क किया जा सकता है कि अगर एक तार डालने से वस्त्र उत्पन्न हो जाता है तो फिर दूसरे तार डालने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि अगर अन्तिम तार डालने से ही वस्त्र उत्पन्न हुआ, ऐसा माना जाय तो (अंतिम तार को छोड़कर) पहले के तमाम तार डालने की क्या आवश्यकता है? उन तारों का डालना निष्फल क्यों न जाय? असल बात यह है कि एक तार डालना एक समय की क्रिया हुई और दूसरा तार डालना दूसरे समय की क्रिया हुई। पहले समय में पहला तार डाला है और उससे अंशतः वस्त्र उत्पन्न हुआ है, दूसरे समय में दूसरा तार डालना शेष है। लेकिन जो तार डाला है, उसकी क्रिया और समय निरर्थक तो नहीं गया? उस समय में उस क्रिया से वस्त्र उत्पन्न तो हुआ ही है।

कर्म की स्थिति परिमित है। चाहे वह अन्तर्मुहूर्त्त की हो या सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की हो, लेकिन है परिमित ही। परिमित स्थिति वाले कर्म अगर उदय में नहीं आवेंगे तो उनका परिमितपन मिट जायगा और सारी व्यवस्था भंग हो जायेगी। कर्मस्थिति की मर्यादा है और उस मर्यादा के अनुसार कर्म उदय आवलिका में आते ही हैं। उदय–आवलिका में आने के लिए सभी कर्म एक साथ नहीं चलते हैं प्रत्येक समय में उनका कुछ अंश ही चलता है। प्रथम समय में जो कर्मांश चला है उसकी अपेक्षा कर्म को 'चला' न माना जायगा तो प्रथम समय की क्रिया और वह समय व्यर्थ होगा। अतएव चलमान कर्म को चलित मानना ही उचित है। इसके सिवाय जो कर्मदल प्रारंभ में उदय आवलिका के लिए चला है वह अन्त में फिर चलता नहीं है। अतएव इस समय यह कर्मांश चला है और इस समय यह कर्मांश चला है ऐसा मानने से ही कर्मों के चलने का क्रम रह सकता है। एक कर्मदल दूसरे कर्मदल से स्वतंत्र होकर चलता है। अतएव प्रथम समय में जो कर्मदल चला है, उसके आधार पर 'चला' मानना युक्तिसंगत है।

यह पहला प्रश्न और उसके सम्बन्ध का समाधान हुआ। दूसरा प्रश्न यह है कि–

उदीरिज्जमाणे उदीरिए?

अर्थात्– जो उदीरा जा रहा है वह उदीर्ण हुआ?

कर्म दो प्रकार से उदय में आते हैं। कोई कर्म अपनी स्थिति परिपक्व होने पर उदय में आता है और कोई कर्म उदीरणा से। किसी विशेष काल में उदय होने योग्य कर्म को जीव अपने अध्यवसाय विशेष से स्थिति का परिपाक होने से पूर्व ही उदयावलिका में खींच लाता है। इस प्रकार नियत समय से पहले ही प्रयत्न विशेष से किसी कर्म का उदय–आवलिका में आ जाना 'उदीरणा' है। कर्म की उदीरणा में भी असंख्यात समय लगते हैं। परन्तु पहले समय में उदीरणा होने लगी तो उदीर्ण हुआ कहना चाहिए। ऐसा न कहा जाय तो वही सब गड़बड़ी होगी जिसका उल्लेख 'चलमाणे चलिए' के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

कई लोग कहते हैं कि कर्म जिस रूप में बँधे है, उसी रूप में भोगने पड़ते हैं। दूसरी तरह से उनका नाश नहीं हो सकता। लेकिन ऐसा मान लेने पर तप आदि क्रियाएँ व्यर्थ हो जाएँगी। जब तप करने पर भी कर्म उदय में आवेगा और तप न करने पर भी उदय में आवेगा तो तप करने से क्या लाभ है? अतएव यह कथन समीचीन नहीं है कि कर्म का नाश दूसरे प्रकार से नहीं

हो सकता। स्थिति परिपक्व होने पर कर्म का उदय होना और हाय–हाय करके उन्हें भोगना यह तो अनादिकाल से चला आ रहा है। लेकिन कर्मों की उदीरणा करके उन्हें उदय–आवलिका में ले आने से फिर कर्म नहीं बंधते।

कुछ लोगों को यह भ्रम है कि आत्मा और कर्म का संबन्ध अनादि काल का है। अनादिकालीन होने से वह अनंत काल तक रहना चाहिए। इस प्रकार कर्मों का नाश हो ही नहीं सकता। यह छिछोरों की बात है। ज्ञानी जनों ने इस विषय में सत्य वस्तु तत्व प्रकट किया है। ज्ञानियों का कथन है कि कर्म और आत्मा का संबंध प्रवाह की अपेक्षा अनादि होने पर भी व्यक्ति की अपेक्षा सादि है। अर्थात प्रत्येक कर्म किसी न किसी समय आत्मा में बँधता है, अतएव सभी कर्म सादि हैं फिर भी कर्म सामान्य की परम्परा सदैव चालू है इस दृष्टि से वह अनादि है।

प्रवाह या परम्परा किसे कहते हैं? मान लीजिये, आप यमुना के किनारे खड़े होकर उसकी धारा देख रहे हैं धारा देखकर आप साधारणतया यह समझतें हैं कि वह एक सी है इसमें वही पहले वाला पानी है लेकिन बात ऐसी नहीं है। धारा का जल प्रतिक्षण आगे–आगे बढ़ता जाता है। एक मिनिट पहले जो जल आपने देखा था। वह चला गया है और उसकी जगह दूसरा नया जल आ पहुँचा है। इस प्रकार पहले वाले जल का स्थान दूसरा जल ग्रहण करता रहता है। इसी कारण धारा टूटती नजर नहीं आती और ऐसा जान पड़ता है मानों वही जल मौजूद है। लेकिन जैसे पानी ऊपर से आता न हो तो धारा खंडित हो जायेगी उसी प्रकार नये कर्म न आवें तो कर्मों की परम्परा भी विच्छिन्न हो जायेगी तात्पर्य यह है कि प्रतिक्षण अपूर्व–अपूर्व कर्म आते रहते हैं और इस प्रकार का कर्म प्रवाह अनादिकाल से चल रहा है।

हाँ, तो कर्म, स्थिति पूर्ण होने पर भी उदय–आवलिका में आते हैं और उदीरणा से भी आते हैं। मान लीजिये, आपको किसी का ऋण चुकाना है। आप दो तरह से ऋण चुका सकते हैं। एक तो आप नियत समय से पहले ही अदा कर दें। नियत समय पर कर्ज चुकाने में कोई विशेषता नहीं हुई; मगर समय से पहले ही चुकाने में गौरव है और आनन्द है। इसी प्रकार कर्म एक तो उदय की स्थिति पर भोग जाते हैं। और दूसरे स्थिति के पूर्व की उदीरणा करके क्षय किये जाते हैं।

शास्त्रकारों का कथन है– कि समय पर कर्म भोगोगे इसमें क्या विशेषता होगी? समय से पहले ही, उदय–आवलिका में लाकर उनका क्षय क्यों नहीं कर देते? कर्मों के नाश होने के इन दोनों तरीकों में पर्याप्त अन्तर

है। जो कर्म करोड़ों भव करने पर भी नहीं छूटते, वे कर्म धर्माग्नि, ध्यानाग्नि और तप की अग्नि में एक क्षण भर में भस्म किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रदेशी राजा को देखिए। उसने ऐसे घोर कर्म बाँधे थे कि एक एक नरक में अनेक–अनेक बार जाने पर भी सब कर्म पूरे न भोगे जावें। उसने निर्दयता से प्राणियों की हिंसा की थी। वह अपने मत की परीक्षा के लिए चोरों को कोठी में बंद कर देता था और कोठी को चारों ओर से ऐसी मूँद देता था कि कहीं हवा का प्रवेश न हो सके। वह मानता था कि जीव और काय एक है अलग नहीं। इसी बात को देखने के लिए वह ऐसा करता था। अगर जीव और शरीर अलग–अलग होंगे तो चोर के मरने पर भी जीव दिखाई देगा। कोठी एकदम बंद है तो जीव निकलकर जायेगा कहाँ? कई दिनों बाद वह चोर को कोठी से बाहर निकालता। चोर मरा हुआ मिलता। राजा प्रदेशी कहता – देखो, काया के अतिरिक्त आत्मा अलग नहीं है। यहां अकेला शरीर ही दिखाई दे रहा है।

कभी–कभी प्रदेशी राजा किसी चोर को चीर डालता और उसके टुकड़े–टुकड़े करके आत्मा को देखता था। जब आत्मा दिखाई न देता तो अपने मत का समर्थन हुआ समझता और कहता कि शरीर से अलग आत्मा नहीं है। तात्पर्य यह कि प्रदेशी राजा घोर हिंसक था और महान् पाप करता था।

जो आत्मा अज्ञान अवस्था में घोर पाप करता है, ज्ञान होने पर वही किस प्रकार ऊँचा उठ जाता है, इसके लिए प्रदेशी का उदाहरण मौजूद है।

धन धन केशी सामजी, सारया प्रदेशी ना काम जी।

केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा को समझाया, तब वह जीव और शरीर को अलग–अलग मानने लगा। पहले वही प्रदेशी लोगों की आजीविका छीन लेता था। और साधु सन्तों के प्राण लेने में संकोच नहीं करता था। चित नामक प्रधान ने केशी स्वामी से प्रार्थना की कि –महात्मन! आप सिताम्बिका नगरी में पदार्पण कीजिये। वहां अतीव उपकार होने की संभावना है। वहां के लोग बड़े धर्मात्मा हैं। वे बहुत प्रेम से आपका उपदेश सुनेंगे। तब केशी श्रमण ने उत्तर दिया– हे चित्त! एक सुन्दर बगीचा है। उसमें तरह–तरह के फल लगे हैं। अत्यन्त आनन्द दायक वह बगीचा है। बताओ ऐसे उद्यान में पक्षी आना चाहेगा कि नहीं?

चित्त–'क्यों नहीं महाराज! अवश्य आना चाहेगा।

केशी श्र.– लेकिन उस उद्यान में एक पारधी धनुष चढ़ाकर पक्षियों को मार डालने के लिए उद्यत खड़ा है। ऐसी दशा में वहां कोई पक्षी जायेगा?

चित्त– अपने प्राण गँवाने कौन जायेगा?

के.श्र.–इसी प्रकार सिताम्बिका नगरी उद्यान की भाँति सुन्दर है, किन्तु वहाँ का राजा प्रदेशी हम साधुओं के लिए पारधी के समान है। वह साधुओं के प्राण लिए बिना नहीं मानता। वह अपने अज्ञान से साधुओं को अनर्थ–की जड़ समझता है। ऐसी दशा में तुम्हीं बताओ, हमारा वहाँ जाना उचित होगा?

चित–भगवन आपको राजा से क्या प्रयोजन? उपदेश तो वहाँ की जनता सुनेगी।

चित की बात सुनकर केशी श्रमण ने सोचा–आखिर चित वहाँ का प्रधान है। इसका आग्रह है तो जाने में क्या हानि है? सम्भव है राजा भी सधर जाय। परीषह और उपसर्ग आएंगे तो हमारा लाभ ही होगा–कर्मों की विशेष निर्जरा होगी।

इस प्रकार विचार कर केशी श्रमण ने सिताम्बिका जाने की स्वीकृति दे दी और वहाँ पधार भी गये। चित प्रधान घोड़े फिराने के बहाने प्रदेशी राजा को उनके पास ले आया। केशी श्रमण ने राजा को उपदेश दिया। उपदेश से प्रभावित हो राजा ने श्रावक के बारह व्रत धारण किये। जब राजा जाने लगा तो केशी स्वामी ने उससे कहा–राजन्! अब तुम रमणीक हुए हो; मगर हमारे चले जाने पर फिर अरमणीक न बन जाना।

राजा ने उत्तर दिया–नहीं महाराज! मेरे नेत्र आपने खोल दिये हैं। अब देखते हुए गड्ढे में नहीं गिरूँगा। बल्कि अपने राज्य के सात हजार ग्रामों के चार भाग आपके सामने ही किये देता हूँ। एक हिस्सा राज्य भंडार के लिये, दूसरा अन्तःपुर के लिये, तीसरा राज्य की रक्षा के लिए और चौथे हिस्से से श्रमणों–माहणों के लिए एवं भिखारियों के लिए देता हुआ तथा अपने व्रतों का पालन करता हुआ विचरूँगा।

मित्रों! राजा प्रदेशी एक दिन दूसरो के हाथ का ग्रास छीन लेता था। अब छीनता नहीं वरन् देता है। क्या उसके यह दोनों कार्य बराबर हैं? अगर कोई जैनदर्शन के नाम पर इन दोनों कार्यों को समान बतलाकर एकान्त पाप कहता है तो उसे क्या कहना चाहिए?

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने घोर पाप करके कर्मों का बंध किया था। कथा में उल्लेख है कि उसने बेले बेले का पारणा किया और

शास्त्र में कहा है कि उसने समभाव धारण किया। इस प्रकार प्रदेशी ने अपने इन कर्मों का नाश कर दिया।

राजा प्रदेशी ने हती सूरीकन्ता नार।
इष्टकान्त वल्लभ धणी सरे, शास्तर में अधिकार।
निज स्वारथ वश पापिणी सरे, मार्यो निज भर्तार।

राजा प्रदेशी की सूरीकान्ता नाम की रानी थी। राजा को वह बहुत प्यारी थी। राजा ने जब केशी श्रमण के बारह व्रत धारण कर लिए और वह धर्मात्मा बन गया, तब सूरी–कान्ता ने सोचा–राजा धर्म के ढोंग में पडा रहता है। विषय भोग का आनन्द बिगड़ गया है। इसे मरवा कर और कुँवर को राजसिंहासन पर बिठलाकर राजमाता होने का नवीन सुख क्यों न भोगा जाय?

इस प्रकार दुष्ट संकल्प करके रानी ने अपने पुत्र सूरीकान्त को बुलवाया। रानी ने उससे कहा– बेटा, तुम्हारा पिता ढोंगियों के चक्कर में पड़कर राज्य को मटियामेट किये देता है। थोड़े दिनों में ही सफाया हो जायेगा। तब तुम क्या करोगे। अतएव अपने भविष्य को देखो और अपना भला चाहते हो तो राजा को इस संसार से उठा दो। मैं तुम्हें राजा बनाऊँगी।

राजकुमार को अपनी माता का वचन जहर सा लगा। उसने पिता को मारने से इन्कार कर दिया मन ही मन सोचा तुम मेरे देव–गुरु के समान पिता को मार डालने को कहती हो! तुम माता हो तुमसे क्या कहूँ? कोई दूसरा होता तो इस बात का ऐसा मजा चखाता कि वह भी याद रखता।

राजकुमार के चले जाने पर रानी ने सोचा यह बहुत बुरा हुआ। मुँह से बात भी निकल गई और काम भी सिद्ध न हुआ। कहीं राजकुमार ने यह बात प्रकट करदी तो घोर अनर्थ होगा। मैं कहीं की नहीं रहूँगी। अतएव बात फूटने से पहले ही राजा को मार डालना ही श्रेयस्कर है।

ऐसा भीषण संकल्प करके रानी पौषधशाला में, जहाँ राजा मौजूद था आई उसने राजा के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा–आप तो बस यहीं के हो गये हैं? किस अपराध के कारण मुझे भुला दिया है? आपके लिये तो और रानियाँ भी तो हो सकती हैं, मगर मेरे लिए आपके सिवाय और कौन है? अतएव आज कृपा करके मेरे ही महल में पधारिये और वहीं भोजन कीजिये।

राजा ने सोचा–स्त्री सुलभ पति भक्ति से प्रेरित हो कर रानी उलाहना और निमंत्रण दे रही है। उसने रानी के महल में भोजन करना स्वीकार किया। रानी अपने महल में लौट आई। उसने राजा के लिए विषमिश्रित भोजन बनाया।

जल में भी विष मिलाया और आसन आदि पर भी विष का छिड़काव किया। इस प्रकार विष ही विष फैलाकर रानी ने राजा को भोजन करने के लिए बैठाया और राजा के सन्मुख विषमिश्रित भोजन–पानी रख दिया। रानी पति–भक्ति का दिखावा करने के लिए खड़ी होकर पंखा झलने लगी। ज्यों ही राजा ने भोजन आरंभ किया उसे मालूम हो गया कि भोजन में विष का मिश्रण किया गया है वह चुपचाप उठ कर पौषधशाला में आ गया।

राजा किस प्रकार अपने कर्मों की उदीरणा करता है, यह ध्यान देने की बात है। इसे ध्यान से सुनिये और विचार कीजिए।

पौषधशाला में आकर राजा विचारने लगा–रानी ने मुझे जहर नहीं दिया है। मैंने रानी के साथ जो विषयभोग किया है, यह जहर उसी के प्रताप से आया है।

यद्यपि प्रदेशी राजा चढ़े हुए जहर को उतार सकता था और रानी को दंड भी दे सकता था, लेकिन जिन्हें कर्म की उदीरणा करनी होती है, वे दूसरे की बुराइयों का हिसाब नहीं लगाते।

राजा प्रदेशी सोचने लगा–हे आत्मन्! यह विष तुझे नहीं मिला है; किन्तु तेरे कर्म को मिला है। तूने जो प्रगाढ कर्म बांधे हैं उन्हें नष्ट करने के लिए इस जहर की जरूरत थी। मैंने जीव और शरीर को अलग–अलग समझ लिया है। यह स्पष्ट हो रहा है कि यह जहर आत्मा पर नहीं शरीर पर अपना असर कर रहा है। आत्मा तो वह है कि–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।।2/23
अच्छेद्योऽयमदाह्योंऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।गीता–2/24

अर्थात– आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती। आत्मा छिदने योग्य नहीं है, सड़ने–गलने योग्य नहीं हैं सूखने योग्य नहीं है। वह नित्य है, प्रत्येक शरीर में रहता है, स्थायी है, अचल है और सनातन है।

राजा प्रदेशी सोचता है– हे आत्मा! यह विष तुझे मार नहीं सकता, यह तेरे कर्मों को ही काट रहा है। इसलिए चिन्ता न कर। तू बैठा–बैठा तमाशा देख।

मित्रों! इसका नाम प्रशस्त परिणाम है। इसी से कर्मों की उदीरणा होती है। ऐसा परिणाम उदित होने पर कर्मों की ऐसी दशा होती है जैसे उन्हें जहर ही दे दिया गया हो।

राजा ने फिर सोचा–प्रिये! तू ने खूब किया। मेरे कर्मों को अच्छा जहर दिया। तू ने मेरी बडी सहायता की। ऐसा न करती तो मुझ में उत्तम भावना न आती। पतिव्रता के नियमों का पालन तू ने ही किया है।

राजा ने प्रमार्जन, प्रतिलेखन तथा आलोचना आदि करके अरिहंत–सिद्ध भगवान की साक्षी से संथारा धारण कर लिया।

उधर रानी के हृदय में अनेक संकल्प–विकल्प उठने लगे। उसने सोचा ऐसा न हो कि राजा जीवित रह जाए। अगर ऐसा हुआ तो भारी विपदा में पड़ना पड़ेगा। अतएव इस नाटक की पूर्णाहुति करना ही उचित है। इस प्रकार सोचकर वह राजा के पास दौड़ी आई और प्रेम दिखलाती हुई कहने लगी– मैंने सुना आपको कुछ तकलीफ हो गई है?

राजा ने रानी से कुछ भी नहीं कहा। वह चुपचाप अपने आत्म चिन्तन में निमग्न रहा। संसार का असली स्वरूप उसके सामने नाचने लगा। तब रानी ने राजा का सिर अपनी गोद में ले लिया। और अपने सिर के लम्बे–लम्बे बालों से उसका सिर ढँक लिया । इस प्रकार तसल्ली करके चारों और निगाह फेरकर उसने राजा का गला दबोच दिया।

रानी ने जब अपने पति का राजा का गला दबाया तो वह सोचने लगा रानी मेरा गला नहीं दबा रही है मेरे शेष कर्मों का नाश कर रही है।

राजा प्रदेशी ने इस प्रकार कर्मों की उदीरण की। इस उदीरणा के प्रताप से वह सूर्याभ विमान में देव हुआ। उदीरणा ने उसे नरक का अतिथि होने से बचा लिया और स्वर्ग–सुख का अधिकारी बनाया। राजा प्रदेशी ने अल्पकालीन समाधिभाव से ही अपना बेड़ा पार कर लिया। अगर वह दूसरे का हिसाब करने बैठता तो ऐसा न होता।

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने उदीरणा के प्रताप से न जाने कितने भवों का पाप क्षय करके आत्मा को हल्का बना लिया। इस प्रकार उदीरणा के द्वारा करोड़ों भवों में भोगने योग्य कर्म क्षण भर में ही नष्ट किये जा सकते हैं। दूसरा प्रश्न इसी उदीरणा के संबंध में है।

गौतम स्वामी ने तीसरा प्रश्न किया–

वेइज्जमाणे वेइए?

अर्थात् जो वेदा जा रहा है, वह वेदा गया?

आत्मा को सुख–दुःख होना, यही कर्म वेदना है। जब कर्म की स्थिति पूर्ण हो जाती है तब वे उदय–आवलिका में आते हैं। मान लीजिए किसी ने तीस क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम की स्थिति वाले कर्म बांधे। जब तक यह

स्थिति काल पूर्ण न हो जायेगा, तब तक वह कर्म फल नहीं देंगे–सत्ता में विद्यमान रहेंगे। जब यह काल पूर्ण हो जायगा। तब कर्म उदय–आवलिका में आवेंगे। उदय–आवलिका में आये हुए कर्मों के फल को भोगना निर्जरा कहलाता है, क्योंकि फल भोग के पश्चात कर्म खिर जाते हैं। जब तक कर्मों की निर्जरा नहीं होती तभी तक कर्म भोगने पड़ते हैं। और जब तक कर्म भोगने पड़ते हैं तभी तक वेदना है। जब तक कर्म उदय–आवलिका में नहीं आये थे तब तक वेदना नहीं थी और जब कर्म की निर्जरा हो जाती है तब भी उस कर्म की वेदना नहीं होगी। जब कर्म अपनी प्रकृति के अनुसार सुख या दुःख देंगे, वह वेदना काल कहलाएगा। अर्थात् कर्म के फलस्वरूप दुःख या सुख का अनुभव होना वेदना है।

कर्म–वेदना दो प्रकार से होती है–(1) स्थिति के क्षय से और (2) उदीरणा से। यद्यपि वेदना दोनों तरह से होती तथापि जैसे समय पर कर्ज चुकाने में और समय से पहले ही महाजन को बुलाकर कर्ज चुकाने में अन्तर होता है। ऐसा ही अन्तर स्थिति के क्षय होने पर कर्म भोगने में और उदीरणा करके कर्म भोगने में है। यद्यपि दोनों अवस्थाओं में कर्ज चुकाना पड़ता है, लेकिन बुलाकर चुकाने में जिस प्रसन्नता से कर्ज चुकाया जाता है, उस प्रसन्नता से समय पूरा होने पर तकाजा होने पर नहीं चुकाया जाता। यही बात दोनों प्रकार के कर्म भोग में भी है।

वेदना किस प्रकार भोगी जाती है इत्यादि विचार बहुत लम्बा है और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। अतएव यहाँ उसका विचार नहीं किया जाता ।

यद्यपि वेदना के समय असंख्यात हैं, लेकिन एक ही समय में जो वेदना होने लगी उसे वेदना हुई ऐसा मानना चाहिए।

गौतम स्वामी का चौथा प्रश्न हैः–

पहिज्जमाणे पहीणे?

अर्थात– जो गिरता है–पतित होता है, वह गिरा–पतित हुआ ऐसा मानना चाहिए?

आत्मप्रदेशों के साथ जो कर्म एकमेक हो गये हैं, उन्हें गिराना–हटाना प्रहाण कहलाता है। आत्म प्रदेशों से कर्म को गिराने में भी असंख्य समय लगते हैं। परन्तु पहले समय में जो कर्म गिर रहे हैं, उनके लिए गिरे यह कहा जा सकता है? पहले प्रश्न में जिन युक्तियों का उल्लेख किया गया है। वही

युक्तियाँ प्रत्येक प्रश्न के संबंध में लागू होती हैं। उनका संबंध सब के साथ जोड़ लेना चाहिए।

गौतम स्वामी का पाँचवा प्रश्न है:—

छिज्जमाणे छिन्ने?

अर्थात— जो छेदा जा रहा है वह छिदा ऐसा कहा जा सकता है? छिज्जमाणे का अर्थ है वर्तमान काल में जिसका छेदन किया जा रहा है। कर्म की दीर्घ काल की स्थिति को अल्पकाल की स्थिति में कर लेना छेदन करना कहलाता है। यद्यपि कर्म वही है लेकिन उसकी स्थिति को कम कर लेना छेदन है। उदाहरणार्थ— एक मनुष्य बारह वर्ष के लिए जेल गया। लेकिन राजा के यहाँ पुत्र जन्म होने से या कोई अच्छा काम करने से कैद की मियाद घटा भी दी जाती है। इसी प्रकार कर्म की स्थिति बहुत है, लेकिन अपवर्त्तना नामक करण द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर लेना उसका छेदन करना कहलाता है।

उपकरण, उपाय या साधन को करण कहते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में करण के दो भेद बतलाए गये हैं। पहला भेद है उपकर्म अर्थात वस्तु को ज्यादा बना लेना। दूसरा भेद वस्तु—विनाश है यानि बहुत दिन टिकने वाली चीज को बिगाड़ देना या कम कर देना। तात्पर्य यह है कि जिस करण के द्वारा बहुत दिन टिकने वाली वस्तु बिगाड़ दी जाती है—कम कर दी जाती है, वह वस्तुविनाशकरण है और जिसके द्वारा वस्तु ज्यादा बनाई जाती है वह उपकर्म करण कहलाता है।

करण के प्रकारान्तर से दो भेद हैं—(1) उद्वर्त्तनाकरण और (2) अपवर्त्तनाकरण। इनमें से अपवर्त्तनाकरण के द्वारा कर्म की स्थिति कम की जाती है। इस करण द्वारा स्थिति का कम हो जाना ही कर्म का छेदन करना कहलाता है।

अपवर्त्तना करण द्वारा होने वाली कर्म छेदन की इस क्रिया में भी अंसख्यात समय लगते हैं, मगर जो छीज रहे हैं, उन्हें छीजे कहना चाहिए। अर्थात छिद्यमान को छिन्न कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का छठा प्रश्न है:—

भिज्जमाणे भिण्णे?

अर्थात— जो भेदा जा रहा है वह भेदा गया ऐसा कहना चाहिए?

शुभ कर्म को अशुभ रूप में और अशुभ को शुभ रूप में परिणत करना कर्म का भेदन करना कहलाता है। जैसे कच्चा आम स्वाद में खट्टा होता है

मगर उसे ठीक तरह रखकर पका लिया जाय तो मीठा हो जाता है। आम में यह मिठास ही बाहर से नहीं आती यह आम का 'भिद्यमान' होना है। इसी आम को ज्यादा देर तक दबा रक्खा जाय तो वह सड़ जाता है। जैसे आम में नाना अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार कर्म में भी अनेक अवस्थाएँ उत्पन्न और विनिष्ट होती रहती हैं। मान लीजिए किसी जीव ने शुभ कर्मो का बंध किया, लेकिन बाद में ऐसा कुछ हो गया कि वे शुभ कर्म अशुभ हो गये। इसी प्रकार अशुभ कर्म उपकरण द्वारा शुभ हो गये। ऐसा होना कर्म का भिद्यमान होना कहलाता है। तात्पर्य यह है कि बुरे का अच्छा हो जाना और अच्छे का बुरा हो जाना भेदन करना कहलाता है।

बँधे हुए कर्मों में तीन प्रकार से भेदन होता है रसघात, स्थिति घात, और प्रदेशघात। तीव्र रस को मंद रस, मंद रस को तीव्र रस रूप परिणत करना, अल्पकालीन स्थिति को दीर्घकालीन करना और दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करना बहुत प्रदेशों को अल्प प्रदेश रूप और अल्प प्रदेशों को बहुत प्रदेश रूप में परिणत करना, यह सब कर्मों का भिद्यमान होना है। यह भेदन रस, प्रदेश और स्थिति तीनों में होता है।

कर्म में यह परिवर्तन कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे राजा प्रदेशी का हुआ था और जैसे कुण्डरीक तथा पुण्डरीक का हुआ था। प्रदेशी का वृत्तान्त बतलाया जा चुका है। कुण्डरीक ने हजार वर्ष तक तपस्या करके शुभ कर्म उत्पन्न किये थे। लेकिन तीन दिन के पाप से वे शुभ कर्म भिद्यमान होकर अशुभ हो गये। मगर उसी के भाई पुण्डरीक ने हजार वर्ष तक राज्य करके जो अशुभ कर्म बाँधे थे, वे तीन दिन की तपस्या से शुभ कर्म के रूप में परिणत हो गये। करण की विशेषता, कर्म में इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देती है। यह शुभ या अशुभ विशेषता उत्पन्न होना कर्म का भिद्यमान होना कहा जाता है। कर्म भेदन की इस क्रिया में असंख्यात समय लगते हैं मगर प्रथम समय में जो भिद्यमान हो रहा है, उसे भेदा गया कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का सातवाँ प्रश्न हैः—

डज्झमाणे दड्ढे?

अर्थात्— जो जलता है वह जला ऐसा कहना चाहिए?

कर्म रूपी काष्ठ को ध्यान रूपी अग्नि से जलाकर उसका रूपान्तर कर देना अकर्म रूप परिणत कर देना, दग्ध कर देना कहलाता है। जैसे लकड़ी अग्नि से जलकर राख रूपमें परिणत हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा

के साथ जो कर्म परमाणु लगे हुए हैं और सुख–दुख देने वाले कर्म कहलाते हैं उन्हें ध्यान रूपी प्रज्वलित अग्नि से फिर पुद्गल रूप बना देना, अर्थात उन्हें अकर्म के रूप में पहुँचा देना दग्ध करना कहा जाता है।

ध्यान की अग्नि से भस्म किये हुए कर्म फिर भोगने नहीं पड़ते। ध्यान – अग्नि से भस्म हुए कर्म कर्म ही नहीं रहते अकर्म रूप पुद्गल बन जाते हैं।

ध्यान रूपी अग्नि से कर्म को अकर्म रूप परिणत करने में, दग्ध करने में, अन्त मुंहूर्त्त काल लगता है इतने ही समय में ध्यान के परम प्रभाव से कर्मभस्म हो जाते हैं मगर इस अन्त मुहूर्त्तकाल में भी असंख्यात समय होते हैं इन असंख्यात समयों में से पहले समय में जब कर्म दग्ध होने लगते हैं तो उन्हें दग्ध हुए कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का आठवाँ प्रश्न हैः–

मिज्जमाणे मडे?

अर्थात्– जो मर रहा है वह मरा ऐसा कहना चाहिए?

पूर्व बद्ध आयु कर्म से रहित होना मरना कहलाता है। मरने का अर्थ आत्मा का नाश हो जाना नहीं है। आत्मा आयु कर्म के साथ शरीर में रहकर चेष्टा करता है। जब आत्मा आयु कर्म से रहित हो जाता है, आयु कर्म के साथ नहीं रहता है तब चेष्टा बन्द हो जाती है और आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आयु के पुद्गलों का नाश हो जाना मरण है। यद्यपि आयु के पुद्गलों का नाश अंसख्यात समय में होता है, फिर भी उनमें असंख्यात समयों में से प्रथम समय में भी मरा कहा जा सकता है। शास्त्र का कथन है कि एक समय के जन्मे हुए बालक का भी आवीचि मरण हो रहा है। आवीचि मरण के द्वारा प्रत्येक प्राणी प्रति समय मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार यद्यपि मरने में अंसख्यात समय लगते हैं तथापि जो मरने लगा है, उसे मरा कहना चाहिए।

कल्पना कीजिए, गर्म पानी का हंडा चूल्हे पर से उतार कर नीचे रक्खा है। वह गर्म पानी प्रतिक्षण ठंडा होता है लेकिन छूने वाले को प्रथम क्षण में नहीं मालूम होता कि यह ठंडा हो रहा है मगर प्रथम क्षण में उसका कुछ ठंडा होना निश्चित है। अगर प्रथम क्षण में वह जरा भी ठंडा न हो तो फिर कभी ठंडा न होगा ज्यों का त्यों गर्म बना रहेगा। अतएव यह मानना चाहिए कि पानी एक–एक क्षण में ठंडा हो रहा है। भले ही प्रतिक्षण का ठंडा होना किसी को प्रत्यक्ष ज्ञात न हो मगर उसके ठंडे होने में शंका को अवकाश नहीं है।

ठीक यही बात मृत्यु के संबंध में है। जीव ने जितने आयुकर्म के दलिक बाँधे हैं, उनमें से थोडे–थोडे प्रतिक्षण उदय में आकर क्षीण हो जाते हैं और आयुकर्म के दलिको का क्षीण होना ही मृत्यु कहलाता है। अगर यह कहा गया जिस समय समस्त आयुकर्म के दलिक क्षीण हो जाते हैं उसी समय मृत्यु होती है, तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि समस्त आयुकर्म के दलिक किसी भी समय क्षीण नहीं होते। अंतिम समय में वे ही आयु के दलिक क्षीण होते हैं जो पहले क्षीण होने से बच रहते हैं–समस्त नहीं। मतलब यह है कि अंतिम समय में भी जब समस्त दलिक क्षीण नहीं होते शेष रहे हुए कुछ दलिक ही क्षीण होते हैं और पहले भी कुछ दलिक क्षीण हुए हैं तो क्या कारण है कि अंतिम समय में मृत्यु होना माना जाय और पहले (जीवित अवस्था में) न माना जाय? आयु कर्म का क्षीण होना ही मृत्यु है। अतएव प्रतिक्षण मृत्यु मानना ही युक्ति संगत है। अगर प्रति क्षण मरना न माना जायगा तो जीव कभी नहीं मरेगा।

गौतम स्वामी का नवमाँ प्रश्न है:–

निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे?

अर्थात– जो निर्जरता है वह निर्जीर्ण हुआ, ऐसा माना जाय?

साधारणतया फल देने के पश्चात् कर्मों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है किन्तु यहाँ निर्जरा का अर्थ मोक्ष प्राप्ति रूप है। कर्म फिर कभी कर्म रूप से उत्पन्न न हो उसे निर्जरमान कहते हैं। मोक्ष प्राप्त करने वाले जो महापुरुष कर्म की निर्जरा करते हैं उनके निर्जीर्ण कर्म फिर कभी कर्म रूप से उन्हें उत्पन्न नहीं होते। उन्हें फिर कभी कर्मों को भोगना नहीं पड़ता। इस प्रकार कर्मों का आत्यन्तिक क्षीण होना यहाँ निर्जरा कही गयी है।

निर्जरा भी असंख्यात समयों में होती है। मगर जब कर्म निर्जीर्ण होने लगा, तभी पहले समय में ही निर्जीर्ण हुआ, ऐसा कहना चाहिए।

यहाँ पर भी पहले के समान ही शंका की जा सकती है, और उसका उत्तर भी पहले के ही समान दिया जा सकता है। पहले वस्त्र का दृष्टान्त देकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि असंख्यात समय में होने वाली क्रिया को प्रथम समय में भी हुई ऐसा कहा जा सकता है।

भगवान के उत्तर

श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर स्वामी के समक्ष ये नौ प्रश्न किये। इन प्रश्नों के उत्तर में भगवान ने फरमाया–

मूल–हंता गोयमा! चलमाणे चलिए, जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे।

संस्कृत छाया– हन्त गोतम! चलन चलितः यावन्निर्जीर्यमाणे निर्जीर्णः।

–हाँ गौतम! जो चलता है वह चला से लेकर जो निर्जर रहा है वह निर्जरा; ऐसा कहना चाहिए।

व्याख्या–भगवान महावीर के सामने गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किये हैं। इनके संबंध में एक तर्क किया जा सकता है। वह यह है–गौतम स्वामी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे द्वादशांगी के प्रणेता हैं। भगवती सूत्र भी इसी द्वादशांगी के अन्तर्गत है और इसकी आदि में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं। यह कैसे संभव है? इसके अतिरिक्त प्रत्येक समझने और समझाने योग्य विषय को गौतम स्वामी सम्यक् प्रकार से समझते हैं। उन्हें सर्वाक्षर सन्निपाती कहा गया है। ऐसी अवस्था में उन्हें तो कोई संशय रहना ही नहीं चाहिए। फिर उन्होंने भगवान् से उक्त प्रश्न क्यों किये हैं? शास्त्रानुसार गौतम स्वामी केवली नहीं तथापि केवली सरीखे हैं और सब शास्त्रों के ज्ञाता हैं। शास्त्र में जिनकी इतनी महिमा बतलाई गई है वे इस प्रकार के प्रश्न क्यों करते हैं?

यद्यपि यह प्रश्न श्रोताओं के मस्तिष्क में उत्पन्न होना चाहिए था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। अतएव वक्ता आप ही प्रश्न खड़ा करके उसका समाधन करता है।

इस प्रश्न का सामाधान यह है कि शास्त्र में गौतम स्वामी के जितने गुण वर्णन किये गये हैं, उनमें वे सभी गुण विद्यमान हैं। वे सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता भी हैं और संशयातीत भी हैं। यह सब होने पर भी गौतम स्वामी

छद्मस्थ हैं। छद्मस्थ होने के कारण ज्ञान में कुछ कमी रहती है। जिसके ज्ञान में कुछ कमी न हो वह छद्मस्थ ही कैसा? अतएव छद्मत्थ के लिए कुछ भी अनाभोग न रहे यह संभावना नहीं की जा सकती। ज्ञान को ढँकने वाला ज्ञानावरण कर्म छद्मस्थता के कारण विद्यमान रहता है। अगर छद्मस्थ में अज्ञान की जरा भी मात्रा नहीं है तो फिर ज्ञानावरण ने किसे ढँक रक्खा है? ज्ञानावरण कर्म क्या व्यर्थ हैं? नहीं। जब ज्ञानावरण कर्म हैं तो किन्हीं अशों में अज्ञान भी अवश्य है। ऐसी अवस्था में गौतम स्वामी ने अगर भगवान महावीर से प्रश्न किये तो क्या आश्चर्य की बात है?

एक बात और है। यह नियम नहीं कि अनजान ही प्रश्न करे, जानकार न करे। जो जानता है वह भी प्रश्न कर सकता है। कदाचित् गौतम स्वामी इन प्रश्नों का उत्तर जानते भी हों तब भी प्रश्न करना संभव है। आप पूछ सकते हैं कि जानी हुई बात पूछने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर होगा – उस बात पर अधिक प्रकाश डलवाने के लिए अपना बोध बढ़ाने के लिए। अथवा जिन लोगों को प्रश्न पूछते संकोच होता है या पूछना नहीं आता या जिन्हें इस विषय में विपरीत धारणा हो रही है, उनके लाभ के लिए, उन्हें यथार्थ बोध कराने के लिए, गौतम स्वामी ने ये प्रश्न पूछे हैं। भले ही गौतम स्वामी उन्हें स्वयं समझाने में समर्थ होगें, तथापि भगवान के मुखारविन्द से निकलने वाला प्रत्येक शब्द विशेष प्रभावशाली और प्रामाणिक होता है, इस विचार से उन्होंने भगवान् के द्वारा ही इन प्रश्नों का उत्तर प्रकट करवाया है।

केशी स्वामी को स्वयं कोई संदेह नहीं था लेकिन शिष्यों का सन्देह हरण करने के लिए गौतम स्वामी से उन्होंने प्रश्न किये थे। उन प्रश्नों का रूप भी ऐसा है, मानो उन्हें स्वयं ही संदेह हो और स्वयं ही प्रश्न करते हों।

साहू गोयम पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।।
अण्णोवि संसओ, मज्झं तं मे कहसु गोयमा।।उत्ता.23/28

अर्थात्– हे गौतम! आपने मेरा यह संशय तो दूर कर दिया लेकिन एक और संशय कहता हूँ।

न्यायालय में, न्यायाधीश के समक्ष वकील यह नहीं कहता 'कि उसका यह दावा है' मगर वह कहता है 'मेरा यह दावा है।' गौतम स्वामी संसार के अज्ञ जीवों के वकील बने हैं। वे हम लोगों की ओर से भगवान के समक्ष वकालत करते हैं। हम लोगों पर गौतम स्वामी का कैसा महान् उपकार है! अगर उन्होंने यह वकालत न की होती तो आज हम लोगों को इन बातों का ज्ञान किस प्रकार होता? आज गुणग्राहक कम होने से चाहे इन वचनों

का उतना महत्व न समझ पाये, लेकिन सच्चा तत्व–जिज्ञासु इन वचनों को अमृत समझता है और इनका पान करके अपने आपको कृतार्थ समझता है। एक जगह किसी कवि ने कहा है–

ते न यहां नागर बड़े, जिन्ह नयननि तव आब।
फूल्यो अनफूल्यो रह्यो, गँवई गाँव गुलाब ।।

आज श्रेणिक, कामदेव और आनन्द जैसे जिज्ञासु श्रोता नहीं रहे इसी कारण इन वचनों का सम्मान कम है। यह लोग साधु तो क्या श्रावक से भी इन वचनों को सुनकर आनन्द की हिलोरों में उतराने लगते थे। यह लोग गुलाब के पानी की चाह करने वाले नागरिकों के समान थे। जो गँवार हैं उन्हें गुलाब की कद्र का क्या पता? वे उसे कटीला वृक्ष समझकर काट फैंकेंगे।

तात्पर्य यह है कि गौतम स्वामी जानते हुए भी अनजानों की वकालत करने के लिए अपने ज्ञान में विशदता लाने के लिए, शिष्यों को ज्ञान देने के लिए और अपने वचन में प्रतीति उत्पन्न करने के लिए यह सब प्रश्न कर सकते हैं।

अपने वचन में प्रतीति उत्पन्न करने का अर्थ यह है कि मान लीजिए किसी महात्मा ने किसी जिज्ञासु को किसी प्रश्न का उत्तर दिया। लेकिन उस जिज्ञासु को यह संदेह उत्पन्न हुआ कि इस विषय में भगवान न मालूम क्या कहते? उसने जाकर भगवान से वही प्रश्न पूछा। भगवान ने वही उत्तर दिया। श्रोता को उन महात्मा के वचनों पर प्रतीति हुई। इस प्रकार अपने वचनों की दूसरों को प्रतीति कराने के लिए भी स्वयं प्रश्न किया जा सकता है।

इसके सिवाय सूत्र–रचना का क्रम गुरु–शिष्य के संवाद में होता है। अगर शिष्य नहीं होता तो गुरु स्वयं शिष्य बनता है इस तरह सुधर्मा स्वामी इस प्रणाली के अनुसार भी गौतम स्वामी और भगवान महावीर से प्रश्नोत्तर करा सकते हैं। यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि गौतम स्वामी ने उक्त कारणों में से किस कारण से प्रेरित होकर प्रश्न किये थे, तथापि यह निश्चित है इन प्रश्नों के संबंध में उक्त तर्क को स्थान नहीं है। तर्क निर्मूल है।

भगवान ने उत्तर में जो 'हन्ता' शब्द कहा है, उसका अर्थ आमंत्रण या संबोधन करना है और 'हाँ' भी है।

प्रश्न–'हंता गोयमा!' इतना कहनेसे ही गौतम स्वामी के प्रश्नों का उत्तर हो जाता है। फिर भगवान ने 'चलमाणे चलिए, जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे' इतने शब्द क्यों कहे हैं?

उत्तर– यद्यपि 'हंता गोयमा' अर्थात हाँ गौतम ऐसा ही है, इतना कहने से काम चल जाता तथापि अपनी आज्ञा दोहराने के लिए भगवान ने ऐसा फरमाया है। प्रश्न के शब्दों को दोहरा देने से वक्तव्य स्पष्ट हो जाता है। शिष्यों के अनुग्रह के लिए इतनी स्पष्टता आवश्यक है।

प्रश्न–'जाव' शब्द कहने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर–पाठ का संकोच करने के लिए 'जाव' शब्द कहा गया है। 'चलमाणे चलिए' कहकर यह प्रश्न का प्रथम पद 'णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे' यह अंतिम पद कहा गया है और 'जाव' शब्द से बीच के सब पदों का ग्रहण हो जाता है।

इन पदों की व्याख्या समाप्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि ये नौ पद कर्म के विषय में कहे गये हैं। कर्मों के ही संबंध में यहां विचार किया गया है। यहां मुख्य प्रश्न यह था कि वर्त्तमान के लिए भूतकाल का निर्देश करना क्या उचित है? गौतम स्वामी ने इसी जिज्ञासा से ये प्रश्न किये थे। भगवान ने उत्तर में कहा–हाँ गौतम ! यह ठीक है।

इस विषय में कुछ व्यावहारिक विवेचन की आवश्यकता है। संक्षेप में कुछ प्रकाश डाला जाता है–

यहां मोक्ष प्राप्ति के नौ पद कहे हैं मगर देखना चाहिए कि मोक्ष क्या चीज है? मोक्ष को जानने के लिए बंधन को जानना आवश्यक है। मोक्ष का अर्थ है–बंधन से छूटना। जब तक बंधन को भली–भाँति जान लिया जाय, तब तक मोक्ष को भली भाँति नहीं जाना जा सकता।

लोग काम करने से पहले फल का विचार करते हैं। कार्य चाहे पूरा न हो मगर फल न मिला तो उनकी निराशा का पार नहीं रहता। किन्तु ज्ञानीजनों का कथन यह है कि फल न दिखने से घबराओ मत। कार्य करना ही अपना कर्त्तव्य समझो, फल की कामना न करो। जो कर्तव्य आरंभ किया है, उसी में जुटे रहो' फल आप ही दिखाई देने लगेगा। 'चलमाणे चलिए' का सिद्धान्त यही सिखलाता है कि मोक्ष गया नहीं है लेकिन जाने लगा कि गया ही समझो। इसलिए असंख्यात भवों में जिसे मोक्ष को जाना है वह मोक्ष आज ही हुआ क्यों न कहा जाय?

ये नौ प्रश्न विश्वासमय बनाते हैं। जिस मनुष्य के मन में निराशा छाई रहती है वह कोई भी काम दृढ़ता पूर्वक नहीं कर सकता। उसका तन काम करता है और मन विद्रोह करता है। तन और मन के संघर्ष में उसकी शक्तियां क्षीण हो जाती हैं और उसे सफलता भाग्य से ही मिल सकती है।

इस निराशा को रोकने का सर्वश्रेष्ठ साधन यही है कि फल की आशा ही न की जाय। 'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी' आशा ही न होगी तो निराशा कहाँ से आएगी? आशा ही निराशा की जननी है। सफलता के लिए आशा त्याग की अनिवार्य आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से जैन शास्त्रों में निदान शल्य को त्याज्य कहा है और इसीलिए गीता में भी निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य? त्रायते महतो भयात्।

अर्थात–स्वल्प सा धर्म होने पर भी अपना कल्याण हुआ समझ, घबरा मत उसी से तुझे निर्भयता प्राप्त होगी।

काल के हिस्से के हिस्से करने पर अन्त में 'समय' हाथ आता है। लकड़ी के दो, चार आठ आदि टुकडे करते करते आखिर कभी न कभी यह होगा कि अब और टुकडे नहीं हो सकते। जिस टुकडे के फिर टुकडे नहीं हो सकते वह अंतिम टुकडा परमाणु कहलाता है। इसी प्रकार काल के जिस अंश के विभाग नहीं हो सकते वह अंतिम विभाग 'समय' कहलाता है।

प्रश्न हो सकता है कि स्वल्प धर्म होने पर ही कल्याण समझ लेने से बस हो गया इस तरह की निराशा क्यों नहीं उत्पन्न होगी? इसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति स्वल्प धर्म का भी महान फल देखता है वह आगे के धर्म को कैसे भूलेगा? कलकत्ता की ओर एक डग भरने वाले के संबंध में भी कहा जाता है कि वह कलकत्ता गया कहते हैं मगर ऐसा कहने से वह जाने वाला अगर कलकत्ता जाने से रुक जाय तो मूर्ख गिना जायगा। जब कलकत्ता की ओर एक पैर भरने से ही कलकत्ता गया कहते हैं तो अधिक पैर भरने से क्या वह कलकत्ता से दूर होगा? थोड़ा सा उद्योग सफल होता देखकर हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। सोचना चाहिए कि यह थोड़ी सी क्रिया भी निष्फल नहीं है तो अधिक क्रिया निष्फल कैसे हो सकती है? तब आरंभ किये हुए कार्य को आगे बढ़ाने से क्यों रोका जाय? चाहे धर्म हो या राजनीति, सर्वत्र यह बात लागू होती है। ऐसा विचार करने वाला कभी निराश नहीं होगा, बल्कि उसमें नई स्फूर्ति और नया उत्साह उत्पन्न होगा और वह आगे बढ़ता हुआ अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करेगा।

कई लोग कहते हैं–'खादी पहनने से स्वराज्य नहीं मिलेगा, किन्तु तलवार से मिलेगा।' कुछ का कहना है–एक आदमी के विलायती वस्त्र और शराब छोड़ देने से क्या कल्याण होगा?

इस प्रकार की निराशा बहुत से लोगों में व्यापी हुई है। तब शास्त्र कहते हैं–'चलमाणे चलिए।' शास्त्र का यह विधान मनुष्य के हृदय को आश्वासन देता है। और बतलाता है कि एक समय मात्र की क्रिया भी व्यर्थ नहीं जाती। जब असंख्य समयों में होने वाला कार्य एक समय में भी हुआ माना जाता है तो कोई कारण नहीं है कि असंख्य मनुष्यों से होने वाला कार्य एक मनुष्य से हुआ न माना जाय। शास्त्र कहता है– तू अपनी तरफ से जो करता है वह किये जा। दूसरों का विचार मत कर। अगर तुझे इतना भी विश्वास न होगा तो आगे सामायिक से मोक्ष पर विश्वास कैसे होगा? कदाचित यह कहा जाय कि सामायिक और मोक्ष में कार्य कारण संबंध है, तो क्या खादी और स्वराज में कोई संबंध नहीं है? मनचाहा खाना–पीना स्वतन्त्रता नहीं है? स्वतन्त्रता कुछ और ही चीज है।

एक तो आपके घर में घर की खादी है, जिसे आपकी माता ने कात बुनकर तैयार की है । एक दूसरा आदमी आपसे कहता है–अगर मेरे द्वार पर आकर हाथ जोड़ कर माँगो तो मैं कीमती जरी का जामा दूँगा। इस प्रकार एक ओर मां खादी देती है और दूसरी ओर दूसरा आदमी गुलाम बनाकर जरी का वस्त्र देता है। इन दोनों में से स्वतंत्रता किसमें है? 'खादी–में।'

यद्यपि यह बात समझना कठिन नहीं है फिर भी इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। लोग समझते हैं कि गुलाम चाहे हों मगर जरी का जामा पहनने से लोगों में आदर होगा और अच्छा लगेगा। खादी मोटी है, इसलिए बुरी है। इस प्रकार की मिथ्या धारणाएँ लोगों को अपना शिकार बनाए हुए हैं।

तुम्हारी माँ ने जो कपड़ा कष्ट उठाकर बुना है, उसे मोटा कहकर न पहनना ओर गुलाम बनकर जरी का जामा पहनना कोई अच्छी बात नहीं है। इससे तुम्हारी कद्र न होगी। गुलाम बनाकर वस्त्र देने वाले जब अपना हाथ खींच लेंगे तब तुम पर कैसे बीतेगी? इसके अतिरिक्त विदेशी कपड़ा मुफ्त में तो मिलता नहीं फिर गुलाम बनने से क्या लाभ है?

याद रक्खो, हिन्दुस्तान तुम्हारी मातृ–भूमि है। इसका तुम्हारे ऊपर असीम उपकार है। किसी ने ठीक कहा है–

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

जो अपनी मातृभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर नहीं मानता उसे उस भूमि पर पैर रखने का क्या अधिकार है?

शास्त्र कहता है–धर्म की आराधना करने वालों पर भी पाँच का उपकार है। उन पाँच में प्रथम षट्काय का उपकार है। षटकाय में भी

सर्वप्रथम पृथ्वी का उपकार हैं जो पृथ्वी का उपकार नहीं मानता वह कृतघ्न है।

सुना जाता है कि अमेरिका के थौर नामक डाक्टर के शरीर पर साँप रेंगते रहते हैं, लेकिन उसे नहीं काटते। मधु–मक्खियाँ उसके शरीर पर बैठती रहती हैं। लेकिन उसे नहीं काटतीं। उसने भारतीय साहित्य का अध्ययन करके योग द्वारा साधना की है। एक बार वह अपने शिष्य के साथ जंगल में गया। शिष्य ने डाक्टर से पूछा–सब भूमियों में कौन सी भूमि उत्तम है? डाक्टर थौर ने हँसकर उत्तर दिया–'जिस भूमि पर तू दो पैर रखकर खड़ा है, उसे स्वर्ग की भूमि से भी अच्छी न माने तो तुझे उस पर पैर रखने का क्या अधिकार है?' शिष्य ने कहा–क्या यह भूमि स्वर्ग की भूमि से भी अधिक महिमा वाली है? सुनते हैं स्वर्ग की भूमि रत्नमयी है, फिर इस भूमि को स्वर्ग भूमि से बड़ी क्यों मानना चाहिए? डाक्टर ने उत्तर दिया–स्वर्ग की भूमि चाहे जैसी हो तेरे किस काम की? वहाँ के कल्पवृक्ष तेरे किस काम के? स्वर्ग की भूमि को बड़ा मानना तेरा जिस भूमि ने भार वहन किया और कर रही है उसका अपमान करना है। इस भूमि का अपमान करना घोर कृतघ्नता है। अपनी मातृभूमि का अपमान करने वाले के समान कोई नीच नहीं है।

सच्चे हृदय से सेवा करने वाली घर की स्त्री का अनादर करके वेश्या की प्रशंसा करने वाला जैसे नीच गिना जाता है, वैसे ही वह व्यक्ति भी नीच है जो भारत में रहकर अमेरिका फ्रांस आदि की प्रशंसा करता है और भारतवर्ष की निन्दा करता है। अमेरिका और फ्रांस की प्रशंसा के गीत गाने वाले बिना पास पोर्ट लिए वहाँ जाकर देखें और वहाँ की नागरिकता के अधिकार प्राप्त करें तो सही! जिस देश में पैदा हुए हैं, उसकी निन्दा करके, दूसरे देश की प्रशंसा करने वाले गिरे हुए हैं, भोग का कीड़ा है उससे किसी प्रकार का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि भोगों की लालसा से प्रेरित होकर आत्मिक कार्यों को छोड़ देना, यही गुलामी है, यही बंधन हैं और इसीसे विविध प्रकार के दुःखों का उद्गम होता है।

भोगमय कपड़े छोडकर त्याग को अपनाने वाले के लिए मुक्ति भी समीप है। भोगमय वस्त्रों का त्याग आनन्द श्रावक ने भी तो किया था। उसने कपास के बने एक युगलपट क्षोमवस्त्र का आगार रखकर शेष समस्त वस्त्रों का त्याग कर दिया था। क्या इस त्याग को मोक्ष का मार्ग न मानोगे? इस प्रकार पापमय वस्त्रों का त्याग कर हम अपने आत्मा का भी कल्याण क्यों

न करें? इन पापमय भोगी कपड़ों का त्याग करना सामायिक का अंग क्यों न कहा जाय? बारह व्रत सामायिक के अंग हैं, अतएव इन वस्त्रों का त्याग भी सामायिक है। त्याग द्वारा अपने भाइयों पर अनुकम्पा करना धर्म है। त्याग को जीवन में जितना स्थान मिलेगा, जीवन उतना ही कल्याणमय बनेगा।

एकार्थ–अनेकार्थ

श्री गौतम स्वामी के प्रथम प्रश्न के अन्तर्गत नौ प्रश्नों का उत्तर भगवान महावीर ने दिया। तत्पश्चात गौतम स्वामी भगवान के प्रति पुनः प्रश्न करते हैं।

मूल–एएणं भंते! नव पया किं एगट्ठा? णाणा घोसा? णाणा वंजणा? उदाहु णाणाट्ठां? णाणा घोसा? णाणा वंजणा?

गौयमा! चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए, वेइज्जमाणे वेइए, पहिज्जमाणं पहीणे, एएणं चत्तारि पया एगट्ठा णाणा घोसा, णाणा वंजणा उप्पण्णपक्खस्स। छिज्जमाणे छिण्णे, भिज्जमाणे भिण्णे, दड्ढमाणे दड्ढेमिज्जमाणे मडे, निज्जरिज्जमाणे, निज्जिण्णे एए णं पंच पया णाणट्ठा, णाणा घोसा णाणा वंजणा विगयपक्खस्स।

–एतानि भगवन्! नव पदानि किमेकार्थानि नानाघोषाणि, नानाव्यञ्जनानि; उताहो नानार्थानि, नानाघोषाणि, नानाव्यञ्जनानि;?

गौतम! चलत् चलितम् उदीर्यमाणमुदीरितम्, वेद्यमानं वेदितम्, प्रहीयमाणं प्रहीणम् एतानि चत्वारि पदानि एकार्थानि नाना घोषाणि, नानाव्यञ्जनानि, उत्पन्नपक्षस्य। छिद्यमानं छिन्नम्, भिद्यमानं भिन्नम्, दह्यमानं दग्धम्, म्रियमाणं मृतम्, निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णम्, एतानि पंचपदानि नानार्थानि, नाना घोषाणि, नानाव्यञ्जनानि, विगतपक्षस्य।

मूलार्थ–भगवन्! यह नौ पद क्या एक अर्थ वाले नाना घोष वाले और नाना व्यंजन वाले हैं? अथवा नाना अर्थ वाले, नाना घोष वाले और नाना व्यंजन वाले हैं?

हे गौतम! जो चल रहा है वह चला, जो उदीरा जा रहा है वह उदीरा गया, जो वेदा जा रहा है वह वेदा गया, जो नष्ट हो रहा है वह नष्ट हुआ, यह चार पद उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से एक अर्थ वाले नाना घोष वाले और

नाना व्यंजनों वाले हैं। तथा जो छिद रहा है वह छिदा, जो भिद रहा है वह भिदा, जो जल रहा है वह जला, जो मर रहा है वह मरा, जो खिर रहा है वह खिरा, यह पाँच पद विगत पक्ष की अपेक्षा से नाना अर्थ वाले, नाना घोष वाले और नाना व्यंजनों वाले हैं।

व्याख्यान– गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि इन नौ पदों के घोष और व्यंजन तो निराले–निराले हैं ही परन्तु अर्थ भी इनका निराला निराला है या एक ही? अर्थात यह पद एकार्थक हैं या नानार्थक हैं?

एकार्थक पद दो प्रकार के होते हैं–प्रथम तो एक ही विषय की बात को एकार्थक कहते हैं, दूसरे जिन पदों का मतलब एक हो उन्हे भी एकार्थक कहते हैं।

घोष तीन प्रकार के होते हैं–(1) उदात्त– जो उच्च स्वर से बोला जाय (2) अनुदात्त– जो नीचे स्वर से बोला जाय और (3) स्वरित्त–जो न विशेष उच्च स्वर से, न विशेष नीचे स्वर से बल्कि मध्यम स्वर से बोला जाय। इस विषय का विशेष ज्ञान स्वर–विज्ञान को समझने से हो सकता है।

शास्त्रकार ने एकार्थक और नानार्थक की एक चौभंगी बनाई है–

(1) समानार्थक समान व्यंजन

(2) समानार्थक विविध व्यंजन

(3) भिन्नार्थक समान व्यंजन

(4) भिन्नार्थक भिन्न व्यंजन

कई पद समान अर्थ वाले और समान व्यंजन एवं समान घोष वाले होते हैं। जैसे क्षीर–क्षीर। इन दोनों पदों का अर्थ एक है, घोष भी एक है और व्यंजन भी एक ही है। अतएव यह पद समानार्थक समान व्यंजन वाले पहले भंग के अन्तर्गत हैं।

कई एक पद समान अर्थ वाले और भिन्न व्यंजन वाले होते हैं। जैसे क्षीर, पय। यहां इन दोनों पदों का अर्थ तो समान है–दूध, लेकिन इनके व्यंजन अलग अलग हैं और घोष भी अलग हैं।

कई पद ऐसे होते हैं कि उनका अर्थ तो भिन्न भिन्न होता है, मगर व्यंजन समान होते हैं। जैसे–अर्कक्षीर (आक का दूध), गौ क्षीर(गाय का दूध), महिषीक्षीर (भैंस का दूध) आदि। इन पदों में क्षीर शब्द समान व्यंजन वाला है, लेकिन उसका अर्थ भिन्न–भिन्न है। अर्थात अक्षरों की समानता होने पर भी अर्थ में विलक्षणता है।

अनेक पद ऐसे होते हैं जिनके व्यंजन भी भिन्न–भिन्न होते हैं। और अर्थ भी भिन्न–भिन्न होता है। जैसे –घट, पट, लकुट आदि। यहाँ न व्यंजनों की समानता है न अर्थ की समानता है। यह पद चौथे भंग के अन्तर्गत हैं।

गौतम स्वामी ने प्रश्न करते हुए यहाँ चौभंगी के दूसरे और चौथे भंग को ग्रहण किया है। अर्थात् उन्होंने इन दो भंगों को लेकर ही प्रश्न किया है। प्रश्न किया जा सकता है कि गौतम स्वामी ने उक्त चौभंगी के प्रथम और तृतीय भंग को क्यों छोड़ दिया? उनके विषय में प्रश्न क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि पहले और तीसरे भंग का इन नौ पदों में समावेश नहीं होता,क्योंकि नघ पदों के व्यजंन भिन्न–भिन्न हैं यह स्पष्ट रूप से प्रकट है। इसमें प्रश्न को अवकाश ही नहीं है। इसी कारण गौतम स्वामी ने प्रथम और तृतीय भंग को छोड़ कर दूसरे और चौथे भंग को ग्रहण करके ही प्रश्न किया है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने फरमाया है कि–चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए, वेइज्जमाणे वेइए और पहिज्जमाणे पहीणे इन चार पदों के व्यंजन और घोष निराले–निराले हैं लेकिन अर्थ एक ही है। और आगे के पाँच पद भिन्न घोषों वाले, भिन्न व्यंजनों वाले और भिन्न अर्थ वाले हैं।

यहां यह आशंका होती है कि चलमाणे चलिए इत्यादि जिन चार पदों को एक अर्थ वाला बतलाया गया है, उनका अर्थ भिन्न भिन्न प्रतीत होता है और पहले भिन्न–भिन्न अर्थ किया भी गया है। ऐसी स्थिति में भगवान ने किस अपेक्षा में चारों पदों का अर्थ एक फरमाया है?

इस संबंध में शास्त्रकार का कथन है कि जो भी बात कही जाती है वह किसी न किसी अपेक्षा से ही कही जाती है। यहां चारों पदों को उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से एकार्थक बतलाया गया है।

वादी और प्रतिवादी के द्वारा बोला जाने वाला आदि वचन पक्ष कहलाता है। यहां इन चारों पदों को उत्पाद नामक पक्ष पर्याय को ग्रहण करके एक अर्थ वाला कहा गया है। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक चार पदों का अर्थ उत्पाद पर्याय की अपेक्षा एक ही अर्थ है और यह चारों एक ही काल में होने वाले हैं एक ही अन्तर्मूहुर्त में चलन–क्रिया, उदीरणा–क्रिया, वेदना–क्रिया और प्रहीण क्रिया भी हो जाती है। इन चारों की स्थिति एक ही अन्तर्मुहूर्त हैं। इस प्रकार तुल्य काल की अपेक्षा से भी यह चार पद एक अर्थ वाले कहलाते हैं।

अथवा—यह चारों पद एक ही कार्य को उत्पन्न करने के कारण एकार्थक कहलाते हैं। उदाहरणार्थ—पत्र लिखने में कागज, कलम, दवात, और लिखने वाला यह चार हुए मगर यह सब मिलकर एक ही कार्य के साधक होते हैं अतएव एकार्थक हैं।

यह चारों मिल कर एक कार्य कौन—सा करते हैं, जिस की अपेक्षा से इन्हें एकार्थक कहा गया है? इस प्रश्न का उत्तर है —केवलज्ञान का प्रकट करना। यह चारों मिलकर केवलज्ञान को प्रकट करने रूप एक ही कार्य के कर्त्ता होने से एक ही अर्थ वाले कहलाते हैं।

इन नौ पदों में कर्म का विचार किया गया है और कर्म का नाश होने पर दो फल उत्पन्न होते हैं—पहला केवल ज्ञान और दूसरा मोक्षप्राप्ति। पहले के चार पदों ने मिलकर केवलज्ञान उत्पन्न किया। इस पक्ष की अपेक्षा चारों पदों का अर्थ एक बतलाया गया है।

आत्मा के लिए केवलज्ञान की प्राप्ति अपूर्व है। आत्मा को पहले कभी केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि केवलज्ञान एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् कभी मिटता नहीं है। जो वस्तु आकर फिर जाती है वह प्रधान नहीं है। प्रधान तो वही है जो आकर फिर कभी न जावे। केवलज्ञान ऐसी ही वस्तु है, अतएव प्रधान है। प्रधान पुरुष इसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

शंका—इन चार पदों से केवलज्ञान की ही उत्पत्ति क्यों मानी गई है? दूसरे ज्ञानों की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी गई?

समाधान—सब ज्ञानों में केवलज्ञान ही उत्कृष्ट है। वही क्षायिक ज्ञान है। कर्मों का क्षय होने से ही वह उत्पन्न होता है। इन चारों पदों से अन्य ज्ञानों की उत्पत्ति मानी जाय तो अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। अतः इन पदों से केवलज्ञान की उत्पत्ति मानना ही समुचित है। और इसी अपेक्षा से इन चार पदों को समान अर्थ वाला बतलाया गया है।

शंका—केवलज्ञान की उत्पत्ति में यह चार पद क्या काम करते हैं? दो या तीन पदों से ही केवलज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता? केवलज्ञान के लिए इन चारों की आवश्यकता क्यों है?

समाधान—पहला पद 'चलमाणे चलिए' है। वह केवलज्ञान की प्राप्ति में काम करता है कि इससे कर्म उदय में आने के लिए चलित होते हैं। कर्म का उदय दो प्रकार से होता है— उदय भाव से और उदीरणा से। स्थिति का क्षय होने पर कर्म अपना जो फल देता है वह उदय कहलाता है और अध्यवसाय विशेष या तपस्या आदि क्रियाओं के द्वारा जो कर्म स्थिति पूर्ण

होने से पहले ही उदय में लाये जाते हैं, उसे उदीरणा कहते हैं। दोनों ही जगह उदय तो समान ही है, मगर एक जगह स्थिति का परिपाक होता है और दूसरी जगह नहीं। उदय या उदीरणा होने पर कर्म की वेदना होती है अर्थात कर्म के फल का अनुभव होता है।

जिस कर्म के फल का अनुभव हो गया वह कर्म नष्ट हो जाता है– आत्मा के प्रदेशों से पृथक् हो जाता है। उसे कर्म का पहीण होना कहते हैं।

इस प्रकार यह चारों पद आत्म प्रदेशों से कर्मों को हटा देते हैं तब केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान के इस उत्पन्न पक्ष को ग्रहण करके ही इन चारों पदों को एकार्थक कहा है।

टीकाकार आचार्य का कथन है कि यह व्याख्या भगवती सूत्र की प्राचीन टीका के आधार पर की गई है। अन्य आचार्यों का अभिप्राय इस संबंध में भिन्न प्रकार का है। उनका कथन है कि यह चार पद स्थितिबंध विशेष रहित अर्थात सामान्य कर्म के आश्रित होने से एकार्थक हैं और केवलज्ञान की उत्पत्ति के साधक हैं। एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में यह केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए व्यापार करते हैं। अतएव इन्हें एकार्थक कहा गया है।

प्रश्न–पहले के चार पदों को एकार्थक बतलाने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि शेष अंत के पाँच पद अनेकार्थक हैं। फिर उन्हें अलग अनेकार्थक क्यों कहा है ?

उत्तर–सूत्र की रचना दो प्रकार से होती है–एक विद्वत्तापूर्वक दूसरी दयापूर्वक। विद्वत्तापूर्वक जो रचना होती है उसमें संक्षेप का बहुत ध्यान रखना पड़ता है। वही अर्थ कायम रहे और रचना में एक मात्रा की कमी हो जाय तो ऐसे लेखकों को इतनी खुशी होती है, मानों पुत्र की उत्पत्ति हुई हो। एक मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः यह कथन प्रसिद्ध है। मगर ऋषियों की रचना इस दृष्टि से नहीं रची जाती। वे अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए रचना में संक्षेप करने की आवश्यकता नहीं समझते। अल्प से अल्प बुद्धि वाला भी जिस प्रकार वस्तु तत्व को समझ सके उसी प्रकार का यत्न वे करते हैं। चाहे अक्षर बढ़ जाएँ। यही कारण है कि शास्त्रकार ने पहले के चार पदों को एकार्थक बतलाकर भी अंत के पांच पदों को अलग अनेकार्थक बतलाया है।

तात्पर्य यह कि 'छिज्जमाणे छिण्णे से लगाकर निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे' तक पांच पद भिन्न–भिन्न व्यंजन वाले, विभिन्न घोष वाले और

भिन्न–भिन्न अर्थ वाले हैं। यह बात विगत पक्ष की अपेक्षा से कही गई है। यहां इन पांच पदों का जरा विस्तार से विचार किया जाता है।

अंतिम पांच पदों में 'छिज्जमाणे छिण्णे' यह प्रथम पद है। यह पद कर्मों की स्थिति की अपेक्षा से है। केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के अनन्तर तेरहवें गुणस्थान वाले सयोग केवली जब अयोग केवली होने वाले होते हैं, मन वचन काय के योग को रोक कर अयोगी अवस्था में पहुँचने के उन्मुख होते हैं, तब वेदनीय नाम गोत्र कर्म की जो प्रकृति शेष रहती है, उसकी लम्बे काल की स्थिति को सर्वापवर्तन नामक करण द्वारा अन्तमूहर्त्त की स्थिति बना डालते हैं। अर्थात लम्बी स्थिति को छोटी कर लेते हैं। यही कर्मों का छेदन करना कहलाता है।

यद्यपि कर्मों का यह छेदन अंसख्यात समयों में होता है लेकिन प्रथम समय में ही जब छेदन क्रिया होने लगी तभी छीजे–छिन्न हुए ऐसा कहना चाहिए।

यद्यपि कर्मों का यह छेदन होने में और भेदन होने में अन्तर है। छेदन स्थिति बंध के आश्रित है और भेदन अनुभागबंध के आश्रित है। स्थिति का छेदन होना'छिज्जमाण' होना कहलाता है और कर्मों के रस का भेदन करना 'भिज्जमाण' होना कहलाता है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगी केवली स्थितिघात के साथ रसघात भी करते हैं।

स्थितिघात और रसघात का काल एक ही होता है, लेकिन स्थितिघात के खंडवें में रसघात के खंडवें अनन्त होते हैं। अर्थात स्थिति से कर्म के परमाणु अनंत गुणे हैं। स्थिति खंड की क्रम रचना होती है, कि इस समय इतने स्थिति खंड का नाश होगा। अतएव यद्यपि कर्म स्थिति और कर्म रस का नाश एक ही समय होता है लेकिन स्थितिघात के पुद्गल अलग हैं और रसघात के अलग हैं इस कारण छिज्जमान और भिज्जमाण पदों का अर्थ अलग–अलग है।

जैसे स्थिति कम की जाती है उसी प्रकार रस भी सोखा जाता है। इस रस के सोखने में भी असंख्य समय लगते हैं परन्तु पहले समय से जो रसघात होता है, उसकी अपेक्षा रसघात हुआ ऐसा कहा जा सकता है।

तीसरा पद 'दह्यमान' है। कर्म के प्रदेशों का घात होना कर्म का दाह कहा गया है। अनन्तानन्त कर्म प्रदेशों को अकर्म रूप में परिणत कर देना कर्म का दाह करना कहलाता है।

मोक्ष प्राप्त करने वाले महात्मा किस स्थिति से किस प्रकार आत्मिक विशुद्धि करके मुक्त होते हैं। इस बात को ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में देखा है और आज शास्त्र द्वारा उसे सुनकर हम पवित्र हुए हैं।

प्रदेश का अर्थ है–कर्म का दल। पाँच स्व अक्षर उच्चारण–काल जितने परिमाणवाली और असंख्यात समययुक्त गुण श्रेणी की रचना द्वारा कर्म प्रदेश का क्षय किया जाता है। यद्यपि वह गुणश्रेणी है सिर्फ पाँच स्व अक्षर उच्चारण काल के बराबर काल वाली है, लेकिन इतने से काल में ही असंख्यात समय हो जाते हैं। वह गुणश्रेणी पूर्वरचित होती है। तेरहवें गुणस्थान से ही उस गुणश्रेणी की रचना होती है। इस गुणश्रेणी से समुच्छिन्न क्रिया नामक शुक्लध्यान का चौथा पाया उत्पन्न होती है। उसमें पहले समय से असंख्य समय तक प्रतिसमय असंख्य गुणा वृद्धि से कर्म पुदगल को दग्ध किया जाता है। अर्थात पहले समय में जितने कर्म पुदगल दग्ध होते हैं, उससे असंख्यात गुणे दूसरे समय में दग्ध होते हैं। इसी प्रकार तीसरे समय में , दूसरे समय की अपेक्षा भी अंसख्यात गुणे कर्मों को दग्ध किया जाता है, इस प्रकार दग्ध करने का क्रम बढ़ता जाता है। इसका कारण यह है कि ज्यों–2 कर्म पुदगल दग्ध होते हैं, त्यों त्यों ध्यानाग्नि अधिक प्रज्वलित होती जाती है और वह अधिकाधिक कर्मपुद्गलों को दग्ध करती है।

इस प्रकार भिद्यमान और दह्यमान पदों का अर्थ भी अलग–अलग है। पाँच स्व अक्षर उच्चारण करने में असंख्यात समय लगते हैं। इन असंख्यात समयों में से पहले ही समय में जो कर्मपुद्गल दग्ध होते हैं, उनकी अपेक्षा उन्हें दग्ध हुए ऐसा कहा जा सकता है।

यद्यपि जला देना दूसरी वस्तुओं के संबंध में भी लोक प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहाँ मोक्ष विचार का प्रकरण है अतः कर्मों को जलाना अर्थ ही मानना उचित है।

चौथा पद है–'मिज्जमाणे मडे।' अर्थात जो मर रहा है वह मरा। इस पद से आयु कर्म के नाश का निरूपण किया गया है। अन्य पदों से इस पद का अर्थ भिन्न है। आयु कर्म के पुद्गलों का क्षय करना ही मरण है।

प्रत्येक योनि वाला संसारी जीव मरण को प्राप्त करता है। संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जिसे लगातार जन्म–मरण न करना पड़ता हो। लेकिन यहाँ सामान्य मरण से अभिप्राय नहीं है। यहाँ उस मरण से तात्पर्य है कि जिसके पश्चात् फिर कभी जन्म मरण न करना पड़े– अर्थात् वह मरण जो मोक्ष प्राप्त करने से पहले एक बार करना पड़ता है। पहले बँधे हुए

आयुकर्म का क्षय हो जाय और नया आयु कर्म न बँधे यही मोक्ष का कारण है।

यद्यपि मरण असंख्यात समय में होता है लेकिन पहले समय में ही जो मरने लगा उसे मरा कहा जा सकता है।

पाँचवा पद है—'णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे।' समस्त कर्मों को अकर्म रूप में परिणत कर देना, यहाँ निर्जरा करना कहा गया है। यह स्थिति संसारी जीव ने कभी नहीं प्राप्त की है। उसने कभी शुभ कर्म किये, कभी अशुभ कर्म किये, परन्तु समस्त कर्मों का नाश कभी नहीं किया। आत्मा के लिए यह स्थिति अपूर्व है। अतएव इस पद का अर्थ अन्य पदों से भिन्न है। इस प्रकार अन्त के पाँच पद भिन्न भिन्न अर्थ वाले हैं।

शंका— पहले के जिन चार पदों को एकार्थक कहा है, उनमें भी काम अलग अलग हुआ है। और अन्त के जिन पाँच पदों को भिन्नार्थक कहा है, उनमें भी काम अलग अलग हुआ है। ऐसी स्थिति में चार को एकार्थक कहकर इन पाँच पदों से और पाँच पदों को भिन्नार्थक कहकर पूर्ववर्ती चार पदों से अलग क्यों किया गया है?

उत्तर—पूर्ववर्ती चार पदों से केवलज्ञान की उत्पत्ति रूप एक ही कार्य होता है अतः उन्हें एकार्थक कहा है और पिछले पाँच पद विगत पक्ष की अपेक्षा भिन्न अर्थ वालेकहे गये हैं। 'विगत' का अर्थ है विनाश। वस्तु की एक पर्याय का नाश होकर दूसरी पर्याय होना विनाश है— अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था होना विनाश होना कहलाता है। एकान्त नाश किसी वस्तु का नहीं हो सकता; क्योंकि कोई भी पदार्थ सत् से असत् नहीं हो सकता। इस प्रकार वस्तु विनाश की अपेक्षा से पांच पदों को भिन्नार्थक माना गया है। इनकी भिन्नार्थकता इस प्रकार है—

(1) छिद्यमान पद में कर्म खंडवे का नाश होना बतलाया गया है।

(2) भिद्यमान पद में कर्म पुद्गल का नाश बतलाया गया है।

(3) दह्यमान पद में कर्म का अकर्म होना कहा गया है।

(4) म्रियमाण पद में आयु कर्म का अभाव होना कहा है।

(5) निर्जीर्यमाण पद में समस्त कर्मों का नष्ट होना सूचित किया है।

इस प्रकार विगत पक्ष की अपेक्षा इन पाँच पदों को भिन्न अर्थ वाला माना गया है।

प्रश्न यह था कि पाँचवें अंग के पहले शतक के पहले उद्देशक में पहले पहल 'चलमाणे चलिए' यह पद क्यों आया? इस प्रश्न का उत्तर इस

व्याख्या से हो गया कि केवलज्ञान की उत्पत्ति और समस्त कर्मों के क्षय रूप मोक्ष का क्रम प्रतिपादन करने के लिए इन नौ पदों की चर्चा की गई थी। केवलज्ञान और मोक्ष दोनों ही परम मांगलिक हैं। अतएव आंरभ में इनकी चर्चा करना अंसगत नहीं है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने राजा विक्रमादित्य को बोध दिया था। कहते हैं कल्याणमन्दिर उन्हीं की रचना है। इन आचार्य ने सम्मति तर्क नामक ग्रन्थ की भी रचना की है। उसमें आचार्य ने 'चलमाणे चलिए।' इत्यादि सूत्र को पुष्ट करते हुए कहा है–

उप्पज्जमाण कालं उप्पण्णं विगययं विगच्छन्तं।
दवियं पण्णवयंतो, तिकाल विसयं विसेसेइ।।

अर्थात– उत्पद्यमान कालिक (वर्तमान कालीन) द्रव्यं को उत्पन्न कालिक(भूतकालीन) तथा विगच्छत कालिक (वर्तमान कालीन) द्रव्य को विगत कालिक (भूत कालीन) प्ररूपण करने वाले भगवान ने द्रव्य को त्रिकाल विषयक प्रतिपादन किया है। तात्पर्य यह है कि वस्तु अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय से अंतिम समय तक उत्पद्यमान होती है,अतः एवं 'उत्पद्यमान' पद से वर्तमान और भविष्य काल विषयक वस्तु का प्रतिपादन किया है और 'उत्पन्न' पद से भूतकालीन वस्तु का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार विगच्छत् पद से और विगत पद से तीनों कालों का निरूपण समझना चाहिए। इस तरह 'चलमाणे चलिए' आदि पदों से भगवान ने यह सूचित किया है कि वस्तु तीनों कालों में विद्यमान रहती है।

श्रीसिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि 'चलमाणे' इस कथन से वर्तमान काल और भविष्यकाल का बोध होता है। अतएव गौतम स्वामी भगवान से प्रश्न करते हैं कि द्रव्य भूतकाल में भी होगा या नहीं?

आरम्भिक क्रिया से लेकर अन्तिम समय की क्रिया तक वर्तमान और भविष्य का बोध होता है, और 'उत्पन्न' कहकर भगवान ने भूतकाल का बोध कराया है। इस प्रकार पूर्वोक्त नौ पदों से यह सिद्ध होता है कि द्रव्य भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में विद्यमान रहता है। इस प्रकार इन पदों में कर्म की चर्चा होने पर भी द्रव्य की चर्चा का भी समावेश हो जाता है।

किसी किसी आचार्य का अभिप्राय यह है कि इन नौ पदों के विषय में शास्त्र में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है कि यह पद कर्म के विषय में ही कहे गये है। ऐसी स्थिति में इन्हें कर्म के सम्बन्ध में ही मानने का कोई कारण नहीं

है। अतएव इन्हें कर्म के विषय में सीमित न रखकर वस्तु मात्र के विषय में लागू करना चाहिए।

पहले के चार पद उत्पत्ति के सूचक हैं और अन्त के पाँच पद विनाश के सूचक हैं। इन्हें प्रत्येक वस्तु पर घटाया जा सकता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु उत्पाद और विनाश से युक्त है। मगर प्रश्न यह है कि इन्हें सामान्य रूप से पदार्थ मात्र पर कैसे घटाया जा सकता है? इस व्याख्या में पहले के चार पद नाना व्यंजन नाना घोष वाले और एकार्थक का हिसाब कैसे बैठेगा?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे आचार्य कहते हैं कि हमारे अर्थ में नाना व्यंजन, नाना घोष और एक अर्थ घटाने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि शास्त्र में उत्पत्ति पक्ष और विगत पक्ष को स्पष्ट कर दिया है। नौ पदों को सामान्य रूप से कहने का कारण यही है।

पहला पद है–चलमाणे चलिए। यह चलन अकेले कर्म में नहीं वरन् पदार्थ मात्र में पाया जाता है। चलन का अर्थ है –अस्थिरता। अस्थिरता रूप पर्याय को मुख्य करके यहाँ पदार्थ की उत्पत्ति बतलाई गई है।

दूसरा पद है–उदीरिज्जमाणे उदीरिए। जो वस्तु स्थिर है, उसे प्रेरणा करके चला देने को उदीरणा कहते हैं। अतएव उदीरणा भी एक प्रकार की चलन क्रिया ही है।

तीसरा पद है–वेज्जमाणे वेइए। वि उपसर्ग पूर्वक एजृ धातु से व्यंजन शब्द बना है। व्यंजन का अर्थ है–काँपना। काँपना स्वरूप की अपेक्षा उत्पन्न होना ही है।

चौथा पद है पहिज्जमाणे पहीणे। अर्थात जो प्रभ्रष्ट–भ्रष्ट हो रहा है वह भ्रष्ट हुआ। अपने स्थान से पतित होना गिर जाना भ्रष्ट होना कहलाता है। यह भी एक प्रकार की चलन क्रिया ही है। बिना चले कोई वस्तु अपने स्थान से गिर नहीं सकती, इसलिए चलन है। इस प्रकार यह चारों पद एकार्थक ही हैं।

उत्पत्ति–चलन क्रिया इन चारों पदों में विद्यमान है अतएव शास्त्रकार ने इन्हें एकार्थक कहा है और व्यंजनों घोषों की विभिन्नता तो स्पष्ट ही है।

इन आचार्य का अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त कर्म संबंधी विशेष पक्ष ग्रहण करने से उसमें इस सामान्य पक्ष का समावेश नहीं हो सकता क्योंकि वह कर्म तक ही सीमित रहता है, मगर इस सामान्य पक्षमें विशेष पक्ष का अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे मनुष्य में राजा रंक सभी का समावेश होता है। मगर राजा कहने से रंक का समावेश नहीं होता। इसी प्रकार हमारी व्याख्या

में कर्म का भी समावेश हो जाता है तथा अन्य पदार्थों का भी समावेश हो जाता है, मगर कर्म रूप विशेष पक्ष में अन्य पदार्थों का समावेश नहीं होता है इसलिए सामान्य पक्ष ग्रहण करके इन पदों की व्याख्या करनी चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि शेष पाँच पदों की संगति किस प्रकार बिठलाई जायेगी? इस प्रश्न का समाधान यह है:–

इन पाँच पदों का कर्म रूप विशेष पक्ष स्वीकार करके व्याख्यान किया गया है, मगर यह भी वास्तव में सामान्य रूप ही है। कर्म को विशेष करने से यह पद विशेष हो गये हैं लेकिन वास्तव में यह पद सामान्य हैं। 'छिज्जमाणे' आदि पद सामान्य रूप से क्रियावाचक हैं। छेदन चाहे कर्म का हो, चाहे किसी अन्य वस्तु का सभी के लिए समान रूप से वह लागू हो सकते हैं इस प्रकार भेदन कर्म का भी होता है और अन्य वस्तुओं का भी। जलना, मरना, जर्जरित होना आदि क्रियाएँ भी अकेले कर्मसे ही संबंध नहीं रखतीं अपितु सभी से उनका संबंध है। इससे यह स्पष्ट है कि यह पद भी सामान्य रूप ही है, विशेष रूप नहीं।

इन पदों को भिन्न अर्थ वाला क्यों कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि छेदन, भेदन आदि भिन्न–भिन्न क्रियाएँ हैं जैसे कुल्हाड़ी से वृक्ष की शाखा को छेद डालना पृथक् है और तीर से शरीर को भेद डालना पृथक् है। छेदन तो अलग अलग कर देता है और भेदन भीतर घुसने को कहते हैं इस प्रकार छेदन और भेदन में अन्तर है। इसी प्रकार अग्नि से घास फूस को जलाना छेदन भेदन से पृथक् है। मरण–प्राण त्याग करने को अथवा वस्तु के बदल जाने को कहते हैं। अतएव यह भी छेदन भेदन और ज्वलन से भिन्न ही हुआ, क्योंकि जीव बिना छेदन–भेदन किये और बिना जलाये भी मर जाता है। अगर मरण इन क्रियाओं से भिन्न न होता तो ऐसा क्यों होता? इससे यह स्पष्ट हो जाता है। कि मरने की क्रिया पूर्वोक्त क्रियाओं से न्यारी है।

बहुत पुराने को जीर्ण कहते हैं। निर्जरना का अर्थ है–जर्जरित होना। पदार्थ बिना छेदे, भेदे जलाये भी ऐसा जर्जरित हो जाता है कि दीखता तो है मगर हाथ लगाते ही बिखरने लगता है। अतएव निर्जीर्ण होना भी छेदन भेदन आदि से भिन्न समझना चाहिए। इस तरह उक्त पाँच पद भिन्नार्थक हैं। यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब यह पूछा जा सकता है कि विगत पक्ष का अर्थ क्या है? विगत का अर्थ है– विनाश होना। यह पाँचों पद भिन्नार्थक हैं, लेकिन विगत पक्ष का समावेश इन पाँचों में होता है। छेदन भेदन आदि से वस्तु का विनाश हो

जाता है अतः यह पाँच पद विगत पक्ष की अपेक्षा हैं, यह कहना उचित ही है।

इस प्रकार सामान्य पक्ष के समर्थक आचार्यों का कथन है कि आपका पक्ष एक देशीय और हमारा पक्ष सर्वदेशीय है।

शंका—शास्त्र तत्व का निरूपण करता है। वह संसार की साधारण बातों पर प्रकाश नहीं डालता। अतएव हमने विशेष पक्ष लेकर इन पदों के द्वारा तत्व का व्याख्यान किया है, वही ठीक है। सामान्य पक्ष स्वीकार कर आपने संसार की सभी बातों का समावेश कर दिया है। संसार के छेदन भेदन की क्रिया तो चलती ही रहती है। उस पर विचार की क्या आवश्यकता है। वह तो अतत्व रूप है। शास्त्र को उससे क्या प्रयोजन? शास्त्र तो केवल तत्व की बात बतलाता है।

समाधान—इस कथन से यह प्रकट होता है कि आप को तत्व अतत्त्व का समाचीन बोध नहीं । क्या अकेला मोक्ष ही तत्व है? दूसरे तत्व नहीं हैं? अगर ऐसा हो तो शास्त्रकारों ने नरक, स्वर्ग आदि का वर्णन क्यों किया है? अगर मोक्ष ही अकेला तत्व रूप माना जाय तो उसके सिवा सभी अतत्त्व ठहरते हैं। मगर ऐसा नहीं है। हमने जो व्याख्या की है वह तात्त्विक ही है, अतात्त्विक तनिक भी नहीं है।

तो क्या शाक भाजी का छिदना, भाले से किसी चीज का भिदना, घास—फूस का जलना, मर जाना और जर्जरित होना भी तत्त्वरूप है? इसका उत्तर है—हाँ, अवश्य। बिना तत्व की कोई बात ही नहीं है। संसार के समस्त पदार्थों का जिन—प्रणीत तत्वों में समावेश हो जाता है। ऐसा कोई पदार्थ विद्यमान नहीं जो तत्त्व से बहिर्भूत हो।

शंका—बिना तत्त्व की कोई बात नहीं है, इसे स्पष्ट कीजिए?

समाधान—पहला पद 'चलमाणे चलिए' है। इसके विरुद्ध जो चलमाणे अचलिए कहता है; उसे निश्चयनय का ज्ञान नहीं है। यदि चलमाणे को चलिए न कहा जाय तो निश्चय नय उठ जाता है। अतः निश्चय नय का ज्ञान कराने के लिए ही उक्त नौ पद कहे गये हैं। यह बात तनिक और स्पष्टता से समझाई जाती है।

कल्पना कीजिए— एक मनुष्य कह रहा है कि अमुक पुरुष कलकत्ता की ओर चल रहा है। अब उसे गया हुआ कहें या नहीं गया हुआ कहें। अभी उस पुरुष ने कलकता की ओर एक ही पैर उठाया है। वह कलकता पहुँचा

नहीं है, कलकता सौ योजन दूर है। चला कम है और चलना अधिक है। ऐसी दशा में उसे गया कैसे कहा जाय?

जो ऐसा प्रश्न करता है उसे व्यवहार का ज्ञान तो है पर निश्चय का ज्ञान नहीं है। ज्ञानी जन निश्चय नय की अपेक्षा जो कथन करते हैं, उसका प्रश्नकर्ता को भान नहीं है। इस न जानी हुई बात को समझा देने का नाम ही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त और निश्चय नय की अपेक्षा चल रहे को चला कहना चाहिए।

व्यवहार नय की अपेक्षा जो कलकता जा रहा है उसे चलता माना जाता है, गया नहीं माना जाता। निश्चयनय कहता है कि जो चलने लगा, वह चला अर्थात जिसने गमन क्रिया आंरभ कर दी वह गया, ऐसा मानना चाहिए।

विशेषावश्यक भाष्य में इस प्रश्न की विस्तार पूर्वक विवेचना की गई है। वहां जमाली के चलमाणे अचलिए इस मत पर विचार कर इसका सहेतुक खंडन किया गया है। और चलमाणे चलिए इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है।

जो लोग यह कहते हैं कि मोक्ष की चर्चा ही तत्व है उन्हें यह भी समझना चाहिए कि क्या शास्त्र में परमाणु की चर्चा, काल की चर्चा, क्षेत्र की चर्चा नहीं की गई है? अगर की गई है तो किस दृष्टि से? शास्त्र में अगर पुण्य की बात कहीं है तो क्या पाप की बात नही कहीं है? बंध का विवेचन है तो क्या निर्जरा का विवेचन नहीं है? शास्त्र में सभी विषयों की यथोचित चर्चा है और ये सभी मोक्ष में निमित्त होते हैं।

चलमाणे चलिए इस सिद्धान्त को स्वीकार न करने से अनेक दोष आते हैं। भगवती सूत्र में आगे वर्णन आएगा कि गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया–प्रभो! एक मुनि भिक्षा–चर्या के लिए गया। मोहनीय कर्म के उदय से वहाँ उसे कोई दोष लग गया। दोष तो लग गया मगर बाद में मुनि को पश्चात्ताप हुआ। उसने विचार किया कि मैं गुरु महाराज की सेवा में उपस्थित होकर इस दोष की आलोचना करूंगा। आलोचना करने का संकल्प करके उसने गुरु महाराज की सेवा में प्रस्थान किया। किन्तु वहाँ पहुँचने से पहले ही मार्ग में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया ऐसी स्थिति में दोष लगाने वाला वह मुनि आराधक कहलाएगा या नहीं? —

भगवान ने उत्तर दिया–आराधक होगा।

गौतम स्वामी ने फिर पूछा– अभी उसने आलोचना तो की ही नहीं है, फिर आराधक कैसे हो गया?

भगवान ने फरमाया–चलमाणे चलिए अर्थात् जो चलने लगा वह चला इस सिद्धान्त के अनुसार वह मुनि आराधक है। वह आलोचना करने चला मगर कार्य पूर्ण न हुआ तो यह उसके अधिकार की बात नहीं है।

अगर चलमाणे चलिए सिद्धान्त न माना जाय तो आराधक पद में भी कमी आ जाएगी और इस प्रकार मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

इस प्रकार निश्चय नय की अपेक्षा जो चलने लगा वह चला, ऐसा मानना उचित है। लेकिन केवल निश्चय नय को ही मानकर बैठे रहने से और व्यवहार का त्याग कर देने से भी काम नहीं चल सकता। निश्चय और व्यवहार दोनों का यथायोग्य आश्रय लेना चाहिए। एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाला नय ही सम्यक् होता है अन्य निरपेक्ष नय एकांत रूप होने से मिथ्या है। एकान्त व्यवहारवादी परमार्थ से दूर रहता है और एकान्त निश्चयवादी भी परमार्थ तक नहीं पहुँच सकता। इसीलिए कहा है–

निरपेक्षा नया मिथ्यः, सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत्।

यहाँ एक शंका और होती है। वह यह कि चलमाणे चलिए यह प्रश्न पहले क्यों पूछा गया है? पहले इस शंका के विषय में कहा गया था कि यह पद मोक्ष के लिये है मगर अब तो वह मोक्ष के लिये नहीं रहा सामान्य रूप से सभी के लिए हो गया अतएव जहाँ पहले पद को मांगलिक कहा था। वहाँ अब यह मांगलिक न रहा तब फिर इस अमांगलिक पद को सर्वप्रथम स्थान देने का क्या प्रयोजन है?

इसका उत्तर दूसरे आचार्यों ने यह कह कर दिया है कि सर्वप्रथम नमो सुआय कहकर मंगल किया ही है; फिर तत्व चिन्तन की सभी बातें मांगलिक ही होती हैं। इस चलमाणे चलिए रूप तत्व चिन्ता का अन्त मोक्ष है। अतएव यह पद भी मांगलिक ही है। इसमें मोक्ष प्राप्ति का विवेचन भी अन्तर्भूत हो जाता है।

मोक्ष की प्राप्ति जीव को ही होती। अतएव जीव तत्व का मूल स्वरूप समझ लेने पर ही मोक्ष का स्वरूप ठीक–ठीक समझ में आ सकता है। जीव का स्वरूप समझने के लिए यह समझना भी आवश्यक है, कि वे कितने प्रकार के हैं। और वर्तमान में किस–किस स्थिति में विद्यमान हैं?

जीव के भेद बतलाने के लिए संक्षेप में कहा गया है–

नेरइया असुराई पुढवाई बेइंदियादओ चेव।
पंचिंदिय तिरिय नरा, विंतर जोइसिय वेमाणी।।

नय के मत के अनुसार जीव के चौबीस भेद हैं। इन चौबीस भेदों में पहला दण्डक नारकी का है, दस दण्डक असुर कुमार आदि के हैं पाँच दण्डक पृथ्वीकाय आदि के हैं, तीन दण्डक दो–इन्द्रिय आदि के अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, के हैं। एक दण्डक पंचेन्द्रिय तिर्यंच का है, एक दण्डक मनुष्य का, एक दण्डक व्यन्तर देवों का, एक दण्डक ज्योतिषी का, और एक दण्डक वैमानिक का। इन चौबीस भेदों में ही संसार के समस्त (अनन्तानन्त) प्राणियों का समावेश हो जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि अनन्तानन्त प्राणियों का चौबीस भेदों में अन्तर्भाव करने का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब किसी वस्तु की गणना करना शक्य न हो तो वर्गीकरण का सिद्धान्त काम में लाया जाता है। कल्पना कीजिए एक वन है। उसमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे हैं। उन वृक्षों की गणना की जाय तो बड़ी ही कठिनाई उपस्थित होगी लेकिन उन्हीं वृक्षों की कोटियां बना ली जाएँ तो सुगमता होगी। जब संख्यात की ही गणना करने में कठिनाई आती है तो असंख्यात की गणना किस प्रकार हो सकती है, यह सहज ही समझ में आ सकता है। अतएव अनन्तानन्त जीवों का चौबीस श्रेणियों में वर्गीकरण करने से उनका पता लग जाता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी वस्तु को श्रेणी बद्ध करने के लिए कोई एक निश्चित नियम नहीं है। यह विभाजन की इच्छा पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। विभाजक अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी सदृश धर्म को आधार मानकर अभेद और विसदृश धर्म को आधार बनाकर भेद की कल्पना करता है; क्योंकि वस्तुओं में अनेक सदृश और विसदृश धर्म विद्यमान है। व्याख्या की सुगमता के लिए चौबीस भेदों की कल्पना की गई है, यद्यपि इससे भी कम या अधिक की कल्पना की जा सकती है और अन्यत्र की भी गई है।

यहाँ इन चौबीस भेदों को दण्डक इसलिए कहा है कि इन स्थानों में रहकर आत्मा ने घोर कष्ट सहन किये हैं। यह चौबीस दण्ड के स्थान हैं। अनादि काल से अब तक आत्मा इनमें निवास करके दण्डभोग रहा है। यद्यपि इस जन्म में कुछ सुख मिला है। लेकिन वह सुख स्थायी शान्ति देने वाला नहीं है अतएव इसे भी दण्डक कहा है। आत्मा ने नरक आदि पर्यायों में रहकर किस प्रकार दुःखमय स्थिति भोगी है। इस बात को दिखाने के लिए ही शास्त्रकारों ने नरक आदि के भेद दिखलाये हैं। उनका विवरण क्रम से आगे किया जायेगा।

नारकी जीवों का स्थित्यादि वर्णन

प्रश्न–णेरइयाणं भंते! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता?

उत्तर– गोयमा! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता?

प्रश्न–णेरइया णं भंते! केवइ कालस्स आणमंति वा? पाणमंति वा? ऊससंति वा? णीससंति वा?

उत्तर–जहा ऊसासपए।

प्रश्न– णेरइया णं भंते! आहारट्ठी?

उत्तर– जहा पण्णवण्णाए पढमाए आहारुद्देसए, तहा भाणियव्वं।

गाथाः–

ठिई उस्सासाऽऽहारे किं वाऽऽहारेंति सव्वओ वा वि।
कइभागं सव्वाणि व, कीस व भुज्जो परिणमंति।।

संस्कृत छाया–प्रश्न–नैरयिकानां भगवन्! कियत्कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?

उत्तर–गौतम! जघन्येन दशवर्ष सहस्राणि, उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

प्रश्न– नैरयिकानां भगवन्! कियत् कालाद् आनन्ति वा प्राणन्ति वा? उच्छ्वसन्ति वा निःश्वसन्ति वा?

उत्तर–यथा उच्छ्वासपदे।

प्रश्न–नैरयिकानां भगवन् आहारार्थिनः?

उत्तर–यथा प्रज्ञापनायां प्रथम आहारोद्देशकः तथा भणितव्यम्। गाथाः–

स्थितिरुच्छ्वासाऽऽहारः, किं वाऽहरन्ति सर्वतो वाऽपि।
कतिभागं सर्वाणि वा, किं स्वतया वा भूयः परिणमन्ति।।

प्रश्न– हे भगवन्! नारकों की स्थिति कितने समय की कही है?

उत्तर– हे गौतम! जघन्य से दस हजार वर्ष की स्थिति कही है और उत्कृष्ट रूप से तेतीस सागरोपम की स्थिति कही. है।

प्रश्न– हे भगवन्! नारकी कितने समय में श्वास लेते हैं? और कितने समय में श्वास छोड़ते हैं?

उत्तर–हे गौतम पन्नवणा सूत्र के उच्छ्वास पद के अनुसार समझना चाहिए।

प्रश्न–भगवन! नारकी आहारार्थी हैं?

उत्तर–हे गौतम! पण्णवणासूत्र के आहारपद के पहले उद्देशक के अनुसार समझना।

गाथार्थ–नारकी जीवों की स्थिति, उच्छ्वास तथा आहार सम्बन्धी कथना करना चाहिए। नारकी क्या आहार करते हैं? समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं? समस्त आहारक द्रव्यों का आहार करते हैं? और आहार के द्रव्यों को किस रूप में परिणमाते हैं?

–श्री गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते हैं कि हे भगवन्! आपने जीव के चौबीस दण्डक कहे हैं, उनमें से नरक–योनि के जीव की स्थिति कितनी है? अर्थात् जीव नरक में कितने समय तक बना रहता है?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया– हे गौतम! स्थिति दो प्रकार की होती है–एक जघन्य, दूसरी उत्कृष्ट। अर्थात् एक कम से कम और दूसरी ज्यादा से ज्यादा। जहां ऊंच और नीच होता है वहां मध्यम होता ही है। नरक के जीवों की कम से कम स्थिति दस हजार वर्ष की है अर्थात् नरक में गया हुआ जीव कम से कम दस हजार वर्ष तक नरक में रहता है और अधिक से अधिक तेतीस सागर की स्थिति है।

प्रश्न हो सकता है कि नरक किसे कहते हैं? इसका उत्तर व्युत्पत्ति के अनुसार यह है कि–जिसके पास से अच्छे फल देने वाले शुभ कर्म चले गये हैं, जो शुभ कर्मो से रहित है, उन्हें 'निरय' कहते हैं और 'निरय' में जो हों वे 'नैरयिक' कहलाते हैं।

जैसे– जिसके पास से सम्पत्ति चली जाती है, उसे दरिद्र कहते हैं। जहां सम्पत्ति नहीं वहां दरिद्रता होती ही है और दरिद्रता वाले को दरिद्र कहते हैं। यह गुण गुणी का भेद है। दरिद्रता गुण है और गुणी वह प्राणी है जो दरिद्र हो। इसी प्रकार जो सुख से अतीत है और पुण्यफल से भ्रष्ट है उसे नैरयिक कहते हैं।

आयु कर्म के पुद्गलों के रहने की मर्यादा स्थिति कहलाती है। आत्मा रूपी दीपक में, आयु कर्म रूपी तेल के विद्यमान ने की सामयिक मर्यादा का नाम स्थिति है।

जो जीव अशुभ कर्म बांधकर नरक योनि में जाते हैं, वे वहां कम से कम दस हजार वर्ष अवश्य रहते हैं। कोई भी जीव दस हजार वर्ष पहले नरक से लौट कर नहीं आ सकता। इसी प्रकार नरक में अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम तक जीव रहता है। कोई भी जीव तेतीस सागरोपम से अधिक समय तक नरक में नहीं रह सकता। यही नरक की जघन्य और उत्कृष्ट आयु कहलाती है।

सागरोपम किसे कहते हैं, यह जान लेना आवश्यक है। यह संख्या लोकोत्तर है। अंकों द्वारा उसे प्रकट नहीं किया जा सकता। अतः उसे समझाने का उपाय उपमा है। उपमा द्वारा ही उसकी कल्पना की जा सकती है। इसी कारण उसे उपमा–संख्या कहते हैं, और इसी कारण 'सागर' शब्द के बदले 'सागरोपम' का व्यवहार भी किया जाता है, सागरोपम का स्वरूप इस प्रकार है।

चार कोस लम्बा और चार कोस चौड़ा तथा चार कोस गहरा एक कुआ हो। कुरू युगलिया के सात दिन के जन्मे बालक के बाल लिये जावें। युगलिया के बाल अपने बालों से 4096 गुने सूक्ष्म होते हैं। उन बालों के बारीक से बारीक टुकड़े–काजल की तरह किये जावें। चर्म–चक्षु से दिखाई देने वाले टुकड़ों से असंख्य गुने छोटे टुकड़ें हों। अथवा सूर्य की किरणों में जो रज दिखाई देती है उससे असंख्य गुने छोटे हों। ऐसे टुकड़े करके उस कुंए में ठसाठस भर दिये जावें। सौ–सौ वर्ष व्यतीत होने पर एक–एक टुकड़ा निकाला जाये। इस प्रकार निकालते निकालते जब वह कूप खाली हो जाये, तब एक पल्योपम होता है। ऐसे दस क्रोड़ाक्रोड़ी कूप जब खाली हो जाएं तब एक सागरोपम होता है। एक करोड़ को एक करोड़ की संख्या से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है, वह, क्रोड़ाक्रोड़ी कहलाता है। ऐसे तेतीस सागरोपम की या 330 क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम की नरक की उत्कृष्ट स्थिति है। यह आत्मा ऐसी स्थिति में रह आयी है।

नरक की ज़घन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की समस्त स्थिति मध्यम स्थिति कहलाती है। दस हजार वर्ष से एक समय अधिक से लेकर तेतीस सागरोपम से एक समय कम तक की स्थिति मध्यम समझनी चाहिए।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि–भगवन्! नरक के जीव क्या श्वासोच्छ्वास भी लेते हैं? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर हां में दिया है। तब गौतम स्वामी पूछते हैं कि उनका श्वासोच्छ्वास कितने समय में होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि प्रज्ञापन्ना सूत्र में इसका वर्णन किया है, वहां से जान लेना चाहिए।

इस प्रश्नोत्तर में 'आणमंति' और 'पाणमंति' शब्द आये हैं। इनका क्रमशः अर्थ है–श्वास लेना और छोड़ना। शरीर के भीतर हवा खींचने को आणमन या श्वास लेना कहते हैं और शरीर के बाहर हवा निकालने को प्राणमन या श्वास छोड़ना कहते हैं।

किसी किसी आचार्य के मत से श्वासोच्छ्वास दो प्रकार के होते हैं:– एक आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास और दूसरा बाह्य श्वासोच्छ्वास आध्यात्मिक श्वासोच्छवास को आणमन और प्राणमन कहते और बाह्य को उच्छ्वास निःश्वास कहते हैं।

श्वास की क्रिया में समस्त योग का समावेश हो जाता है। जो महाप्राण पुरुष श्वासोच्छ्वास को समझ लेता है और बाह्य श्वासोच्छ्वास को अभ्यन्तर कर लेता है अर्थात् श्वासोच्छवास पर अधिकार कर लेता है, उसके लिए कोई कार्य कठिन नहीं रह जाता। जो लोग अधिक उम्र तक जीते हैं, वे इसी क्रिया के प्रताप से। खाना–पीना आदि सब श्वास पर ही निर्भर है। अभी श्वास पर थोड़ा–सा काबू है। अगर इतना भी काबू न रहे तो शरीर में मल–मूत्र भी टिकना कठिन हो जाये। शरीर में मल–मूत्र का न टिकना श्वास पर अधिकार न होने का फल है। कई लोगों का दम उठने लगता है, यह भी श्वास पर नियंत्रण न होने के कारण ही। आप लोग अपने को सुखी मानते हैं, लेकिन सारे सुख का आधार श्वास ही है। जिस समय श्वास पर से अधिकार उठ जाता है, उसी समय सारे सुख हवा में उड़ जाते हैं। श्वास की क्रिया बिगड़ने से आत्मा को कितनी असाता होती है, यह तो भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। वास्तव में साता–असाता श्वास पर ही निर्भर है। योगीजन बाह्य श्वासोच्छ्वास को अभ्यन्तर कर लेते हैं, अतः उन्हें न रोग होता है, न शोक होता है।

एक बार किसी समाचार पत्र में पढ़ा था कि अमेरिका में एक स्त्री अस्सी वर्ष की है मगर दिखती वह तीस वर्ष की है। उसने श्वासोच्छ्वास की क्रिया की सुन्दर साधना की है। लोग बाहरी क्रियाओं की ओर दौड़ते हैं, परन्तु इस विषय में उदासीन रहते हैं। जो पुरुष अपने बाह्य श्वासोच्छ्वास को

आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास में ले जाता है, उसे अपूर्व शक्ति और अद्भुत सुख की प्राप्ति होती है।

प्राणी किसी भी योनि में क्यों न हो? उसे श्वासोच्छ्वास अवश्य लेना पड़ता है। यह शरीर श्वासोच्छ्वास की क्रिया पर ही टिका हुआ है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया बंद हो जाने पर शरीर भी नहीं रहता।

गौतम स्वामी ने भगवान् से नारकी जीवों के श्वासच्छ्वास के संबंध में प्रश्न किया है। प्रश्न के उत्तर में पण्णवण्णा सूत्र का हवाला दे दिया गया है। मगर टीकाकार ने संक्षेप रूप से यह बतला दिया है कि पण्णवण्णा सूत्र में प्रस्तुत विषय में क्या वर्णन किया गया है। उस सूत्र में भगवान् ने कहा कि नारकी जीव सतत श्वासोच्छ्वास लेते रहते हैं।

जो अधिक दुःखी होता है, उसे अधिक श्वास आता है। श्वास ज्यादा आने लगा कि दुःख की मात्रा बढ़ी, श्वास अधिक आने पर कैसी घबराहट होती है? यह हम लोग संसार में देख सकते हैं। श्वास की बीमारी में जिसे श्वास चलता हो उससे पूछो। वह अपने दुःख का वर्णन नहीं कर सकेगा।

निरन्तर श्वासोच्छ्वास क्यों आता है? इसलिए कि जीव अति दुःखी है।

प्रश्न हो सकता है कि सतत कहने से ही निरन्तर ही प्रतीति हो गई थी, फिर 'संतत' पद क्यों कहा है? पण्व्वणा सूत्र का पाठ इस प्रकार हैः— 'गोयमा! सययं संतयामेव आणमंति वा, पाणमंति वा ऊससंति वा, नीससंति वा।' इसका उत्तर यह है कि अकेला सतत कहने से कुछ कमी रह जाती है, अतएव संतत पद और कहा है। उदाहरण के लिए— लोक में मनुष्य कहते हैं कि हम निरंतर भोजन करते हैं।' यहां निरंतर पद का प्रयोग करने पर भी कोई मनुष्य प्रतिक्षण सदा नहीं खाता रहता। बीच में काफी समय रहता ही है। फिर भी रोज–रोज भोजन करने को निरन्तर भोजन करना कह दिया जाता है। यहां श्वासोच्छ्वास के विषय में ऐसा न समझा जाये, इस अभिप्राय से सतत और संतत–दो निरंतरता वाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन दो शब्दों के प्रयोग से यह सूचित हो गया कि बीच में समय खाली नहीं रहता–नारकी जीवों की श्वासोच्छ्वास–क्रिया सदा–सर्वदा प्रतिक्षण चालू रहती है।

आंख बन्द करके खोलने में भी असंख्य समय लगते हैं। इस समय में भी नरक के जीवों का श्वासोच्छ्वास बराबर जारी रहता है। वह किसी भी समय बंद नहीं होता।

नरक के जीवों के श्वासोच्छ्वास का वर्णन करके यह दिखलाया गया है कि– 'हे प्राणी! समझ ले, पहले ही सावधान हो ले। देख, नरक के जीवों को कितना कष्ट होता है।'

नरक के दुःखों का वर्णन देखकर आत्मा सचेत हो जाये इसीलिए श्री गौतम स्वामी ने नरक का वर्णन पूछा है और भगवान् ने नरक का वर्णन किया है। भगवान् महावीर ने नरक का वर्णन ही नहीं किया है, अपितु नरक को अपना पुराना घर बतलाया है। उन्होंने गौतम से कहा है कि– हे गौतम! मैं और तू दोनों नरक में भी गये हैं और स्वर्ग में भी गये हैं। संसार की कोई योनि शेष नहीं, जिसमें संसारी जीव अनेक बार न भटक आया हो। असंख्य काल ऐसी स्थितियों में व्यतीत किया है। ऐसा विचार कर समय भर का भी प्रमाद न करो।

मित्रों! आपको भी यही बात सोचनी चाहिए। अगर आप इस ओर ध्यान न देंगे तो याद रखिए, नरक का द्वार अभी तक खुला हुआ है। वह बन्द नहीं हुआ है।

यहां एक बात लक्ष्य देने योग्य है। भगवान् ने प्रत्येक उत्तर के प्रारम्भ में 'हे गौतम!' इस प्रकार संबोधन किया है। सिर्फ उत्तर ही न देकर सम्बोधन करने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि भगवान् ने ऐसा करके हमें शिष्य को उत्तर देने की विधि बतलाई है। जिस शिष्य ने प्रश्न पूछा है, उत्तर देते समय उस शिष्य का नाम लेने से, शिष्य के हृदय में आदर–बुद्धि उत्पन्न होती है। शिष्य के प्रति यह मृदुतापूर्ण व्यवहार को सूचित करता है।

अगर कोई प्रश्न करे कि गुरु को शिष्य के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये? तो इसका उत्तर होगा– जैसे भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी के प्रति किया था।

शिष्य को सम्बोधन करने से एक बात और होती है। इससे शिष्य का उत्साह बढ़ता है और शिष्य बारम्बार प्रश्न पूछता है। गुरु शिष्य का नाम लेकर उत्तर देता है, इससे प्रश्न का निर्णय भी ठीक घटता है और वचन आदरणीय हो जाता है।

भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तर से ऐसा लक्षित होता है, मानों दोनों में पिता–पुत्र का संबंध था। गौतम ने भगवान् से बालक की तरह प्रश्न किये हैं और भगवान् ने गौतम के प्रश्नों का उत्तर उसी भांति दिया है, जैसे पिता, पुत्र की बात का उत्तर देता है। पिता अपने पुत्र की तोतली

बोली की त्रुटि से नहीं खीझता, वरन् उसकी जिज्ञासावृत्ति को जानकर प्रसन्न होता है।

किसी एम.ए. परीक्षोत्तीर्ण अध्यापक के पास अगर कोई छोटा बालक कुछ पूछने जाता है, तब वह अध्यापक अगर उसे उच्च श्रेणी की विद्या सिखलाने लगे तो वह उस बालक के क्या काम की?

आज बालकों के दिमाग में उनकी शक्ति से अधिक शिक्षा भरी जाती है। बालक के संरक्षक चाहते हैं कि उनका बेटा शीघ्र से शीघ्र बृहस्पति बन जाए। मगर इस हवस का परिणाम जो हो रहा है वह स्पष्ट है। बालक के मस्तिष्क पर अधिक बोझ लादने से उसकी शक्तियां क्षीण हो जाती हैं और वह अल्पायुष्क हो जाता है। शास्त्रकारों ने इसीलिए कहा है कि जब तक बालक आठ वर्ष का न हो जाये, तब तक उसे अक्षर-ज्ञान न दिया जाये। प्राचीन काल में इस अवस्था तक बालक को वही ज्ञान दिया जाता था, जो आंख और कान द्वारा दिया जा सके। आंख और कान द्वारा शिक्षा देने के लिए ही बालक के पास अठारह देशों की दासियां रखी जाती थीं।

अगर एम.ए. अध्यापक किसी बालक को शिक्षा देना चाहेगा तो उसे भी उस बालक के साथ बालक बनना होगा। वह बालक से जो उच्चारण कराना चाहेगा, वही उसे स्वयं करना होगा। भक्त तुकाराम ने कहा है–

अर्भकाचे साठी, पन्ते हाथात धर ली पाटी।

अर्थात्– ईश्वर हमें उसी तरह ज्ञान सिखलाता है जिस प्रकार बालक के लिए अध्यापक स्वयं पट्टी उठाता है और स्वयं ही उच्चारण करता हुआ 'क' 'ख' लिखता है।

तात्पर्य यह है कि जब किसी बालक को सिखाना होता है तब सिखाने वाले को भी बालक की चाल चलनी पड़ती है। जब शिक्षक पहले बालक की चाल चलेगा तो आगे चलकर बालक भी शिक्षक की चाल चल सकेगा और तभी शिक्षक बालक को कुछ सिखा सकेगा।

माता, पहले-पहल बालक की उंगली पकड़ कर उसे चलाना सिखलाती है। तब वह स्वयं बालक की चाल में चलती है। अगर ऐसा न किया जाये और माता, बालक को अपनी चाल में चलाने का प्रयत्न करे तो काम नहीं चल सकता।

सारांश यह है कि भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तर पिता-पुत्र के सम्बन्ध की तरह है। कहां तो भगवान का अनन्त ज्ञान और कहां उनसे किये जाने वाले ये छोटे छोटे प्रश्न? लेकिन भगवान् अगर इन छोटी

बातों का ज्ञान गौतम स्वामी को न देते तो आज यह हमारी समझ में कैसे आती?

बच्चे को चलाने के लिए माता, बच्चे की चाल में चले, फिर भी बच्चा अगर बैठ ही जाये– चले ही नहीं, तो इसके लिए माता क्या करेगी? इसी प्रकार भगवान् ने हम लोगों को यह ज्ञान दिया है, लेकिन अगर हम लोग इसे अपने ध्यान में ही न लें, तो इसके लिए दूसरा कोई क्या कर सकता है? यह तो हमारा ही अपराध है।

भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी का नाम दोहराकर यह सिखाया है कि अगर दूसरों को शिक्षा देनी है तो सादे और सुगम बनो। साथ ही भगवान् ने शिष्यों को यह समझाने का प्रयत्न किया है कि जो गुरु तुम्हारे लिए अपनी महत्ता का भी त्याग करते हैं, उनकी बात पर ध्यान दो। भक्त तुकाराम ने एक जगह कहा है कि परमात्मा का वर्णन करने की ताकत मेरी जबान में नहीं है। उसने बड़ी से बड़ी शक्ति को भी छोटी करके हमारे लिए व्यवहार किया है।

संसार में पारस उत्तम और लोहा नीच माना जाता है लेकिन पारस अपना बड़प्पन छोड़कर, लोहे का संसर्ग करके उसे सोना बना देता है। इसी में पारस की महिमा हैं।

यही बात उन महात्मा के विषय में कही जा सकती है जो तीन ज्ञान लेकर जन्मे ही थे और दीक्षा धारण करते ही उन्हें चौथा मनःपर्याय ज्ञान भी प्राप्त हो गया था और कुछ वर्षों बाद सर्वज्ञता प्राप्त हो गई थी, जिनके दर्शन के लिए इन्द्र भी लालायित रहता था। इस प्रकार की लोकोत्तर महिमा से मंडित श्रमण भगवान् महावीर स्वामी संसारी जीवों के कल्याण के लिए ग्रामों और नगरों में फिरते और उन्हें सुख का मार्ग दिखलाते थे, नगर निवासियों का रहन सहन तो उच्च कोटि का होता है, पर बेचारे ग्रामीणों का वैसा कहां? फिर भी भगवान् ने उन ग्रामीणों से घृणा नहीं की और अपने गौरव की परवाह न करके उनका उद्धार करने हेतु उनके पास पहुंचे।

मित्रों! गरीबों पर घृणा आना ही नरक है। संसार की ऐसी स्थिति हो रही है कि जो धन पैतृक है, उसकी अस्थिरता बैंकों के बंद होने से दिखाई दे रही है, फिर भी सुकृत नहीं सूझता। लक्ष्मी और जीवन की चपलता को जानते हुए भी लोगों के जीवन का एक मात्र साध्य धन बन रहा है।

गौतम स्वामी ने श्वासोच्छ्वास के पश्चात् नारकी जीवों के आहार के विषय में प्रश्न किया है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने बतलाया

है कि नरक के जीवों को भी आहार की इच्छा होती है। तत्पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं 'नरक के जीव आहार किस प्रकार लेते हैं?' भगवान् ने कहा–प्रज्ञापना सूत्र में आहार नामक अट्ठाइसवां पद है। उसके पहले उद्देशक में इस विषय का वर्णन किया गया है। उसमें नरक के जीवों के अतिरिक्त अन्यान्य जीवों के भी आहार का वर्णन किया गया है।

साधारणतया विचार करने से यह समझ में नहीं आता कि ऐसे–ऐसे प्रश्नोत्तर करने से गौतम स्वामी और भगवान् महावीर ने क्या लाभ सोचा होगा? उन्हें नरक के जीवों के आहार को जानने एवं बताने की क्या आवश्यकता थी? लेकिन भगवान् ने नरक के जीवों के आहार के 40 द्वार बतलाये हैं। यह उन महान् पुरुष की असीम करुणा है। जिन जीवों के आहार का वर्णन किया है, उन्हें चाहे अपने आहार की बात इतनी स्पष्ट रूप से ज्ञात न हो, लेकिन ज्ञानियों की दृष्टि से वह छिपी नहीं है। उन्होंने अज्ञजनों को समझाने के लिए यह सब वर्णन किया है।

प्रश्न–नारकी जीवों के आहार के संबंध में पण्णवण्णा सूत्र का जहां उल्लेख किया है, वहां पद का उल्लेख न करके सीधा आहारोद्देशक क्यों कहा गया है? पहले पद बतलाना उचित था, फिर उसके साथ उद्देशक का कथन करना ठीक रहता।

उत्तर– यहां पद लोपी समास हुआ है। इस समास के कारण 'पद' शब्द का लोप हो गया है तथापि 'पद' शब्द का अर्थ विद्यमान समझना चाहिए।

पण्णवण्णा सूत्र में आहार–विषयक जो वर्णन आया है, उसका सामान्य दिग्दर्शन शास्त्रकार ने निम्नलिखित गाथा में किया है।

ठिई उस्सासाऽऽहारे, किं वाऽऽहारेंति सव्वओ वावि।
कइभागं सव्वाणि व, कीस वा भुज्जो परिणमंति?।।

इस संग्रह–गाथा में उन चालीस द्वारों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है।

भगवान ने गौतम स्वामी से कहा कि नारकी जीव भी आहार के अर्थी हैं। यहां आहार के अर्थी के दो अर्थ शास्त्रकारों ने किये हैं। जिसे आहार की इच्छा हो, वह आहारार्थी कहलाता है और आहार ही जिनका प्रयोजन हो वह भी आहारार्थी कहलाते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न और भगवान महावीर के उत्तर से तत्व यह निकला कि निकृष्ट से निकृष्ट योनि में पड़े हुए जीव को भी आहार की आवश्यकता पड़ती है। जहां शरीर है वहां आहार अनिवार्य है।

नरक दुर्गन्धमय है। वहां रक्त–पीव आदि घोर अशुचिमय पदार्थ भरे हुए हैं। वहां की भूमि इतनी त्रासजनक है कि उसका स्पर्श करते ही ऐसी वेदना होती है, मानो एक साथ हजार बिच्छूओं ने काट खाया हो। ऐसी भूमि में रहने वाले नारकी जीव क्या आहार करते होंगे? भगवान से गौतम स्वामी ने इस अभिप्राय से यह प्रश्न पूछा है कि–नरक में और कोई वस्तु तो है नहीं, फिर क्या जो अशुचिमय वस्तु नरक में है, उसी को नारकी जीव खाने की इच्छा करता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं–हां, गौतम ! नरक के जीव खाने की इच्छा करते हैं। नारकी इस कनिष्ठ अवस्था में पड़े हुए हैं और नरक में रक्त पीव आदि वस्तुएं ही हैं तथापि वे इस आहार के लिए प्रार्थना करते हैं।

सुसंस्कारी पुरुष जिस वस्तु से घृणा करते हैं, उसी को संस्कार विहीन या नीच प्रकृति के लोग बड़े उत्साह से खाते–पीते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। जब मनुष्य–लोक में ही इतना महान् रुचि–वैचित्र्य देखा जाता है, तो नरक का क्या पूछना है? वहां के जीव निकृष्ट वस्तुओं के आहार की याचना करें, यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

मैं एक बार पन्नवेल गया था। वहां जब जंगल जाता तो जिन मच्छियों को मारकर सुखाया गया था, उनकी दुर्गन्ध आती थी। दुर्गन्ध इतनी उग्र थी कि खड़ा रहना कठिन होता था। उन मच्छियों में से बाम नाम की मच्छी तो और भी अधिक बदबू देती थी। मैंने सोचा जिन मच्छियों से ऐसी असह्य दुर्गन्ध निकलती है, उन्हें भी लोग बड़े चाव से खा जाते हैं। वह बाम मछली जो अतिशय बदबूदार होती है, उसके विषय में लोगों का कहना है कि खाने वाले लोग बाम मछली को ऐसी रुचि से खाते हैं जैसे दूसरे लोग मिठाई खाते हैं। इस प्रकार मनुष्य प्राणी भी उस चीज को रुचिपूर्वक पेट में डाल लेते हैं जिसके पास खड़ा भी नहीं रहा जाता। गांधीजी ने एक पुस्तक में तो यहां तक लिखा है कि किसी देश के निवासी विष्ठा भी खा जाते हैं।

जब मनुष्य अनेक प्रकार के उत्तम एवं स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों के रहते हुए भी ऐसी–घृणास्पद नीच वस्तुएं खा जाते हैं और उसमें सुख का अनुभव करते हैं तो नरक के जीवों का भूख के असह्य दुःख से व्याकुल हो जाने पर अशुचिमय पदार्थों को खाने में सुख मानना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। लेकिन ज्ञानीजन कहते हैं कि मान लेने से ही सुख नहीं हो जाता। इस प्रकार माना हुआ सुख वस्तुतः दुःख रूप है। जीव सुख की भ्रान्ति से ही बाह्य भोजन की इच्छा करता है लेकिन वास्तविक सुख वह है जिसमें

ब्राह्य भोजन की आकांक्षा ही न हो, यही नहीं वरन् किसी भी पर पदार्थ के संयोग की इच्छा न रह जाये। तभी सच्चा सुख प्राप्त होता है।

भगवान ने गौतम स्वामी से कहा कि नरक के जीवों के आहार के सम्बन्ध में पण्णवण्णा सूत्र के 28 वें पद में जो वर्णन किया है, वही वर्णन यहां भी समझ लेना चाहिए।

पण्णवण्णा सूत्र में नरक आदि के जीवों का आहार वर्णन छोटे–छोटे हिस्सों में किया गया है। उन हिस्सों को द्वार कहते हैं। उन द्वारों में नरक के जीवों के आहार के साथ दूसरे जीवों का आहार भी बतलाया गया है तथा आहार–विषयक और–और बातें भी वहां बतलाई गई हैं। यहां नारकी जीवों के आहार के विषय में ही पण्णवण्णा के अनुसार दिग्दर्शन कराया जाता है।

पण्णवण्णा सूत्र में गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं कि–हे भगवन्! अगर नारकी जीव आहारार्थी हैं तो कितने समय में उन्हें आहार की इच्छा होती है? अर्थात् एक बार आहार कर लेने के पश्चात् कितने समय बाद उन्हें आहार की अभिलाषा होती है।?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फरमाते हैं–हे गौतम! नरक के जीवों का आहार दो प्रकार का है–(1) आभोगनिर्वर्त्तित और (2) अनाभोगनिर्वर्त्तित। खाने की बुद्धि से जो आहार किया जाता है, वह आभोगनिर्वर्त्तित आहार कहलाता है और आहार की इच्छा न होने पर भी जो आहार होता है, वह अनाभोगनिर्वर्त्तित आहार कहलाता है।

यहां आहार का प्रकरण होने से आहार के विषय में ही यह कहा गया है कि इच्छा न होने पर भी आहार होता है। मगर यह कथन अन्य क्रियाओं के सम्बन्ध में भी लागू होती है। इच्छा के बिना अन्यान्य कार्य भी प्रकृति के नियमानुसार होते रहते हैं। छद्मस्थ–अवस्था जब तक बनी हुई है, या जब तक यह स्थूल शरीर विद्यमान है, तब तक अनाभोगपूर्वक कार्य होते रहते हैं। इन कार्यों में कुछ अनजान में होते और कुछ जानकारी में होते हैं। हां, अपनी इच्छाओं को नियंत्रण करते रहने से और अच्छे कार्यों में निरंतर संलग्न रहने से अनाभोग आहार कम अवश्य हो सकता है।

प्रश्न–अनाभोग आहार अर्थात् अनजान में इच्छा न होते हुए भी होने वाला आहार कैसे सम्भव है?

उत्तर–मनुष्य यह नहीं चाहता कि मेरे शरीर पर रज लगे या मेरे भोजन में गंदगी आवे, लेकिन जब आंधी चलती है तो शरीर पर रज लग ही जाती है और भोजन में भी वह आ जाती है। जब कोई बीमारी फैलती है तब

डाक्टर कहते हैं–खान–पान में सावधान रहो, गंदगी मत होने दो और दूसरे खराब परमाणुओं को अपने शरीर में प्रवेश मत होने दो। यद्यपि डाक्टर को रोग मिटाना अभीष्ट है लेकिन वह गंदगी से बचने की बात कहता है। इससे यह स्पष्ट है कि शरीर में गंदगी जाती है। ऐसा न होता तो डाक्टर को मनाही करने की क्या आवश्यकता होती?

यद्यपि गंदगी खाने की इच्छा कोई करता नहीं है तथापि किसी न किसी कारण से गंदगी खाने में आ ही जाती है। इसी प्रकार इच्छा न होने पर भी शरीर के आसपास घूमने वाले परमाणु आहार में आ जाते हैं।

इसी आधार पर अन्यान्य क्रियाओं पर विचार करने से प्रतीत होता है, किस प्रकार इच्छा के अभाव में भी अनेक कार्य होते रहते हैं।

गौतम स्वामी का मूल प्रश्न है–आहार के समय की मर्यादा का, पर भगवान ने फरमाया– आहार दो प्रकार का होता है। इन दोनों प्रकार के आहारों में से अनाभोगआहार तो निरन्तर–प्रतिक्षण होता रहता है। एक समय भी ऐसा व्यतीत नहीं होता जब यह आहार न होता हो। यह आहार बुद्धिपूर्वक–संकल्प द्वारा नहीं रोका जा सकता। दूसरा इच्छापूर्वक जो आहार होता है, उसकी इच्छा कम से कम असंख्यात समय में होती है।

प्रश्न–असंख्यात समय कहने से काल की कोई निश्चित मर्यादा नहीं प्रतीत होती। एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल में भी असंख्यात समय होते हैं और आंख बंद कर खोलने में भी असंख्यात समय होते हैं। ऐसी अनिश्चित संख्या बतलाने से क्या समझना चाहिए?

उत्तर–यहां असंख्यात समय एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण लेना चाहिए। अर्थात् नारकी जीवों को अन्तर्मुहूर्त्त में आभोग निर्वर्त्तित आहार की इच्छा होती है।

एक दिन–रात में 30 मुहूर्त होते हैं। मुहूर्त्त–प्रमाण समय में कुछ कम समय को अन्तर्मुहूर्त करते हैं। अन्तर्मुहूर्त्त में असंख्यात समय होते हैं। इस असंख्यात समय वाले अन्तर्मुहूर्त्त के भी असंख्य भेद हैं। किसी अन्तर्मुहर्त्त में थोड़ा समय होता है और किसी में ज्यादा होता है। लेकिन असंख्यात समय किसी अन्तर्मुहूर्त्त के सिवाय दूसरे को नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न–नारकी जीवों को अन्तर्मुहूर्त में आहार की इच्छा होती है तो क्या इतनी देर तक उनकी भूख मिटी रहती है? इतनी देर वे तृप्त रहते हैं।

उत्तर–ऐसा नहीं हैं, छद्मस्थ को एक इच्छा के बाद जब दूसरी इच्छा होती है तो उसमें असंख्यात समय लग ही जाते हैं 'क' अक्षर का

उच्चारण करने के बाद 'ख' का उच्चारण करने की इच्छा होने में ही असंख्यात समय बीत जाते हैं। इस नियम के अनुसार यद्यपि नारकी जीव को कभी तृप्ति नहीं होती, फिर भी एक बार इच्छा करने के बाद दूसरी बार इच्छा करने में ही असंख्य समय लग जाते हैं।

नरक के जीव मवाद—मांस आदि पुदगलों का आहार करते हैं, जब वे आहार करते हैं तब भी उनकी भूख नहीं मिटती—उन्हें तृप्ति नहीं होती किन्तु फिर खाने की इच्छा होने में असंख्यात समय लग जाते हैं। शास्त्रकारों ने नारकी जीवों की भूख मिट जाने की बात नहीं कही है किन्तु यह कहा है कि उन्हें असंख्यात समय में भोजन की इच्छा होती है। सिर्फ इस अभिप्राय से कहा है कि एक इच्छा के पश्चात् तत्काल ही दूसरी इच्छा होने में असंख्यात समय लग जाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि अगर नारकी जीव आहार करते हैं तो किस वस्तु का आहार करते हैं?

यह पंचम द्वार का प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फरमाया है—हे गौतम! नरक के जीव द्रव्य की अपेक्षा अनन्त प्रदेश वाले पुदगलों का आहार करते हैं, पुदगल का सबसे छोटा अविभाज्य अंश—जो खुला रहता है अर्थात् बिल्कुल अलग होता है परमाणु कहलाता है और वही अंश जब जुडा रहता है तो प्रदेश कहलाता है। जो पुद्गल अनन्तप्रदेशी होकर भी सूक्ष्म स्कंध रूप होता है, वह आकाश के एक प्रदेश में समा सकता है। यहां ऐसे सुक्ष्मस्कंध से अभिप्राय नहीं है। किन्तु बादर अनन्त प्रदेशी स्कंध से तात्पर्य समझना चाहिए।

नारकी जीव काल की अपेक्षा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति वाले पुदगलों में से किन्हीं भी पुदगलों का आहार करते हैं।

नारकी जीव भाव की अपेक्षा वर्ण वाले, गंध वाले, रस वाले और स्पर्श वाले पुदगलों का आहार करते हैं।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! नारकी वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं, तो एक ही वर्ण के पुद्गलों का आहार करते हैं या पंच वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फरमाया है—हे गौतम! नारकी पांचों वर्ण वाले पुदगलों का आहार करते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में सामान्य और विशेष की विवक्षा की गई है। सामान्य को स्थानगमन भी कहते हैं और विशेष का विधनगमन नाम भी है। स्थानगमन अर्थात् सामान्य की अपेक्षा एक वर्ण

वाले पुद्गल का भी आहार करते हैं। और दो वर्ण वाले पुद्गल का भी आहार करते है। विधानगमन अर्थात विशेष की अपेक्षा से अशेष—पांचों प्रकार के पुद्गलों का आहार करते हैं।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन! आपने काले पुदगलों का आहार करना कहा है तो नारकी जीव एक गुण काले पुदगल का आहार करते हैं या दस गुण काले पुद्गल का आहार करते हैं या संख्यात, असंख्यात अनन्त गुण काले पुदगल का आहार करते है?

भगवान ने उत्तर दिया—गौतम! निश्चय में कोई एक गुण काला होता है, कोई दो गुण काला होता है, कोई दस गुण काला, कोई असंख्यात गुण काला, कोई अनन्त गुण काला होता है, नारकी जीवों के आहार में एक गुण काले पुद्गल भी होते हैं, दस गुण काले भी और असंख्यात तथा अनन्त गुण काले भी होते हैं।

यहां काले पुद्गलों के सम्बन्ध में जो कथन किया गया है, वही अन्य वर्ण वाले पुदगलों के विषय में तथा रस एवं गंध आदि के विषय में भी समझ लेना चाहिए। यहां तक अट्ठारह द्वार पूर्ण हो जाते हैं।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी ने स्पर्श की अपेक्षा प्रश्न किया है। उत्तर— में भगवान ने फरमाया है—एक स्पर्श वाले, दो स्पर्श वाले और तीन स्पर्श वाले पुदगलों का नारकी जीव आहार नहीं करते। कारण यह है कि एक स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करना असम्भव है और दो तथा तीन स्पर्श वाले पुदगल अल्प प्रदेशी और सूक्ष्म परिणमन वाले होने के कारण ग्रहण के योग्य नहीं हैं। अतएव चार स्पर्श वाले पुद्गल से लगाकर आठ स्पर्श वाले पुदगलों तक का आहार करते हैं यह पुदगल बहुप्रदेशी और बादर परिमाण वाले होने से ग्रहण करने योग्य होते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि एक गुण काला और अनन्तगुण काला कहने का क्या अभिप्राय है? इसका उत्तर यह है कि 'गुण' शब्द से यहां डिगरी या अंश अर्थ समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—किसी वस्त्र को काला रंगने के लिए एक बार काले रंग में डुबोया। एक बार डुबोने से वस्त्र में एकगुण(अंश डिगरी) कालापन आया। इस वस्त्र को एक गुण काला कहेंगे। इसी प्रकार असंख्यात बार डुबोया तो वह असंख्यात गुण काला कहलाएगा। असंख्यात गुण काला हमें प्रतीत नहीं होता। उसे विशिष्ट ज्ञानी ही जान पाते हैं।

इस प्रकार का सूक्ष्म वस्तु—तत्त्व निरूपण जैन शास्त्रों में ही पाया जाता है अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इस का कारण यह है कि जिसने

जाना देखा, उसने वर्णन किया। जिसने जाना, देखा ही नहीं, वह वर्णन कैसे कर सकता है?

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया भगवन्! नारकी एक गुण खुरदरे पुद्‌गल का आहार करते हैं, या असंख्यातगुण खुरदरे का अथवा अनन्त गुण खुरदरे पुद्‌गल का?

भगवान ने फरमाया—गौतम! सभी प्रकार के खुरदरे पुद्‌गल का आहार करते हैं।

आहार के विषय में यह बीस प्रश्न हुए। स्पर्श आठ हैं उनमें से एक स्पर्श के विषय में प्रश्न और उत्तर है। शेष सात स्पर्शों के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। अतः कुल सत्ताईस प्रश्न और सत्ताईस उत्तर हुए।

गौतम स्वामी—भगवन! नारकी जीव स्पर्श किये जा सकने वाले —छूने में आ सकने योग्य पुद्‌गलों का आहार करते हैं या स्पर्श न किये जा सकने योग्य पुदगलों का?

भगवान—हे गौतम! स्पर्श किये जा सकने योग्य पुदगलों का ही आहार करते हैं, जो पुद्‌गल छुए नहीं जा सकते, उनका आहार नहीं करते।

स्पृष्ट पुदगल दो प्रकार के होते हैं। अवगाढ अर्थात् जिन प्रदेशों में आत्मा हो, उन्हीं प्रदेशों में रहे हुए पुद्‌गल और अनवगाढ अर्थात भिन्न प्रदेशों में रहे हुए पुद्‌गल। इन दो प्रकार के पुद्‌गलों में से नारकी जीव किस प्रकार के पुद्‌गलों का आहार करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि नारकी जीव अवगाढ पुदगलों का आहार करते हैं अनवगाढ का नहीं । तात्पर्य यह है कि जो पुदगल शरीर के सम्बन्ध में तो आये लेकिन आत्मा के साथ एकमेक नहीं हुए उनका आहार नहीं किया जा सकता।

गौतम स्वामी—भगवन! नारकी जीव अगर अवगाढ पुदगलों का आहार करते हैं तो साक्षात अवगाढ पुदगलों का आहार करते हैं, या परम्परा अवगाढ पुदगलों का?

भगवान—हे गौतम! साक्षात अवगाढ पुदगलों का आहार करते हैं परम्परा—अवगाढ पुदगलों का नहीं।

गौतम स्वामी—भगवन्! क्षेत्र से साक्षात् अवगाढ पुद्‌गलों का आहार करते हैं या काल से साक्षात् अवगाढ पुद्‌गलों का?

भगवान महावीर— दोनों से।

गौतम—भगवन्! नारकी जीव अगर साक्षात् अवगाढ पुद्‌गलों का आहार करते हैं, परम्परा—अवगाढ पुद्‌गलों का नहीं करते तो वे छोटे पुदगलों का आहार करते हैं या बडे पुद्‌गलों का?

हे गौतम! छोटे पुद्गलों का भी और बड़े पुद्गलों का भी। यहां आशंका की जा सकती है कि छोटे और बडे पुदगल से क्या तात्पर्य समझना चाहिए? छोटापन और बडापन सापेक्ष है। यह बड़ा और यह छोटा है, यह नियत नहीं। जो किसी की अपेक्षा छोटा है वही दूसरी अपेक्षा से बडा होता है और जो एक अपेक्षा से बडा है वह दूसरी अपेक्षा से छोटा भी होता है। इस प्रकार छोटापन और बडापन सापेक्ष है अतएव अनियत है।

नरक के जीव जिन पुद्गलों का आहर करते हैं, उनमें से कोई एक पुद्गल अगर दूसरे से एक प्रदेश भी बडा है तो वह बडा कहलायेगा। जो अधिक प्रदेश बडा है, वह भी बड़ा कहलायेगा, वह उस बड़े से भी बड़ा कहलायेगा, मगर इस अधिक बड़े की अपेक्षा वह बड़ा भी छोटा कहा जा सकता है। पहली उंगली दूसरी की अपेक्षा छोटी है। दूसरी बड़ी है। मगर तीसरी की अपेक्षा यह दूसरी भी छोटी है। यही बात प्रत्येक वस्तु के विषय में समझी जा सकती है।

गौतम स्वामी–भगवन्! नरक के जीव जिन छोटे–बडे पुदगलों का आहार करते हैं, वे ऊंची दिशा से आये हुए होते हैं? नीची दिशा से आये हुए होते हैं? या तिरछी दिशा से आये हुए होते हैं?

भगवान हे गौतम! नरक के जीव तीनों दिशाओं से आये पुदगलों का आहार करते हैं।

यहां गौतम स्वामी ने तीन ही दिशाओं को लेकर प्रश्न किया है। उर्ध्व दिशा और अधो दिशा तो है ही, तिरछी दिशा में चारों ही दिशाओं का समावेश हो जाता है।

सूर्य जिस ओर निकलता है उस ओर मुंह करके खड़ा होने से मुंह के सामने की दिशा पूर्व दिशा होगी। दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण दिशा, बायें हाथ की ओर उत्तर दिशा और पीठ की तरफ पश्चिम दिशा होगी। ऊपर की ओर ऊर्ध्व दिशा और नीचे की तरफ अधोदिशा कहलाएगी। ये दिशाएं मेरु के हिसाब से नहीं हैं किन्तु अपने हिसाब से हैं। गौतम स्वामी ने जिन तीन दिशाओं को लेकर प्रश्न किया है, वे नरक की अपेक्षा हैं।

गौतम–भगवन्! अगर नरक के जीव तीनों दिशाओं के पुद्गलों का आहार करते हैं, तो आदि समय में आहर करते हैं, मध्य समय में आहार करते हैं, या अन्त समय में आहार करते हैं।

भगवन्–हे गौतम! तीनों समयों में आहार करते हैं। अर्थात् आभोगनिर्वर्त्तित आहार को आदि समय में भी ग्रहण करते हैं, मध्य समय में और अन्तिम समय में भी ग्रहण करते हैं।

यहां यह शंका हो सकती है कि पहले यह कहा जा चुका है कि नारकी अनन्तर अवगाढ पुदगलों का आहार नहीं करते। मगर यहां आदि समय में आहार करना कहा है यह अनन्तर अवगाढ हो जाता है। ऐसी स्थिति में पूर्वापर–विरोध दोष आता है। इस शंका का सामाधान यह है कि दोनों कथनों में विरोध नहीं है। पूर्व कथन ऋजु सूत्रनय की अपेक्षा से है और यह कथन व्यवहारनय से किया गया है अनाभोगनिर्वर्त्तित आहार का तो यहां प्रकरण ही नहीं है,आभोगनिर्वर्त्तित आहार का प्रकरण है। आभोगनिर्वर्त्तित आहार के अन्तर्मुहूर्त में तीन भाग करने चाहिएं। यह तीन भाग आदि, मध्य और अन्त के होंगे। आहार के भाग न करके काल के भाग करने चाहिएं। और काल के साथ आने वाले आहार का आदि, मध्य और अवसान को समझो। इस प्रकार समझने से तनिक भी विरोध न होगा। ऋजुसूत्रनय यही कहेगा कि आदि का आहार करना है क्योंकि उसके हिसाब से जो काम में आ रहा है, वह आदि ही है। किन्तु व्यवहारनय के मत से तीनों ही समयों में आहार कहलाएगा। जैन शास्त्र किसी भी एक नय को स्वीकार न करके सभी नयों को स्वीकार करता है । यहां तक तैतीस द्वारों का वर्णन हुआ।

गौतम स्वामी–भगवन्! जो आदि मध्य और अन्त समय में आहार करता है, वह स्वविषय में आहार करता है, अस्वविषय में आहार करता है?

हे गौतम! स्व विषय में आहार करता है, अस्वविषय में नहीं करता है।

स्वविषय क्या है? और अस्वविषय किसे कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि अपना स्पृष्ट, अवगाढ़ और अनन्तरावगाढ़ रूप विषय, स्वविषय कहलाता है अर्थात् ऐसे पुद्गलों का आहार करना स्वविषय कहलाता है। और इससे विपरीत अस्वविषय कहलाता है।

गौतम स्वामी–भगवन्! स्वविषय में जिन पुद्गलों का आहार नारकी करते हैं। वह आनुपूर्वी से या बिना ही आनुपूर्वी से? अर्थात् क्रम से या अक्रम से?

पांच उँगलियों में से क्रमपूर्वक एक के पश्चात् दूसरी का ग्रहण करना आनुपूर्वी से ग्रहण करना कहलाता है और बीच की किसी उंगली को छोड़कर आगे वाली को ग्रहण करना बिना आनुपूर्वी के ग्रहण करना कहलाता है।

भगवान्–हे गौतम! आनुपूर्वी क्रम से पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, आनुपूर्वी से नहीं।

गौतम स्वामी–भगवन्! नारकी जीव आनुपूर्वी से पुद्‌गलों का आहार करते हैं तो किस दिशा के पुद्‌गलों का आहार करते हैं? पूर्व आदि में से किसी एक दिशा में स्थित पुद्‌गलों का या छहों दिशाओं में स्थित पुद्‌गलों का?

भगवान्– हे गौतम! नियम से छहों दिशाओं में स्थित पुद्‌गलों का आहार करते हैं।

इस प्रश्नोत्तर को किंचित् स्पष्ट करने की आवश्यकता है। नरक के जीव चौदह राजू लोक के मध्यवर्ती हैं और मध्यवर्ती होने से छहों दिशाएं लगती हैं। त्रसनाड़ी के बाहर के जीव के आहार की तीन, चार, पांच या छह दिशाएं भी होती हैं। पृथ्वीकाय का जीव लोक के कोने में जाकर आहार करता है तो तीन दिशाओं का आहार करता है। इसी प्रकार दो तरफ अलोक और चार तरफ लोक हो तो चार दिशाओं के पुद्‌गलों का आहार होता है। पांच ओर लोक हो तो पांच दिशाओं के पुद्‌गलों का, और मध्य में छहों दिशाओं के पुद्‌गलों का आहार हो जाता है।

पहले वर्ण का साधारण वर्णन किया जा चुका है। यहां उसके अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

भगवान् कहते हैं– हे गौतम! यह आहार का समुच्चय वर्णन किया गया है। अब नरक योनि और असुरयोनि के जीवों के आहार का अन्तर बतलाते हैं। नरक के जीव जो आहार करते हैं, वह वर्ण से काला और नीला होता है। गंध से दुर्गन्ध युक्त होता है। रस से तिक्त और कटुक होता है। स्पर्श की अपेक्षा भारी, खुरदरा, शीत और रूखा होता है।

निश्चय में यद्यपि पांचों वर्ण विद्यमान है, तथापि व्यवहार में काले और नीले वर्ण का आहार करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। यहां जो वर्ण रस, गंध और स्पर्श बतलाये गये हैं, वह सब अशुभ समझना चाहिए।

नरक के जीवों के आहार में भेद भी हैं। पहले नरक के जीव जिस प्रकार का आहार करते हैं, दूसरे नरक वाले दूसरी ही तरह का करते हैं। इसी तरह आगे के नरकों का समझ लेना चाहिए।

साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि नरक के आहार का यहां जो वर्णन किया गया है। वह मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा है। भावी तीर्थंकर की अपेक्षा यह वर्णन नहीं है।

नरक का जो वर्णन ऊपर किया गया है, वह यद्यपि सत्य है; तथापि यह भी सत्य है कि जब उपादान अच्छा होता है तो बुराई में से भी अच्छाई निकल आती है। भावी तीर्थंकर पहले से लेकर तीसरे नरक तक रह सकते

हैं और चरम शरीरी अर्थात् पहले ही मनुष्य भव में मोक्ष जाने वाले जीव चौथे नरक में भी रहते हैं। लेकिन भावी तीर्थंकर का, तीर्थंकर गोत्र का आयुष्क नरक में ही बंधता है तो वे उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आहार–पुद्गल खींचते हैं। यद्यपि उत्कृष्ट आहार–पुद्गल उनके लिए बाहर से वहां नहीं पहुंचते हैं, लेकिन नरक योनि के पुद्गलों में से ही वे ऐसे उत्तम पुद्गल ग्रहण करते हैं, जिनसे उनका दिव्य शरीर बनेगा।

भावी तीर्थंकरों ने तीर्थंकर गोत्र की जो सामग्री मनुष्य जन्म में बांधी उसके साथ ही दूसरे नरक की भी सामग्री उपार्जित की। नरक की इस सामग्री से ही वे नरक गये हैं। उनका तीर्थंकर गोत्र का आयुष्क नरक में ही बंधेगा।

नरक के जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, वह अशुभ और घृणित होते हैं; लेकिन सम्यग्दृष्टि और भावी तीर्थंकर अशुभ में से भी शुभ को खींचकर आहार करते हैं। अशुभ पुद्गलों में शुभ पुद्गल उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं, जैसे मालवा की काली मिट्टी में हिंगलु के समान लाल जानवर रहते हैं। मिट्टी तो काली और खुरदरी होती है, मगर उसमें वह जानवर लाल और मुलायम होता है। तात्पर्य यह है कि उपादान अगर समर्थ हो तो वह अशुभ में से भी शुभ को खींच सकता है।

दुर्गन्ध वाला विष्ठा खेतों में पड़ता है, मगर उससे होने वाला गुलाब दुर्गन्ध वाला नहीं, सुगन्ध वाला होता है। प्रकृति से प्रत्येक पदार्थ दूसरे की ओर खिंचता है, मगर जिसमें बल होता है, वह खींच लेता है।

गुलिश्तां में एक कहानी है। एक बार बादशाह के हमामखाने में मिट्टी आई। उस मिट्टी से खुशबू आ रही थी। पूछताछ करने पर पता लगा कि इस मिट्टी पर सुगंधित फूल खिले थे। और वे सूखकर इस पर गिरे। यह खुशबू उन्हीं से आई है। बादशाह ने उन फूलों को भी मंगवाया। उन फूलों में फूलों की ही खुशबू थी, मिट्टी की नहीं थी।

इससे प्रकट हुआ कि मिट्टी ने फूलों की खुशबू खींच ली, लेकिन फूलों ने मिट्टी की गंध अपने में नहीं आने दी।

तीर्थंकरों को नरक में भी तीन शुभ लेश्याएं होती है। वे शुभ लेश्याएं ग्रहण कर शुभ बनते हैं।

यहां तक छत्तीस द्वारों का वर्णन हुआ। इनमें नरक के जीवों के आहार का विचार किया गया है।

आत्मा में यह शक्ति है कि वह आहार–पुद्‌गलों को आहारयोग्य गुण में परिणत कर लेता है। उदाहरणार्थ–दूध यदि पेट में जाकर दूध ही बना रहा तो वह आहार नहीं हुआ। आहार वह तब कहलाएगा, जब उसका रस, रक्त, मज्जा आदि बन जाये। इसी प्रकार आत्मा अपने शरीर में आहार के लिए पुद्‌गलों को ग्रहण करती है, फिर उन्हें आहार के रूप में परिणत करती है। आत्मा समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करती है, एक ही आत्मप्रदेश से आहार नहीं करती। जिस आत्मा में जितनी और जैसी शक्ति होगी। वह पुद्‌गलों को वैसे ही आहार के रूप में परिणत कर सकेगी।

ऊपर जो संग्रह गाथा लिखी गई थी, उसके पूर्वार्ध में विद्यमान किं वाऽहारेति' इस पद की व्याख्या यहां तक की गई है। इस पद के आगे 'सव्वओ' पद आया है। अब उसकी व्याख्या की जाती है।

टीकाकार के कथनानुसार 'सव्वओ' पद की व्याख्या के लिए निम्नलिखित पाठ का उच्चारण करना आवश्यक है:–

नेरइया णं भंते! सव्वओ आहारेंति, सव्वओ परिणामेंति, सव्वओ ऊससति, सव्वओ णीससंति; अभिक्खणं आहारेंति, अभिक्खणं परिणामेंति, अभिक्खणं ऊससंति, अभिक्खणं णीससंति, आहच्च आहारेंति?

हंता गोयमा! नेरइया सव्वओ आहारेंति।

अर्थ:– भगवन्! नारकी जीव समस्त आत्म प्रदेशों से आहार करते हैं, समस्त आत्म प्रदेशों से परिणमाते हैं, समस्त आत्म–प्रदेशों से उच्छ्‌वास लेते हैं, समस्त आत्म प्रदेशों से निःश्वास लेते हैं? निरन्तर आहार करते हैं, निरन्तर परिणमाते हैं, निरन्तर उच्छ्‌वास लेते हैं, निरन्तर निःश्वास छोड़ते हैं? या कदाचित् आहार करते हैं? (कदाचित परिणमाते हैं, कदाचित् उच्छ्‌वास लेते हैं और कदाचित् निःश्वास छोड़ते हैं?)

हां गौतम! नारकी जीव समस्त आत्म प्रदेशों से आहार करते हैं इत्यादि।

समस्त आत्म–प्रदेशों से आहार करते हैं, इसका अर्थ यह है कि जैसे घी की कड़ाई में पूरी छोड़ने पर वह सभी ओर से अपने में घृत को खींचती है, उसी प्रकार जीव सभी ओर से सभी प्रदेशों से आहार खींचता है।

बाह्य रूप से पुद्‌गल को खींचना आहार नहीं कहलाता वरन् शरीर और गृहीत पुद्‌गलों को एक रूप बना देना, सर्वप्रदेश आहार कहलाता है।

आहार, रस परिणमन करता है। वह रस–परिणमन सभी प्रदेशों में होता है। आहार और कर्मबन्ध दोनों के विषय में यह कथन लागू पड़ता है। तात्पर्य यह है कि जीव सब ओर से आहार कर सब प्रदेशों में परिणमाता है।

इसी प्रकार सब प्रदेशों से उच्छ्वास लेता है, सब प्रदेशों से निःश्वास निकालता है।

सर्व साधारण मनुष्य जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं तो उन्हें ऐसा मालूम होता है मानों पेट में श्वास लेते हैं और पेट से ही उच्छ्वास निकालते हैं। लेकिन श्वास वास्तव में सभी प्रदेशों से आता–जाता है। इस ओर पूर्ण ध्यान दिया जाये तो नाड़ी की गति से यह बात समझी जा सकती है।

भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! जीव निरन्तर भी आहार करता है और कदाचित् भी आहार करता है। इसी प्रकार परिणमन, श्वास और उच्छ्वास के संबंध में जानना चाहए। पर्याप्त अवस्था होने पर निरन्तर आहार करता है, निरन्तर परिणमाता है, निरन्तर श्वासोच्छ्वास लेता है, परन्तु अपर्याप्त अवस्था में कदाचित् आहार आदि करता है। जब विग्रह गति को प्राप्त होता है, तब आहार आदि नहीं ग्रहण करता, अपितु अविग्रह गति में ग्रहण करता है।

आगे गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि–भगवन्! जिन पुद्गलों को आहार रूप में ग्रहण किया है, उनमें से नरक के जीव कितने भाग का आहार करते हैं? और कितने भाग का आस्वाद करते हैं?

भगवान् ने उत्तर दिया–हे गौतम! असंख्यात भाग का आहार करते हैं और अनन्त भाग का आस्वाद करते हैं।

इस प्रश्न के मूल पाठ में 'सेयालंसि' {(मूल पाठ–नेरइया णं भंते! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति, ते णं तेसिं पोग्गलाणं सेयालंसि कइभागं आहारेंति, कइभागं आसायंति? गोयमा! असंखेज्जइभागं आहारेंति, अणंतभागं असाइंति।—पण्णवण्णा सुत्त)} प्राकृत भाषा का पद आया है। इसका संस्कृत रूप 'एष्यति' (भविष्यति) है। तात्पर्य यह है कि गृहीत आहार–पुद्गलों में से ग्रहण करने के पश्चात् कितने भाग का आहार करते हैं? और कितने भाग का आस्वादन करते हैं?

असंख्यात भाग का आहार करते हैं। इस पद की व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार से की गई है। एक आचार्य का यह मत है कि जैसे गाय पहले ग्रास में मुंह भर लेती है, पर उसमें से बहुत–सा भाग नीचे गिर जाता है और कुछ वह खा जाती है। इसी प्रकार नरक के जीव पहले–पहल आहार के जो पुद्गल खींचते हैं, उन खींचे हुए पुद्गलों का बहुत–सा भाग गिर जाता है और असंख्य भाग मात्र का आहार करते हैं।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है। यहां नय विशेष की अपेक्षा से कथन है। ऋजुसूत्रनय के अनुसार शरीर रूप में परिणत पुद्गलों के असंख्य भाग का आहार करता है। जो पुद्गल शरीर रूप में परिणत नहीं हुए उन्हें ऋजुसूत्रनय शुद्ध होने से आहार रूप नहीं मानता।

ऋजूसूत्रनय भूत और भविष्य को छोड़कर केवल वर्तमान को स्वीकार करता है। अतः जितने पुद्गल आहार रूप में ग्रहण किये हैं, उन्हें व्यवहार नय तो आहार कहता है, लेकिन ऋजुसूत्रनय के मत से जो पुद्गल उनमें से शरीर रूप परिणत हुए हैं, वही आहार रूप हैं।

उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति ने दूध पीया। उसमें से कुछ भाग खल–मल रूप में परिणत हो गया और शेष भाग से रस आदि धातुएं बनीं। ऋजुसूत्रनय इस परिणति को ही आहार मानता है।

जैसे गाय बहुत–सा घास एक साथ मुंह में भरती है, पर उसमें से बहुत सा भाग गिर जाता है, वह आहार में परिगणित नहीं होता। ऋजुसूत्रनय के अनुसार वे ही पुद्गल आहार–रूप कहलाते हैं, जो वास्तव में आहार रूप में परिणत होते हैं, सब ग्रहण किये हुए पुद्गल नहीं। असल में आहार वही है जो शरीर रूप में परिणत हों। शरीर रूप में परिणत होकर भी पुद्गलों का असंख्यात भाग ठहरेगा और संख्यात भाग नहीं ठहरेगा। पिये हुए एक सेर दूध में से कुछ भाग रस बनेगा और शेष मल बन कर निकल जायेगा। शरीर में जो रस बना, वही ऋजुसूत्रनय के अनुसार आहार कहा जा सकता है।

ग्रहण किये हुए पुद्गलों में से उतना ही रस शरीर में खिंचता है, जितनी शक्ति होती है। कमजोर मनुष्य आहार में से पूरी तरह रस नहीं खींच पाता और उसका आहार कच्चे मल के रूप में निकल जाता है। मल को देखने से पता लग जाता है कि आहार में से कितना रस खींचा गया है?

आहार करने का जो प्रयोजन है। उस प्रयोजन के पूर्ण होने पर ही ग्रहण किये पुद्गल आहार कहलाएंगे। जब तक उनसे आहार का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, तब तक उन्हें आहार नहीं कहा जा सकता।

आहार करने का प्रधान प्रयोजन है–शरीर और इन्द्रियों में शक्ति का संचार होना। इस प्रयोजन को जो पुद्गल पूर्ण करते हैं वही आहार है।

तीसरे आचार्य का कथन यह है कि वास्तव में आहार वह है जो शरीर के साथ तद्रूप परिणत हो जाये। जैसे मनुष्य जो आहार करता है, उसमें से अधिकांश खल–मल रूप में बाहर निकल जाता है, वह आहार नहीं कहलाता। उसी प्रकार जो पुद्गल शरीर रूप में परिणत नहीं होते, उन्हें

आहार नहीं कहा जा सकता। अतएव गृहीत पुद्गलों में से असंख्यात् भाग का आहार करता है, इसका अभिप्राय यह है कि असंख्यातवां भाग शरीर रूप में परिणत होता है।

आहार के जो पुद्गल ग्रहण किये हैं, उनका अनन्त भाग अस्वाद में आता है; अर्थात् गृहीत पुद्गलों के अनन्तवें भाग का रस रूप में रसना इन्द्रिय आस्वादन कर सकती है। मान लीजिए, किसी ने मिश्री की डली मुंह में रखी। उस डली पर जीभ फिरी, उसका स्वाद आया। मगर डली का भीतरी भाग अछूता ही रह गया—उसका आस्वादन नहीं हुआ। इस प्रकार जीभ ऊपर का आस्वाद ले सकती है, भीतर का उसे पता नहीं चलता। अतएव वह अनन्तवें भाग पुद्गलों के रस का ही आस्वादन कर सकती हैं, सब का नहीं। इसी कारण यह कहा गया है कि अनन्तवें भाग का आस्वादन होता है। यहां तक अड़तीस द्वारों का विवेचन हुआ।

अब संग्रह गाथा के 'सव्वाणि' पद की व्याख्या आरंभ की जाती है। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं— हे भगवन्! नारकी जीव जिन पुद्गलों को शरीर रूप में परिणत करते हैं। क्या वे सब पुद्गलों का आहार करते हैं या एक देश का आहार करते हैं?

भगवान् उत्तर देते हैं—गौतम! समस्त पुद्गलों का आहार करते हैं।

तात्पर्य यह है कि नारकी जीवों ने आहार के जिन पुद्गलों को शरीर के रूप में परिणत किया है, उन सबका आहार वे करते हैं। यहां सब पुद्गल कहने से विशिष्ट पुदगल ही समझने चाहिए जो पुद्गल ग्रहण करने के पश्चात् गिर गये हों, उन्हें यहां छोड़ देना चाहिए— उनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। अगर ऐसा न किया गया तो विरोध आ जाएगा। जो वचन जिस अपेक्षा से कहा गया हो उसे उस अपेक्षा से समझना चाहिए। कहा भी है:—

जं जह सुत्ते भणियं, तहेव जइ तं वियालणा णत्थि।
किं कालियानुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं।।

अर्थात्— सूत्र में जो बात जिन शब्दों में कही गई है, अगर शाब्दिक रूप में उसे उसी प्रकार माना जाये और वक्ता की विवक्षा के विचार का ख्याल न किया जाये तो ज्ञानी जन कालिक अनुयोग का उपदेश कैसे करें?

आजकल साधुओं के ज्ञान में न्यूनता आ गई है, अतएव वे टब्बा बांच देने में ही सूत्र के व्याख्यान की इतिश्री समझ लेते हैं। मगर सूत्र में नवीन और सूक्ष्म बातें उतनी ही खोजी जा सकती हैं, जितनी खोजने वाले में शक्ति हो। हां, शक्ति ही न हो तो बात दूसरी है। जिनकी दृष्टि सूक्ष्म और पैनी है, वे

शास्त्र सागर के भीतर अवगाहन करके अनेक महत्वपूर्ण और बहुमूल्य अर्थ रूपी मुक्ता निकालते हैं।

इसके अनन्तर पूर्वोक्त संग्रह गाथा के 'कीस' पद की व्याख्या की जाती है। 'कीस' यह एक पद है। इसमें अनेक पदों का उपचार किया जाता है। अतएव यह अर्थ समझना चाहिए कि नारकी जीवों ने जो आहार किया है। वह किस स्वभाव में, किस प्रकार और किस रूप में परिणत होता है?

कल्पना कीजिए, किसी ने दूध पिया। उस दूध का अंश कहां जाएगा? किस रूप में परिणत होगा?

किसी अत्यन्त क्षुधा पीड़ित व्यक्ति से देखने, सुनने या सूंघने के लिए कहा जाये तो वह उत्तर देगा–मुझमें शक्ति नहीं है। मेरी इन्द्रियां बेकाम हो रही हैं। इसी प्रकार उसे चलने–फिरने के लिए कहा जाये, तब भी वह यही उत्तर देगा। इसके पश्चात् किसी ने उसे दूध पिला दिया।

सद्यः शक्तिकरं पयः।

दूध तत्काल शक्ति देने वाला है। अतएव दूध पीते ही उसके सारे शरीर में शक्ति आ गई। उस दूध की शक्ति के हिस्से हुए। उन हिस्सों में से नाक, कान, आंख, हाथ पैर आदि को कितना कितना भाग मिला, यह एक विचारणीय बात है।

जो आहार किया जाता है, उसके पुद्गल मृदु भी होते हैं, स्निग्ध भी होते हैं और कठोर भी होते हैं। लेकिन सबसे सूक्ष्म सार आंख खींच लेती है। उससे कम सार वाले क्रमशः कान, नाक, जिह्वा और शरीर खींचते हैं। भारी पुद्गलों को शरीर से कम जिह्वा खींचती है और जीभ से भी क्रमशः नाक, कान और आंख खींचती है। इस प्रकार आहार के संबंध में कथन किया गया है।

इस कथन की अपेक्षा, आपके हाथ में स्थित दूध को कान या आंख कहा जा सकता है, क्योंकि दूध में और कान आंख में कार्य कारण भाव का संबंध है। यद्यपि दूध में कान या आंख दिखलाई नहीं देती, तथापि कार्य–कारण का विचार किया जाये तो उक्त कथन में कोई भ्रम प्रतीत नहीं होगा।

इसीलिए गौतम स्वामी पूछते हैं कि नारकी जीवों का आहार किस रूप में परिणत होता है? अर्थात् नारकी जीवों ने जिन पुद्गलों को आहार रूप में ग्रहण किया है, वे पुद्गल फिर किस रूप में परिणत होते हैं।

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़रमाते हैं– हे गौतम! जिन पुद्गलों को नारकी जीवों ने आहार रूप में ग्रहण किया है, वे आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा, इस प्रकार पांचों इन्द्रियों के रूप में परिणत होते हैं।

नारकी जीवों का आहार अशुभ रूप में परिणत होता है, अनिष्ट रूपता प्रकट करता है, कान्त और कमनीय नहीं है। अमनोज्ञ हैं, अमनोगम्य है। इस प्रकार वह आहार पश्चात्ताप का कारण है। वह नीची स्थिति में ले जाता है, ऊंची स्थिति में नहीं ले जाता।

आहार में दोनों प्रकार की शक्तियां है— ऊंची स्थिति में ले जाने की भी और नीची स्थिति में ला पटकने की भी। जो आहार स्वाधीन न हो, परतन्त्र हो, उस आहार को ग्रहण करने वाला नरक में ही समझना चाहिए।

नरक के आहार की बुराई बतलाने के लिए जो विशेषण दिये गये हैं, उनके संबंध में टीकाकार कहते हैं कि यह सब शब्द एकार्थक हैं। फिर भी अतिशय अर्थात् अधिकता प्रकट करने के लिए पृथक्—पृथक् अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

यह चालीसवां द्वार हुआ और पूर्वोक्त संग्रह—गाथा का विवेचन समाप्त होता है। संग्रह—गाथा के विवरण—सूत्र किसी किसी ही प्रति में पाये जाते हैं, सब में नहीं।

आहार के परिणमन का वर्णन

मूलपाठ—

प्रश्न—नेरइयाणं भंते! पुव्वहारिया पोग्गला परिणया? आहारिया आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया?अणाहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया?अणाहारिया अणाहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया?

उत्तर—गोयमा! नेरइयाणं पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया, आहारिया आहारिज्जामाणा पोग्गला परिणया, परिणमंति य। अणाहारिया आहारिज्जस्समाण पोग्गला णो परिणया, परिणमिस्संति। अणाहारिया अणाहारिज्जस्समणा पोग्गला णो परिणया, णो परिणमिस्संति।

प्रश्न—नेरइयाणं भंते। पुव्वहारिया पोग्गला चिया? पुच्छ।

उत्तर—जहा परिणया, तहा चिया वि, एवं उवचिया वि, उदीरिया, वेइया, निज्जिण्णा।

गाहा—

परिण्य—चिया य उवचिया,
उदीरिया वेइया य निज्जिण्णा।
एक्केकम्मि पदम्मि,
चउव्विहा पोग्गला होंति ।।

संस्कृत छाया— प्रश्न—नैरयिकाणं भगवन्! पुर्वाहृताः पुद्गलाः परिणताः? हाहृताः आह्रियमाणाः पुद्गलाः परिणताः? अनाहृताः आहरिष्यताः पुद्गलाः परिणताः? अनाहृताः अनाहरिष्यमाणाः पुद्गलाः परिणताः?

उत्तर— गौतम। नैरयिकाणां पूर्वाहृताः पुद्गलाः परिणताः आहृताः आह्रियमाणाः पुद्गला परिणताः, परिणमन्ति च। अनाहृताः आहरिष्यमाणाः पुद्गलाः नो परिणताः, परिणस्यन्ति। अनाहृताः अनाहरिष्यमाणाः पुद्गलाः नो परिणताः, नो परिणस्यन्ति।

प्रश्न—नैरियकाणां भगवन्! पुर्वाहृताः पुद्गलाश्चिताः? पृच्छा।

उत्तर—यथा परिणतास्तथा चिता अपि, एवमुपचिता अपि, उदीरिताः, वेदिताः, निर्जीर्णाः।

गाथा—

परिणताश्चिताश्चोपचिताः, उदीरिता वेदिताश्च निर्जीर्णाः।
एकैकस्मिन् पदे चतुर्विधाः पुद्गला भवन्ति।।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! नारकियों द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए? आहार किये हुए तथा (वर्तमान में) आहार किये जाने वाले पुद्गल परिणत हुए? जो पुद्गल अनाहारित हैं तथा (आगे) आहार रूप में ग्रहण किये जाऐंगे वह परिणत हुए? या जो अनाहारित हैं और आगे भी आहृत नहीं होंगे, वह परिणत हुए?

उत्तर—हे गौतम! नारकियों द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए, आहार किये हुए और आहार किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए, और परिणत होते हुं नहीं आहार किये हुए (अनाहारित) पुद्गल परिणत नहीं हुए हैं। जो पुद्गल(आगे) आहार किये जाएंगे वह परणित होंगे । अनाहारित पुद्गल परिणत नहीं हुए हैं और जो आगे आहरित नहीं होंगे, वह परिणत नहीं होंगे।

प्रश्न—हे भगवन्! नारकियों द्वारा आहारित पुद्गल चय को प्राप्त हुए?

उत्तर—हे गौतम! जिस प्रकार परिणत हुए, उसी प्रकार चय को प्राप्त हुए। उसी प्रकार उपचय को प्राप्त हुए, उदीरणा को प्राप्त हुए, वेदन को प्राप्त हुए तथा निर्जरा को प्राप्त हुए । गाथा—

परिणत, चित, उपचित, उदीरत, वेदित और निर्जीर्ण, इस एक—एक पद में चार प्रकार के पुद्गल (प्रश्नोत्तर विषयक) होते है।

व्याख्यान—नरक के आहार के सम्बन्ध में यहां चार प्रश्न और उठते हैं। उनका आशय यह है—

(1) पूर्व काल में ग्रहण किये हुए या आहार किये हुए पुद्गल क्या शरीर रूप में परिणत हुए हैं?

(2) भूतकाल में ग्रहण किये हुए या आहार किये हुए तथा वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाने पुद्गल शरीर में परिणत हुए हैं?

(3) भूतकाल में जिन पुद्गलों का आहार नहीं किया, लेकिन भविष्यकाल में जिनका आहार किया जायेगा, वे पुद्गल शरीर रूप में परिणत हुए?

(4) जिन पुद्गलों का भूतकाल में आहार नहीं किया और भविष्य में भी आहार नहीं किया जायेगा, वह पुद्गल शरीर रूप में परिणत हुए?

पूर्वकाल में जिन पुद्गलों का आहार किया गया हो या संग्रह किया गया हो उन्हें आहृत या आहारित कहते हैं। संग्रह करना और खाना, दोनों ही आहार हैं।

पुद्गल शब्द से यहां पुद्गल–स्कंध समझना चाहिए, परमाणु नहीं और परिणत होने का अर्थ, शरीर के साथ एकमेक होकर शरीर रूप में हो जाना, यहां ग्रहण करना चाहिए।

आहार का परिणाम है–शरीर बनना। जो आहार शरीर के साथ एकमेक हो जाता है अर्थात् जिस आहार का शरीर बन जाता है, वह आहार परिणत हुआ या परिणाम को प्राप्त हुआ या परिणमा कहलाता है।

इन प्रश्नों के विषय में आचार्य का कथन है कि यह काकुपाठ है। काकुपाठ वह कहलाता है, जो कण्ठ दबाकर बोला जाये। अर्थात् जिस बात को जोर से तथा आश्चर्य सहित कहा जाता है वह कथन काकु है। यथा–क्या यह ऐसा ही है?

यह चारों प्रश्न दीखते हैं सीधे–साधे, लेकिन इनमें दार्शनिक आशय भरा हुआ है। इन्हीं चार प्रश्नों के 63 भंग होते हैं। एकसंयोगी के छह भंग हैं–(1) पूर्वाहृत (2) आह्रियमाण (3) आहरिष्यमाण (4) अनाहृत (5) अनाहियमाण (6) अनाहरिष्यमाण। इन छह पदों के त्रेसठ भंग होते हैं। प्रत्येक भंग में एक–एक प्रश्न का उद्भव होता है, अतएव त्रेसठ भंग हुए। उनका इस प्रकार है–

(क) (1) पर्वाहृत आरियमाण (2) पूर्वाहृत आहरिष्यमाण (3) पूर्वाहृत अनाहृन (4) पर्वाहृत अनाहियमाण (5) पर्वाहृत अनपाहरिष्ययमाण (6) आहियमाण आहरिष्माण (7) आहियमाण अनाह्रित (8) आहियमाण अनाहियमाण (9) आहियमाण अनाहरिष्यमाण (10) आहरिष्यमाण अनाहृत (11) आहरिष्यमाण अनाहियमाण (12) आहरिष्यमाण अनाहरिष्यमाण (13) अनाहृत अनाहियमाण (14) अनाहृत अनाहरिष्यमाण (15) अनाहियमाण अनाहरिष्यमाण।

इस प्रकार दो–दो भंगो को मिलाने से पन्द्रह भंग होते हैं। तीन का संयोग करने पर बीस भंग होते हैं और चार संयोगी पन्द्रह भंग होते हैं। इसी तरह पांच संयोगी छह भंग और छह संयोगी का एक भंग होता है। अतएव एक एक से लेकर छह संयोगी तक के कुल त्रेसठ भंग होते हैं। मगर संग्रह की अपेक्षा एक ही प्रश्न है।

तात्पर्य यह है कि गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से उक्त चार प्रश्न किये। इनके उत्तर में भगवान् ने फरमाया– हे गौतम ! जिन पुद्गलों का भूतकाल में आहार किया है वे भूतकाल में ही शरीर रूप परिणत हो चुके हैं। ग्रहण के पश्चात् परिणमन होता ही है:, अतएव पूर्वकाल में आहार किये हुए पुद्गल पूर्वकाल में ही परिणत हो गये।

दूसरे प्रश्न में भूतकाल के साथ वर्तमान सम्बन्धी प्रश्न किया गया है। इसके उत्तर में भगवान् का कथन यह है कि जिनका आहार हो चुका वे पुद्गल परिणत हो चुके हैं और जिनका आहार हो रहा हैं वे परिणत हो रहे हैं।

यहां टीकाकार कहते हैं कि जिन पुद्गलों का आहार किया और जिनका वर्तमान में आहार किया जा रहा है, उसके विषय में कहना चाहिए कि वे पुद्गल परिणत होंगे। मगर यहां कहा गया है कि परिणत हो रहे हैं। सूत्रकार स्वयं कहते हैं कि जिन पुद्गलों का आहार किया जा रहा है और आगे किया जायेगा वे पुद्गल परिणत होंगे। तात्पर्य यह है कि वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल उसी समय शरीर रूप में परिणत नहीं हो सकते। बल्कि वे भविष्य में ही परिणत होंगे। अतएव 'जिन पुद्गलों का आहार किया जा चुका और जिनका आहार किया जा रहा है, वह पुद्गल परिणत हो रहे हैं, यह कथन युक्ति संगत नहीं मालूम होता। उनके लिए 'परिणत होंगे' ऐसा कहना चाहिए।

टीकाकार का यह कथन नय–विशेष की विवक्षा से ठीक ही है।

तीसरा प्रश्न भविष्य के सम्बन्ध में है। उसका सरल उत्तर यही है कि भविष्य में जिन पुद्गलों का आहार करेंगे, वे पुद्गल भविष्य में परिणत होंगे।

चौथा यह था कि जिन पुद्गलों का भूतकाल में आहार नहीं किया और भविष्य में भी आहार नहीं किया जायेगा, वे पुद्गल क्या शरीर रूप में परिणत हुए? इसका उत्तर यह है कि ऐसे पुद्गल परिणत नहीं होंगे। जिनका ग्रहण ही नहीं हुआ, उनका शरीर रूप में परिणमन भी न होगा।

पहले जो त्रेसठ भंग बतलाए गये है, उन सबका इसी आधार पर समाधान समझ लेना चाहिए।

आहार किये हुए पुद्गल जब शरीर के भीतर गये तो उनका चय, उपचय भी होगा ही। इसलिए गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि जीव ने जिन पुद्गलों का आहार किया वे पुद्गल चय को प्राप्त हुए? परिणमन के

संबंध में जितने और जैसे प्रश्न किये गये हैं, वही सब प्रश्न चय के संबंध में भी समझ लेने चाहिएं और उनका उत्तर भी परिणमन सम्बन्धी उत्तरों के समान ही समझ लेना चाहिए।

इस प्रकरण में टीकाकार के कथनानुसार वाचना की भिन्नता देखी जाती है। एक जगह एक प्रकार की वाचना है तो दूसरी जगह दूसरी ही वाचना है। वाचना के इस भेद को देखकर शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पाठ में भिन्नता होने पर भी अभिधेय—मूल वक्तव्य सबका समान है। अतएव पाठान्तर से शंका नहीं वरन् शंका का समाधान होना चाहिए।

संदेह होता है कि दो पाठ परस्पर विरोधी होने से मान्य नहीं हो सकते, तब एक किस पाठ को मान्य किया जाये? मगर इसमें संदेह की कोई बात नहीं है। दोनों आचार्य जब शास्त्र लिखने के समय एकत्र हुए, तब दोनों को दो तरह की बातें स्मरण में थीं, क्योंकि पहले शास्त्र लिखे हुए नहीं थे, कण्ठस्थ ही थे। आचार्यों ने अपने अपने स्मरण की बात एक दूसरे के सामने रख दी और कहा कि न हम सर्वज्ञ हैं, न आप सर्वज्ञ हैं। ध्येय दोनों का एक है। तब दोनों में से किसका स्मरण सही है और किसका नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है? अतएव दोनों बातें लिख दें। इनमें कौन—सी बात सही है, यह ज्ञानी जानें।

दोनों आचार्यों को सर्वज्ञ के वचनों पर और अपने—अपने स्मरण पर विश्वास था। ऐसी स्थिति में अपने स्मरण को गलत मानने का कोई कारण न था। इस कारण दोनों आचार्यों ने दोनों बातें लिख दीं। इस प्रकार के मतभेद को देखकर शास्त्र में शंका मत लाओ। यह मतभेद शास्त्र की और शास्त्र के प्रणेता आचार्यों की प्रामाणिकता के प्रमाण है।

उक्त दोनों आचार्यों ने किसी एक निर्णय पर पहुंचने का प्रयास किया, लेकिन दोनों छद्मस्थ थे, केवलज्ञानी नहीं। अतएव उन्होंने समभाव से अपनी—अपनी धारणा को सत्य स्वीकार करते हुए भी दूसरे की धारणा को असत्य नहीं ठहराया। ऐसा करके वे हमारे सामने एक उज्जवल आदर्श छोड़ गये है। हमें उनका अनुकरण करके शास्त्र के संबंध में हठवाद से काम नहीं लेना चाहिए और अपने आपको ही सत्यवादीसा ठहराकर दूसरे को झूठा घोषित करने का साहस नहीं करना चाहिए।

जिन पुद्गलों को आहार रूप में परिणत किया है, उनका शरीर में एकमेक होकर शरीर को पुष्ट करना चय कहलाता है। चय के परिणमन की ही तरह चार भंग हैं। इन चार भंगों का उत्तर परिणमन की तरह ही है।

चय और परिमणमन के काल में बहुत अन्तर है। पहले परिणमन होता है, उसके बाद चय होता है। इसलिए चय और परिणमन दोनों पृथक–पृथक हैं।

ज्ञानी महापुरुषों ने भूतकाल का वर्णन किया है, इससे उनकी त्रिकालज्ञता सिद्ध होती है। साथ ही नरक–लोक के प्राणियों के आहार के विषय में हमें जानकारी होती है। वर्तमान काल में जो जीव नरक में हैं और आगे नरक में जाएंगे, उनको कैसा आहार करना पड़ता है या करना पड़ेगा, यह भी हमें विदित हो जाता है।

तीसरे भंग से यह भी प्रकट हो जाता है कि भूतकाल में तो यह आहार नहीं किया, मगर भविष्य में करेंगे। उस समय होंगे वे भी करेंगे और नरक में जाएंगे वे भी करेंगे। इस कथन से नरक का शाश्वतपन सिद्ध किया गया है।

न भूत में आहार किया है, न भविष्य में आहार करेंगे, यह कथन अव्यवहारराशि को सूचित करता है; क्योंकि अव्यवहारराशि के जीव उस राशि से न कभी निकले हैं न निकलेंगे।

चय के पश्चात् उपचय का कथन है। जो चय किया गया है, उसमें और–और पुद्गल इकट्ठे कर देना उपचय कहलाता है। जैसे, ईंट पर ईंट चुनी गई यह सामान्य चुनाई कहलाई और फिर उस पर मिट्टी या चूना आदि का लेप किया गया, यह विशेष चुनाई हुई। इसी प्रकार सामान्य रूप से शरीर का पुष्ट होना चय कहलाता है और विशेष रूप से पुष्ट होना उपचय कहलाता है।

कर्म–पुद्गलों का स्वाभाविक रूप से उदय में न आकर करण विशेष के द्वारा उदय में आना उदीरणा कहलाता है। प्रयोग के द्वारा कर्म का उदय में आना उदीरणा है, इस प्रकार की 'कर्म–प्रकृति' की साक्षी भी यहां दी गई है।

कर्म के फल को भोगना वेदना है। जिस समय से कर्म–फल का भोग आरम्भ होता है और जिस समय तक भोगना जारी रहता है, वह सब काल वेदना का काल कहलाता है।

एक देश में कर्मों का क्षय होना निर्जरा है। जिस कर्म का फल भोग लिया जाता है, वह कर्म क्षीण हो जाता है। उसका क्षीण हो जाना निर्जरा है।

चय, उपचय, उदीरणा, वेदना और निर्जरा, इन सब के विषय में परिणमन के समान ही वक्तव्यता है। वैसे ही प्रश्न, वैसे ही उत्तर, वैसे ही भंग समझने चाहिएं। सिर्फ परिणत के स्थान पर चित, उपचित, उदीरत आदि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

विभाजन चयनादि सूत्र

मूलपाठ—

प्रश्न—नेरईयाणं भंते! कतिविहा पोग्गला भिज्जंति?

उत्तर—गोयमा! कम्मदव्वग्गवणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला भिज्जंति। तं जहा—अणु चेव, बायरा चेव।

प्रश्न—नेरईयाणं भंते! कतिविहा पोग्गला चिज्जंति?

उत्तर—गोयमा! आहारदव्वग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला चिज्जंति। तं जहा—अणु चेव, बायरा चेव। एवं उवचिज्जति ।

प्रश्न—णेरईयाणं भंते! कतिविहा पोग्गले उदीरंति?

उत्तर—गोयमा! कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहे पोग्गले उदीरेंति। तं जहा—अणु चेव, बायरा चेव।

सेसा वि एवं चेव भाणियव्वावदेंत्ति, णिज्जरेंति। उयट्टिंसु, उयट्टेंति, उयट्टेस्संसि। सकामिंसु, सकामेंति, संकामेस्संति। णिहत्तिंसुं, णिहत्तेंति, णिहत्तस्संति। णिकायिंसु, णिकायिंति, णिकायेस्संति। सव्वेसु वि कम्म—दव्ववग्गणमाहिकिच्च। गाहा—

भेदिय चिया, उवचिआ,
वेदिआ य निज्जिण्णा ।
उव्वट्टण—संकामण—णिहत्तण—
णिकायणे तिविहकालो ।।

संस्कृत छाया—प्रश्न—नैरयिकाणं भगवन् ! कतिर्विधाः पुद्गलाः भिद्यन्ते?

उत्तर— गौतम! कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्य द्विविधाः पुद्गला भिद्यन्ते । तद्यथा—अणवश्चेव, बादराश्चेव।

प्रश्न— नैरयिकाणां भगवन्! कतिविधाः पुद्गलाश्चीयन्ते?

उत्तर—गौतम! आहारद्रव्यवर्गणामधिकृत्य द्विविधाः पुद्गलाश्चीयन्ते। तद्यथा—अणवश्चैव, बादराश्चैव। एवमुपचीयन्ते।

प्रश्न–नैरयिका भगवन् कतिविधान् पुद्गलान् उदीरयन्ति?

उत्तर–गौतम! कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्य द्विविधान् पुद्गलानुदीरयन्ति। तद्यथा–अणूंश्चैव, बारदांश्चैव। शेषा अप्येव चैव भणितव्याः–वेददयन्ति;निर्जीर्यन्ति; अपावर्त्तयन्, अपवर्त्तयन्ति अपवर्तयिष्यन्ति; समक्रमयन्, संक्रमयन्ति, संक्रमयिष्यन्ति, निघत्तानकार्षुः,निधत्तान ् कुर्वन्ति, निधतान् करिष्यन्ति; निकाचितवन्तः, निकाचयन्ति, निकाचयिष्यन्ति। सर्वेष्वपि कर्मद्रव्यवर्गणा मधिकृत्य।

गाथा–

भेदितः, चितः, उपचिताः, वेदतिश्च निर्जीर्णाः।

अपवर्त्तन–संक्रमण–निधतन–निकाचने त्रिविधः कालः।।

मूलार्थ–

प्रश्न–हे भगवन्! नारकी जीवों द्वारा कितने प्रकार के पुद्गल भेदे जाते है?

उत्तर–गौतम! कर्म द्रव्यवर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गल भेदे जाते है। वे इस प्रकार हैंः अणु और बादर।

प्रश्न–हे भगवन्! नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलों का चय करते हैं?

उत्तर–हे गौतम! आहारद्रव्य–वर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलों का चय करते हैं। वे इस प्रकार हैं– अणु और बादर। इसी प्रकार उपचय समझना।

प्रश्न–हे भगवन्! नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलों की उदीरणा करते हैं?

उत्तर–गौतम! कर्मद्रव्य– वर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलों की उदीरणा करते हैं। वह इस प्रकार है–अणु और बादर। शेष पद भी इस प्रकार कहने चाहिए–वेदते हैं, निर्जरा करते हैं, अपवर्त्तन को प्राप्त हुए, अपवर्त्तन को प्राप्त हो रहे हैं, अपवर्त्तन को प्राप्त करेंगे। संक्रमण करेंगे। निधत्त होते हैं, निधत्त होंगे। निकाचित हुए, निकाचित होते हैं, निकाचित होंगे। इन सब पदों में भी कर्मद्रव्य–वर्गणा की अपेक्षा से (अणु और बादर पुद्गलों का कथन करना चाहिए)।

गाथार्थः–भिदे, चय को प्राप्त हुए, उपचय को प्राप्त हुए, वेदे गये और निर्जीर्ण हुए। अपवर्त्तन, संक्रमण, निधत्तन और निकाचन इन चार पदों में तीनों प्रकार का काल कहना चाहिए।

व्याख्यान—नरक के जीव पुद्गल का आहार करते हैं, यह कहा जा चुका है। अब पुद्गल का अधिकार आरंभ होता है। इस अधिकार के अठारह सूत्र कहे गये हैं।

श्री गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलों को भेदते हैं?

सामान्य रूप से पुदगलों में तीन प्रकार का रस होता है, तीव्र, मध्यम और मन्द। यहां भेदने का अर्थ है, इस रस में परिवर्त्तन करना। जीव अपने उद्वर्त्तनाकरण (अध्यवसाय विशेष) से मंद रस वाले पुद्गलों को मध्यम रस वाले मध्यम रस वाले पुद्गलों को तीव्र रस वाले बना डालता है। इसी प्रकार अपवर्त्तनाकरण द्वारा तीव्र रस के पुद्गलों को मध्यम रस वाले और मध्यम रस वालों को मंद रस वाले बना सकता है। जीव अपने अध्यवसाय द्वारा ऐसा परिवर्तन करने में असमर्थ है, तो क्या नारकी जीव भी ऐसा कर सकते हैं ? क्या वे तीव्र रस वाले पुद्गलों को मन्द रस के रूप में और मंद रस को तीव्र रस के रूप में परिणत कर सकते हैं? अगर कर सकते है तो कितने प्रकार के पुद्गलों को परिणत कर सकते हैं? अर्थात् भेद सकते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् फरमाते हैं—कर्म द्रव्य वर्गणा की अपेक्ष दो प्रकार के पुद्गलों को नारकी जीव भेद सकते हैं। दो प्रकार के पुद्गल हैं— सूक्ष्म (अणु) और बादर।

समान जाति के द्रव्य के समूह को वर्गणा कहते हैं। द्रव्य वर्गणा औदारिक आदि द्रव्यों की भी होती है, लेकिन यहां उनका ग्रहण नहीं करना है। उन वर्गणाओं का ग्रहण न हो, इसीलिए मूल में 'कम्मदव्ववग्गणं' पद दिया है। इस पद से सिर्फ कार्मण द्रव्यों की वर्गणा का ही ग्रहण होता है और औदारिक वर्गणा, तैजस वर्गणा आदि अन्यान्य वर्गणाओं का निषेध हो जाता है। कर्मद्रव्यवर्गणा का अर्थ है—कार्मण जाति के पुद्गलों का समूह। वास्तव में कार्मण जाति के पुद्गलों में ही यह धर्म है कि वे तीव्र रस से मंद रस वाले और मंद रस से तीव्र रस वाले, करण द्वारा हो सकते हैं। इसी कारण यहां अन्य वर्गणाओं को छोड़ कर कार्मणद्रव्य वर्गणा को ही ग्रहण किया है।

'चेव' पद समुच्चय अर्थ में है। अससे अणु और बादर दोनों का अर्थ लिया जाता है।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि कर्म—द्रव्यों को अणु और बादर लिया है सो किसकी अपेक्षा अणु समझा जाये? और किसकी अपेक्षा बादर समझा जाये? इसका उत्तर यह है कि कर्मद्रव्यों की अपेक्षा से ही अणुत्व

और बादरत्व अथवा सूक्ष्मता या स्थूलता समझनी चाहिए; क्योंकि औदरिक आदि द्रव्यों में कर्मद्रव्य ही सूक्ष्म है।

यद्यपि कर्म– वर्गणा चतुःस्पर्शी है। वह हमें दिखाई नहीं देती, तथापि ज्ञानी जन उसे देखते हैं और उसमें अणुत्व एवं बादरत्व का भेद भी देखते हैं। उन दिव्य ज्ञानियों की अपेक्षा ही कर्म द्रव्य को अणु और बादर कहा गया है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं–नारकी जीव कितने पुदगलों का चय करते हैं?

भगवान् उत्तर देते हैं–दो प्रकार के पुद्गलों का चय करते हैं–अणु और बादर का।

यहां अणु का अर्थ सूक्ष्म न कर 'छोटा करना चाहिए। आहार–द्रव्य की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गल चय होते हैं। आहार के कई पुद्गल छोटे होते हैं और कई मोटे होते हैं।

शरीर के अपेक्षा चय, उपचय का विचार पहले हो चुका है, यहां आहार की अपेक्षा विचार किया जा रहा है।

यहां शरीर में आहार का पुष्ट होना चय कहलाता है और विशेष पुष्ट उपचय कहलाता हैं। उपचय भी दोनों प्रकार के छोटे–छोटे और बादर–पुद्गलों का होता है।

कर्मद्रव्य की अपेक्षा उदीरणा भी दो ही प्रकार के पुद्गलों की होती है–अणु और बादर की। यहां अणु इसलिए कहा गया है कि चय और उपचय आहार–द्रव्यों का होता है, मगर निर्जरा कर्मद्रव्यों की होती है।

गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया–भगवन्! नारकियों द्वारा कितने प्रकार के पुद्गलों का वेदन होता है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा–अणु और बादर दो प्रकार के पुद्गलों का वेदन होता है। निर्जरा के विषया में भी यहीं उत्तर समझना चाहिए।

गौतम स्वमी फिर पूछते हैं–भगवन्! नारकियों के कितने प्रकार के उपवर्त्तन हुए, हो रहे हैं और होंगे?

अध्यवसाय विशेष के द्वारा कर्म की स्थिति और कर्म के रस को कम कर देना अपवर्त्तन कहलाता है। यही बात उद्वर्तन के सम्बन्ध में है। अपवर्त्तनाकरण से कर्म की स्थिति आदि कम की जाती है और उद्वर्त्तनाकरण से अधिक की जाती है।

मूल प्रकृति से अभिन्न उत्तर प्रकृति का अध्यवसाय विशेष द्वारा एक का दूसरे रूप में बदल जाना संक्रमण कहलाता है।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि आत्मा का संक्रमण क्यों नहीं होता? इसका उत्तरा यह है कि आत्मा अमूर्त्त है, अतएव उसका संक्रमण होना संभव नहीं है।

अगर आत्मा अमूर्त्त है तो वह कर्मों को कैसे हटा सकती है? आकाश अमूर्त्त होने के कारण कर्मों को हटाने में असमर्थ है तो आत्मा को कैसे समर्थ माना जाय? इसका उत्तर यह है कि आत्मा में अध्यवसाय की शक्ति है। इस शक्ति से वह संक्रमण करती है। यद्यपि आकाश जड़ और आत्मा चेतन है। आत्मा की इस विशेषता के कारण दोनों को सर्वथा समान नहीं कहा जा सकता। आत्मा को भले बुरे का ज्ञान है। यद्यपि आत्मा स्वयं कुछ नहीं करती, लेकिन उसकी अध्यवसाय रूप शक्ति यह कार्य करती है। उदाहरणार्थ—मेज कारीगर की बनाई हुई कहलाती है; लेकिन उसमें कहीं कारीगर के हाथ—पांव नहीं दिखलाई देते। उसने जो कुछ किया है वह औजारों की सहायता से। यद्यपि कारीगर ने औजारों की सहायता से मेज बनाई, तथापि मेज, कारीगर की बनाई हुई ही कहलाती है, इसी प्रकार आत्मा जो कुछ भी करती है, वह अध्यवसाय की शक्ति द्वारा ही करती है। अच्छे अध्यवसाय से अच्छे कर्म करती है और बुरे अध्यवसाय से बुरे कर्म।

संक्रमण के विषय में दूसरे आचार्य का यह मत है कि आयुकर्म, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय को छोड़कर, शेष प्रकृतियों का उत्तर प्रकृतियों के साथ जो संसार होता है, वह संक्रमण कहलाता है। उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिए किसी प्राणी के शुभ कर्म उदय में आये। वह साता वेदनीय का अनुभव कर रहा है। इसी समय उसके अशुभ कर्मों की ऐसी कुछ परिणति हुई कि उसका सातावेदनीय असातावेदनीय के रूप में परिणत हो गया। इसी प्रकार असाता भोगते समय शुभ कर्मों की ऐसी परिणति हो गई कि उसकी असाता साता में परिणत हो गई। यह वेदनीय कर्म का संक्रमण कहलाया।

यद्यपि यह सत्य है कि कृत्य कर्म निष्फल नहीं होते, तथापि निराश होने का कोई कारण नहीं है। पाप को काट डालना या पुण्य रूप में पलट देना हमारी शक्ति के बाहर नहीं हैं। पाप पुण्य रूप में परिणत हो सकता है और कट भी सकता है। अगर ऐसा न होता तो दान, तप आदि अनुष्ठान निरर्थक हो जाता। लेकिन यह अनुष्ठान निरर्थक नहीं है। तपस्या में इतनी प्रचण्ड शक्ति है कि उससे घोर से घोर कर्म भी नष्ट किये जा सकते हैं।

प्रदेशी राजा अपने अशुभ कर्मों को शुभ रूप में पलट कर सूर्याभ देव हुआ था। तात्पर्य यह हैं कि आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता और हर्त्ता है। उसमें असीम शक्ति है। वह शुभ को अशुभ रूप में और अशुभ को शुभ रूप में परिवर्तित भी कर सकता है। यह परिवर्तन ही संक्रमण कहलाता है।

अगला प्रश्न है–नारकियों के कितने प्रकार के पुद्गल निधत्त हुए ?

भिन्न–भिन्न पुद्गलों को इकट्ठा करके धारण करना निधत्त करना कहलाता है। अर्थात् कर्म–पुद्गलों एक–दूसरे पर रख देना, जैसे एक थाली में बिखरी हुई सुइयों को एक के ऊपर दूसरी, आदि के क्रम से जमा देना, निधत्त करना कहलाता हैं। निधत्त शब्द यहां रूढ है।

निधत्त, कर्म की अवस्था विशेष है। इस अवस्था को प्राप्त हुए कर्मों में उद्वर्त्तना या अपवर्तना करण ही परिवर्तन कर सकते हैं, अन्य कारण नहीं। तात्पर्य यह है कि निधत्त अवस्था से पहले तो और भी करण लग सकते थे, मगर निधत्त अवस्था में उक्त दो करणों के अतिरिक्त कोई तीसरा करण नहीं लग सकता। जब कर्म पूर्वोक्त उद्वर्त्तना और अपवर्तना करण के सिवाय और किसी करण का विषय न हो, इस अवस्था का नाम निधत्त है।

अब प्रश्न यह कि नारकी कितने प्रकार के कर्मो को निकाचित करते हैं?

जिन कर्मो को निधत्त किया गया था, उन्हें ऐसा मजबूत कर देना कि जिससे वे एक दूसरे से अलग न हो सकें और जिनमें कोई भी करण कुछ भी फेरफार न कर सकें, इसे निकाचित करना कहते हैं। उदाहरणार्थ–सुइयों को एक–दूसरे के पास इकट्ठा कर देना निधत्त करना कहलाता है और उसके पश्चात् उन्हें अग्नि में तपाकर हथौड़े से ठोक दिया और आपस में इस प्रकार मिला दिया, जिससे वे एक–दूसरे से अलग न हो सकें। सुइयों के समान कर्मों का इस प्रकार मजबूत हो जाना कि फिर उसमें परिवर्तन न हो, निकाचित हो जाना कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि निकाचित कर्म वह कहलाते हैं, जिनमें किसी प्रकार का संक्रमण न हो सके; जिस रूप में बांधे हैं उसी रूप में भोगने पड़ें; जिनमें अपवर्तना उद्ववर्तना करण भी कुछ न कर सकें। एक रोग साध्य होता है और एक असाध्य। असाध्य रोग में औषध का प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार निधत्त अवस्था तक तो उपाय हो सकता है, परन्तु निकाचित अवस्था में कोई उपाय कारगर नहीं होता। निकाचित कर्म तो जिस रूप में बांधे हैं, उसी रूप में भोगने पडेंगे।

'भिज्जंति' आदि पदों का संग्रह काने के लिए जो गाथा कही गई है, उसका तात्पर्य यह है कि इन सब पदों को इसी प्रकार समझना चाहिए।

अठारह सूत्रों में से यह बतलाया जा चुका है कि नरक के जीव कितने प्रकार के पुद्गलों को भेदते हैं, चय करते हैं, उपचय करते हैं, उदीरणा, वेदना, निर्जरा, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्तन और निकाचन करते हैं? इन सूत्रों में से अन्त के चार सूत्रों में तीनों काल जोड़ देना चाहिए, जिसमें यह बारह हो जाएंगे और प्रारम्भ के छह सूत्रों इनमें मिला देने से सब की संख्या अठारह हो जायेगी यह अठारह सूत्रों का व्याख्यान हो गया।

काल–चलितादि सूत्र

मूलपाठ..

प्रश्न–नेरइया णं भंते! जे पोग्गले तेयाकम्मताए गेण्हंति ते किं तीतकालसमये गेण्हंति?
पडुप्पण्णकालसमए गेण्हंति? अणागयकालसमये गेण्हंति?

उत्तर–गोयमा! णोतीयकालसमय गेण्हंति, पडुप्पण्णकालसमये गेण्हंति,णो अणागयकालसमए गेण्हंति ।

प्रश्न–णेरइया णं भंते!जे पोग्गले तेयाकम्मत्ताए गहिए उदिरेंति,ते किं तीयकालसमयगहिए पोग्गले उदीरंति? पडुप्पण्णकालसमय–घेप्पमाणे पोग्गलेउदीरेंति? गहणसमय–पुरक्खडे पोग्गले उदीरेंति?

उत्तर–गोयमा! अतीतकालसमयगहिए पोग्गले उदीरेंति, णो पडप्पण्णकालसमयघेप्प–माणे पोग्गले उदीरेंति, णो गहणसमयपुरक्खडे पोग्गले उदीरेंति।एवं देंति, णिज्जरेंति।

प्रश्न–णेरइया णं भंते! जीवाओ किं चलिअं कम्मं बंधति? अचलिअं कम्मं बंधंति?

उत्तर–गोयमा! णो चलियं कम्मं बंधंति,अचलिअं कम्मं बंधंति ।

प्रश्न–णेरईया णं भंते! जीवओ किं चलिअं कम्मं उदीरेंति? अचलिअं कम्मं उदीरेंति?

उत्तर–गोयमा! णों चलिअं कम्मं उदीरेंति अचलिअं कम्मं उदीरेंति एवं वेदेंति,उयट्टेंति, संकामेंमि, निहत्तेंमि, निकायेंति। सव्वेसु अचलियं, नो चलियं।

प्रश्न–नेरइया णं भंते! जीवाओ किं चलियं कम्मं निज्जरेंति? अचलिअं कम्मं णिज्जरेंति?

उत्तर—गोयमा! चलियं कम्मं णिज्जरेंति, णो अचलियं कम्मं णिज्जरेंति । गाहा—

बंधो—दय वेदो—यट्ट—संकमें तह णिहत्तण—निकाये ।

अचलियकम्म तु ए भवे, चलियं जीवाओ णिज्जरए ।।

संस्कृत छाया—प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! यान् पुद्गल् तैजस—कार्मणतया गृह्णन्ति, तान् किमतीतकालसंमये ग्रह्णन्ति? प्रत्युत्पत्रकालसमये गृह्णन्ति ? अनागतकालसमये गृह्णन्ति ?

उत्तर—गौतम ! नाऽतीतकालसमये गृह्णन्ति, प्रत्युत्पत्रकालसमये गृह्णन्ति, नाऽनागतकालसमये गृह्णन्ति ?

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! यान् पुद्गलान् तैजसकार्मणतया गृहीतान् उदीरयन्ति, ताान् किमतीतकालसमयगृहीतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति? प्रत्युत्पत्रकालसमयगृह्यमाणान पुद्गलान्
उदीरयन्ति ? ग्रहणसमयपुरस्कृतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति ?

उत्तर—गौतम् ! अतीतकालसमयगृहीतान् पुद्गलान् उदीरवन्ति, नो प्रत्युत्पत्रकालसमयगृह्ययमाणान् पुद्गलान् उदीरयन्ति, नो ग्रहणसमयपुरस्कृतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति। एवं वेदयन्ति, निर्जरयन्ति।

प्रश्न—नैरयिक भगवन्।जीवात् किं चलितं कर्म
बन्धति ? अचलित कर्म बन्धन्ति ?

उत्तर—गौतम ! नो चलितं कर्म बन्धन्ति, अचलितं कर्म बन्धन्ति।

प्रश्न—नैरयिका भगवन्! जीवात् किं चलितं कर्म
उदीरयन्ति ? उचलितं कर्म उदीरयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! नो चलितं कर्म उदीरयन्ति अचलितं कर्म उदीरयन्ति। एवं वेदयन्ति, अपवर्त्तयन्ति, संक्रमयन्ति,
निधत्तं कुर्वन्ति, निकाचयन्ति, सर्वेषु अचलितम्, नो चलितम्।

प्रश्न—नैरयिक भगवन्! जीवात् किं चलितं कर्म निर्जरयन्ति। अचलितं कर्म निर्जरयन्ति ?

उत्तर—गौतम! चलितं कर्म निर्जरयन्ति, नो अचलितं कर्म निर्जरयन्ति। गाथाः— बन्धोदय—वेदाऽपवर्त्तन—सक्रमे तथा निधत्तन—निकाचे।

अचलितं कर्म तु भवेत्, चलितं जीवाद् निर्जरयेत्।।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन्! नारकी जीव जिन पुद्‌गलों को तैजस–कार्मण रूप में ग्रहण करते हैं, उन्हें क्या अतीत काल समय में ग्रहण करते हैं ? वर्त्तमान काल–समय में ग्रहण करते है? या भविष्यकाल समय में ग्रहण करते हैं?

उत्तर–हे गौतम! अतीतकाल–समय में ग्रहण नहीं करते, वर्त्तमान–काल में ग्रहण करते हें, भविष्यकालसमय में ग्रहण नहीं करते।

प्रश्न–हे भगवन्! नारकी तैजस–कार्मण रूप में ग्रहण किये हुए जिन पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं, सो क्या अतीत काल–समय में गृहीत पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं? या वर्त्तमान काल–समय में ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं? या जिनका उदय आगे आने वाला है ऐसे–भविष्यकालीन–पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं?

उत्तर–हे गौतम! अतीत काल–समय में ग्रहीत पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं; वर्त्तमान काल–समय में ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलों की उदीरणा नहीं करते, तथा आगे ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलों की भी उदीरणा नहीं करते। इसी प्रकार वेदते हैं और निर्जरा करते हैं।

प्रश्न–भगवन्! नारकी क्या जीव–प्रदेश से चलित कर्म को बांधते हैं या अचलित कर्म को बांधते हैं?

उत्तर–गौतम! चलित कर्म को नहीं बांधते, अचलित कर्म को बांधते हैं।

प्रश्न–भगवन्! नारकी क्या जीव–प्रदेश से चलित कर्म की उदीरणा करते हैं अथवा अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं?

उत्तर–गौतम! नारकी चलित कर्म की उदीरणा नहीं करते, वरन् अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं। इसी प्रकार वेदन करते हैं, अपवर्त्तन करते हैं, संक्रमण करते हैं, निधत्त करते हैं और निकाचित करते हैं। इन सब पदों में अचलित कहना चाहिए, चलित नहीं।

प्रश्न–भगवन्! क्या नारकी जीव–प्रदेश से चलित कर्म की निर्जरा करते हैं या अचलित कर्म की निर्जरा करते हैं?

उत्तर–गौतम! चलितकर्म की निर्जरा करते हैं, अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते। गाथा–

बंध, उदय, वेदन, अपवर्त्तन, संक्रमण, निधत्तन और निकाचल के विषय में अचलित कर्म समझना चाहिए और निर्जरा के विषय में चलित कर्म समझना चाहिए।

व्याख्यान—पुद्गल सम्बन्धी अठारह सूत्रों की व्याख्या के अनन्तर चार सूत्रों का अधिकार और निरूपण किया जाता है।

गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं—भगवन्! नारकी जीव जिन पुद्गलों को तैजस और कार्मण शरीर के रूप में ग्रहण करते हैं, उन्हें अतीत काल में ग्रहण करते हैं या वर्त्तमान काल—समय में ग्रहण करते हैं? तात्पर्य यह है कि ग्रहण किये हुए पुद्गलों का, पुद्गल नाम मिट कर तैजस और कार्मण शरीर हो जाता है, सो किस काल समय में ?

यहां तीनों कालों के साथ 'समय' विशेषण लगाया गया है अर्थात् काल और समय, इन दो पदों का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि 'काल' शब्द के अनेक अर्थ हैं और 'समय' के भी अनेक अर्थ हैं। अकेले 'काल' शब्द का प्रयोग करने से काला (कृष्ण) अर्थ भी लिया जा सकता था। ऐसा अर्थ यहां प्रस्तुत नहीं है, यह प्रकट करने के लिए काल के साथ 'समय' विशेषण लगा दिया गया है।

आशंका की जा सकती है कि अगर ऐसा था तो 'अतीत समय' ऐसा कह देने से काम चल सकता था, फिर 'काल' पद व्यर्थ क्यों कहा जाये? इसका उत्तर यह है कि समय—समाचार रूप या प्रस्ताव रूप भी होता है। कोई इसी समय को न समझ ले, इसलिए भ्रम निवारण के लिए 'काल' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार काल का विशेषण समय और समय का विशेषण काल कह देने से किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहता और सरलता से इष्ट अर्थ समझा जा सकता है।

एक बात और है। यहां 'अतीतकाल' के साथ 'समय' शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि अतीत काल कह देने मात्र से भी काम चल जाता मगर ऐसा करने से तो न जाने कितनी उत्सर्पिणी अवसर्पिणी का अर्थ समझा जाता! किन्तु यहां समीपवर्ती अतीत काल का अर्थ ही ग्रहण करना है। काल का छोटे से छोटा अंश लेना है और वह भी भूतकाल का ही। अतएव भूतकाल को सूचित करने के लिए 'अतीत' शब्द ग्रहण किया है और उसका छोटे से छोटा अंश समझाने के लिए 'समय' शब्द का प्रयोग किया है।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि नारकी जीव जिन पुद्गलों को तैजस और कार्मण शरीर के रूप में ग्रहण करते हैं, उन्हें अतीत काल में ग्रहण करते हैं, वर्तमान में ग्रहण करते हैं या भविष्य काल में ग्रहण करते हैं ?

इस प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! नारकी जीव अतीत काल में तैजस—कार्मण शरीर रूप में पुद्गलों को ग्रहण नहीं करते, इसी प्रकार भविष्य में भी ग्रहण नहीं करते, किन्तु वर्तमान में ग्रहण करते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। अतीत काल नष्ट हो चुका है, भविष्य काल अभी तक उत्पन्न नहीं हुआ। जो आदमी मर गया है, या जो अब तक उत्पन्न ही नहीं हुआ, वह पत्र नहीं लिख सकता। पत्र वही लिखेगा जो वर्तमान में है।

प्रश्न होता है कि जब प्रत्येक कार्य वर्तमान में ही हो सकता है, भूतकाल या भविष्यकाल में नहीं हो सकता; यह बात प्रसिद्ध है तो यहां तीनों कालों को लेकर प्रश्न क्यों किया गया है?

इसका उत्तर यह है कि भगवान् को लोकोत्तर विषय में, लौकिक बात दिखानी है। एक 'क' वर्ण के उच्चारण में भी असंख्यात समय लग जाते हैं, लेकिन हमें असंख्यात समय का अनुभव नहीं होता। मगर ज्ञानी जानते हैं कि नेत्र मूंद कर खोलने में कितना समय लगता है। इन समयों में से किस समय क्या होता है, यह बताने के लिए ही यह चर्चा की गई है।

'क' वर्ण के उच्चारण में असंख्यात समय लगते हैं, यह अनुभव हमें नहीं होता। अगर अनुभव होता तो गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न ही क्यों करते ? असंख्यात समय किस प्रकार लग जाते हैं, इस बात को पहले दिये हुए कपड़े के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। बल्कि ज्ञानियों का कथन तो यह है कि एक वस्त्र का एक तार टूटने में भी असंख्यात समय लग जाते हैं; क्योंकि एक तार रूई के रेशों से बना है। पहले एक रेशा टूटेगा, तब दूसरा टूटेगा। पहले रेशे के टूटे बिना दूसरा रेशा नहीं टूट सकता। इस प्रकार एक तार टूटने में भी असंख्यात समय लग जाते हैं।

जिसका काम जितने से चल जाता है, वह काल के उतने ही हिस्से कर लेता है। आप लोगों ने वर्ष को महीनों में विभक्त किया। महीनों को सप्ताहों और दिनों में, दिनों को घंटो में, घंटो को मिनटों में और मिनटों को सैकिंडों में बांट लिया। सैकिंडों पर आकर आप रुक गये। लेकिन क्या सैकिंडों के हिस्से नहीं हो सकते? अवश्य! मगर आपका काम इतने से ही चल जाता है, इस कारण आप आगे विभाजन नहीं करते। किन्तु ज्ञानियों को तो एक समय से भी काम है और अपनी दिव्य दृष्टि में वे उस 'समय' को स्पष्ट

रूप से देखते भी हैं। ज्ञानियों द्वारा किये गये इस काल–विभाग से ही अनुभव लगाया जा सकता है कि शास्त्र कितनी सूक्ष्म दृष्टि से लिखे गये हैं।

दूसरा प्रश्न है–हे भगवन्! नारकी जिन पुद्गलों को तैजस कार्मण शरीर के रूप में ग्रहण करते हैं, उन पुद्गलों की जो उदीरणा होती है, वह भूतकाल में गृहीत पुद्गलों की होती है या वर्तमान काल में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की या भविष्य में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की होती है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया–गौतम ! नारकी तैजस–कार्मण शरीर के रूप में ग्रहण किये हुए जिन पुद्गलों की उदीरणा करते हैं वे पुद्गल भूतकाल में ग्रहण किये हुए होते हैं, वर्तमान या भविष्य काल में ग्रहण किये हुए या किये जाने वाले नहीं होते।

बौद्ध लोग क्षणिकवादी हैं। वे वर्तमान काल में ठहरने वाली वस्तु ही मानते हैं, भूत और भविष्य काल में किसी भी पदार्थ का रहना नहीं मानते। जो वर्तमान क्षण में है, उसका दूसरे क्षण में समूल नाश हो जाता है। कोई भी पदार्थ वर्तमान के अतिरिक्त किसी भी काल में नहीं रहता। लेकिन जैन शास्त्र ऐसा नहीं मानता। जैन शास्त्र कहता है कि अगर भूतकाल का पुण्य–पाप सर्वथा नष्ट हो जावे और आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध न रहे, तो फिर से भूतकाल के कर्म, वर्तमान में उदित ही न हों। भूतकाल और भविष्यकाल को एकदम अस्वीकार कर देने से संसार के समस्त व्यवहार ही भंग हो जाएंगे। मान लीजिए, एक मनुष्य ने दूसरे को ऋण दिया। कुछ दिनों के बाद ऋण देने वाला मांगने गया तो ऋण लेने वाला कहेगा'– वाह! किसने ऋण दिया और किसने ऋण लिया है! जिसने ऋण दिया था और जिसने ऋण लिया था, वह दोनों तो उसी समय सर्वथा समाप्त हो गये। अब तुम कोई दूसरे हो और मैं भी और ही हूं। इसी प्रकार अगर कर्म भी नष्ट हो जाते हों तो उनका फल भी किसी को भोगना न पड़ेगा और स्वर्ग–नरक आदि की मान्यताएं हवा में उड़ जाएंगी।

उदीरणा भूतकाल में बंधे हुए कर्म की होती है। वर्तमान में कर्म बंध ही रहा, उसकी उदीरणा नहीं हो सकती और भविष्यकालीन कर्म अब तक बंधे ही नहीं हैं। उसकी उदीरणा होगी ही कैसे!

यहां तैजस और कार्मण दोनों शरीरों का कथन क्यो किया गया है ? अकेले कार्मण शरीर का कथन क्यों नहीं किया? इस प्रश्न का उत्तर यह

है कि तैजस शरीर आठ स्पर्शी है और कार्मण चतुःस्पर्शी है। कार्मण शरीर तैजस के बिना नहीं रह सकता, जैसे बिजली और तांबे का तार। शक्ति बिजली और तार मिलकर उपयोगी होते हैं। इसी प्रकार बिना तैजस शरीर के कार्मण शरीर ठहर नहीं सकता। इसी कारण यहां दोनों का ही ग्रहण किया गया है।

आत्मा के साथ पहले का जो तैजस–कार्मण शरीर है, वह सूक्ष्म है। वर्तमान में जो पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, उनका पुद्गल नाम मिटकर तैजस कार्मण नाम हो जाता है। इस सूत्र से यह सिद्ध होता है कि जीव कहीं भी जाता है, तैजस और कार्मण उसके साथ सदैव बने रहते हैं।

तीसरा प्रश्न है–भगवन्! नारकी जिन कर्मो को वेदते हैं–जिन कर्मों का फल भोगते हैं, वे कर्म भूतकाल के हैं, या वर्तमान काल के या भविष्य काल के?

इसके उत्तर में भगवान् ने कहा–गौतम ! अतीतकाल में ग्रहण किये हुए कर्मों का वेदन होता है; वर्तमान के तथा भविष्य के कर्मों का वेदन नहीं होता। इसी प्रकार निर्जरा भी भूतकाल में ग्रहण किये हुए कर्मों की होती है, वर्तमान या भविष्यकालीन कर्मों की नहीं होती। यह चार सूत्र हुए। आगे कर्म–अधिकार से आठ सूत्र कहे जाते हैं।

पहला प्रश्न है–भगवन्! नारकी जीव चलित कर्म बांधता है या अचलित कर्म बांधता है?

इस प्रश्न का उत्तर है– गौतम! नारकी जीव अचलित कर्म का बंध करता है, चलित कर्म का बंध नहीं करता।

यहां यह जिज्ञासाा हो सकती है कि जो अचलित है उसका बांधना क्या? जो गाय बंधी है, वह तो बंधी है ही; उसकी बांधना क्या ? बांधना तो उसे पड़ता है जो छूटी हो । इसी प्रकार जो कर्म अचलित हैं–स्थिर हैं, उन्हें क्या बाधंना?

इसका समाधान करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि चलित कर्म और अचलित कर्म की व्याख्या क्या है।

गाय को एक बार बांधने के लिए लाते हैं और एक बार बाहर निकालने ले जाते हैं। यद्यपि गाय दोनों अवस्थाओं में चलित है लेकिन बाहर

निकलती हुई गाय बंधनी है या बांधने के लिए खूंटे पर आई हुई? बंधने के लिए खूंटे के पास आई हुई गाय बांधी जाती है।

तो जीव के प्रदेश से जो कर्म चलायमान हो गये, उन्हें जीव नहीं बांधता, क्योंकि वे ठहरने वाले नहीं है। ऐसे कर्म चलित कहलाते हैं। इससे विपरीत कर्म अचलित कहे जाते हैं।

व्याख्यान सभा में एक भाई आ रहा है और एक जा रहा है। एक भाई यहां सब को यथास्थान बैठाने वाला है। बैठाने वाला भाई उसी को बिठलाएगा जो बैठने के लिए आया हैं। जो जा रहा है उसके बैठाने के लिए व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता है? जो जा रहा है और जो आ रहा है, दोनों ही चलित जान पड़ते हैं, लेकिन आने वाला बैठने के लिए आया है, अतएव वह स्थिर है और जाने वाला चलित है।

यही बात कर्म के सम्बन्ध में है। जीव आने वाले कर्मो को बांधता है या जाने वाले कर्मो को? इसका उत्तर दिया गया है—आने वाले अर्थात् आये हुए कर्मो को। शास्त्रीय परिभाषा में जाने वाले—अर्थात् जो कर्म जीव—प्रदेश में नहीं रहने वाले हैं उन कर्मो को चलित कहते हैं और उनसे विपरीत को अचलित कहते हैं। इसी आधार पर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि जीव चलित कर्म बांधता है अथवा अचलित कर्म बांधता है? भगवान् ने उत्तर दिया—जीव अचलित कर्म बांधता है, चलित नहीं।

दूसरा प्रश्न है—भगवन्! नरक के जीव चलित कर्म की उदीरणा करते हैं या अचलित कर्म की?

इसका उत्तर भगवान् ने यह फरमाया है कि नारकी अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं।

जो कर्म चलित है, वह तो आप ही चलायमान हो रहा है, उसकी उदीरणा क्या होगी ! जो मनुष्य स्वयं जा रहा है उसका बाहर निकालना ही क्या ! बाहर तो वही निकाला जायेगा जो बैठने की चेष्टा कर रहा हो या बैठा हो। जो बैठा हो उसे निकालने की चेष्टा करना ही उदीरणा है अर्थात् कर्मो को उनके जाने के नियत समय से पहले ही भगा देना उदीरणा कहलाती है। अतएव उदीरणा अचलित कर्म की ही होती है, चलित की नहीं।

तीसरा प्रश्न है– वेदना चलित कर्म की होती है या अचलित कर्म की? इस प्रश्न का उत्तर भी यही है कि अचलित कर्म की वेदना होती है, चलित कर्म की नहीं।

तात्पर्य यह है कि जो कर्म जीव–प्रदेश से चलित हो गया है, वह जीव को अपने फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। जो जहां स्थित नहीं है, वह वहां फल भी उत्पन्न नहीं कर सकता।

चौथा प्रश्न है–तीव्र रस का मंद रस आदि अचलित कर्म का होता है या चलित कर्म का? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है कि उचलित कर्म का होता है, चलित का नहीं।

इसी प्रकार पाँचवां प्रश्न संक्रमण का, छठा निधत्त का और सातवां निकाचित का है। इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है–अचलित कर्म का ही संक्रमण, निधत्तन और निकाचन होता है।

आठवां प्रश्न निर्जरा के संबंध में है। निर्जरा चलित कर्म की होती है, अचलित की नहीं। आत्मप्रदेशों से कर्म– पुद्‌गलों को हटा देना निर्जरा है। अचलित कर्म आत्मप्रदेश से हटते नहीं हैं, चलित कर्म ही हटते हैं। इसलिए निर्जरा चलित कर्म की होती है, अचलित कर्म की नहीं।

इन आठ प्रश्नों की संग्रह गाथा में यही बात कही गई है। बंध–उदय, वेदना, उदीरणा, अपवर्त्तन, संक्रमण, निधत्त और निकाचित, इन सात प्रश्नों में अचलित कर्म कहना चाहिए और आठवें प्रश्न निर्जरा से चलित कर्म कहना चाहिए।

असुरकुमार देवों का वर्णन

मूलपाठ

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते! केवइयं कालं ठिई पण्णत?

उत्तर—गोयमा! जहण्णेणं दस वाससह स्साहइं, उक्कोसेणं सातिरेंगे सागरोवमं।

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते! केवइकालस्स अणमंति वा, पाणमंति वा?

उत्तर—गोयमा! जहण्णेणं सत्तणहं थोवाणं, उक्कोसेणं साइरेगस्स पक्खस्स आणमंति वा, पाणमंति वा।

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते! आहारट्ठी?

उत्तर—हंता, आहारत्ती ।

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

उत्तर—गोयमा! असुरकुमाराणं दुविहे आहारे पत्रते; तंजहा—अभोगनिव्वत्तिए, अणा—भोगनिव्वत्तिए। तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्व त्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्प—ज्जइ। गोयमा! तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से जहण्णेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं साइरेगस्स वाससहस्ससस आहरट्ठे समुप्पज्जइ।

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते! किं आहारं आहारंति?

उत्तर—गोयमा! दव्वओ अणंतपएसिआइं दव्वाइं,खित्त—काल—भाव—पत्रवणागमेणं सेसं जहा रेरइयाणं जाव।

प्रश्न—ते णं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति?

उत्तर—गोयमा! सेइंदियत्ताए, सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए, इट्ठत्ताए, इच्छियत्ताए, णो अइत्ताए, सुहत्ताए णो दुहत्ताए भुज्जो भुज्जोपरिणमिंति।

प्रश्न—असुरकुमाराणं पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया?

उत्तर—असुरकुमाराभिलावेण जहा नेरइयाणं, जाव चलिअं कम्मं निज्जरंति।

संस्कृत छाया—प्रश्न—असुरकुमाराणां भगवन्! कियत्कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?

उत्तर—गौतम! जघन्येन दश वर्षसहस्राणि, उत्कृष्टेन सातिरेकं सागरोपम्।

प्रश्न—असुरकुमारा भगवन्! कियत्कालेन अनामन्ति वा प्राणामन्ति वा?

उत्तर—गौतम! जघन्येन सप्तभिः स्तोकैः उत्कृष्टेन सातिरेकेण पक्षेण आनमन्ति वा प्राणमन्ति वा।

प्रश्न—असुरकुमार। भगवन्! आहारार्थिनिः?

उत्तर—हन्त, आहारार्थिनः।

प्रश्न—असुरकुमाराणां भगवन्! कियत्कालेन आहारार्थः समुत्पद्यते?

उत्तर—गौतम! असुरकुमाराणां द्विविध आहारः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—आभोगनिर्वर्त्तितः। तत्र योऽसौ अनाभोगनिर्वर्त्तितः सोऽनुसमयमविरहित आहारर्थः समुत्पद्यते। गौतम! तत्र योऽसौ आभोगनिर्वर्त्तितः स जघन्येन चतुर्थभक्तेन, उत्कृष्टेन सातिरेकेण वर्षसहस्रेण आहारार्थ समुत्पद्यते।

प्रश्न—असुरकुमारा भगवन्! किमाहारमाहरन्ति?

उत्तर—गौतम! द्रव्यतोऽनन्तप्रदेशकानि, क्षेत्र—काल—भावे प्रज्ञापनागमेन। शेषं यथा नैरयिकाणां यावत्—

प्रश्न—ते तेषां पुद्गलाः कीदृशतया भूयो भूयः परिणमन्ति?

उत्तर—गौतम! श्रोत्रेन्द्रियतया, सुरूपतया, सुवर्णतया,इष्टतया, ईप्सिततया, हृद्यतया, ऊर्ध्वतया, नो अधस्तया, सुखतया, नो दुःखतया, भूयो भूयः परिणमन्ति।

प्रश्न—असुरकुमाराणं भगवन् ! पूर्वाहृताः पुद्गलाः परिणताः?

उत्तर—गौतम! असुरकुमाराभिलापेरन तथा नैरयिकाणां, यावत् चलितं कमं निर्जरयन्ति।

मूलार्थ—(श्री गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं)— भगवन्! असुरकुमारों की स्थिति कितनी है?

उत्तर—गौतम! जधन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट सागरोपम से कुछ अधिक की।

प्रश्न—भगवन्! असुरकुमार कितने समय में श्वास लेते हैं और कितने समय में निःश्वास छोड़ते हैं?

उत्तर–गौतम्। जघन्य सात स्तोक रूप काल में और उत्कृष्ट एक पखवाड़े से अधिक काल में।

प्रश्न–भगवान्! असुरकुमार आहार के अभिलाषी हैं?

उत्तर– हां, गौतम! हैं।

प्रश्न– भगवन्! असुरकुमारों को कितने काल में आहारा की अभिलाषा होती है?

उत्तर– असुरकुमारों का आहार दो प्रकार का है– एक आभोगनिर्वर्तित, दूसरा अनाभोगनिर्वर्त्तित। अनाभोगनिर्वर्त्तित अर्थात् बुद्धिपूर्वक न होने वाले आहार की अभिलाषा उन्हें निरन्तर हुआ करती है। आभोगनिर्वर्त्तित आहार की अभिलाषा जघन्य चार भक्त में (एक अहोरात्रि में) और उत्कृष्ट हजार वर्ष से कुछ अधिक काल में होती है।

प्रश्न– भगवन्! असुरकुमार किन पदार्थों का आहार करते हैं?

उत्तर– गौतम! द्रव्य से अनन्त प्रदेश वाले द्रव्य का आहार करते है।

क्षेत्र, काल आदि के विषय में पण्णवणासूत्र का वही वर्णन जान लेना चाहिए जो नारकियों के प्रकरण में कहा गया है?

प्रश्न–भगवन्! असुरकुमारों द्वारा आहार किये हुए पुद्‌गल किस रूप में बार–बार परिणत होते हैं?

उत्तर– गौतम! श्रोत्रेन्द्रिय रूप में, सुवर्ण रूप में, इच्छित रूप में, मनोहर रूप में, ऊर्ध्व रूप में और सुख रूप में परिणत होते है। अधःरूप में या दुःख रूप में परिणत नहीं होते।

प्रश्न–भगवन्! असुरकुमारों द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्‌गल परिणत हुए?

उत्तर–गौतम ! असुरकुमार के अभिलाप से अर्थात् नारकी के स्थान पर असुरकुमार शब्द का प्रयोग करते हुए यह सब नारकियों के समान ही समझना चाहिए। यावत् चलित कर्म की निर्जरा करते है।

नागकुमारादि देवों का वर्णन

मूलपाठ—

प्रश्न—नागकुमाराणं भंते! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता?

उत्तर—गोयमा! जहण्णेणं दस वाससहस्साई, उक्कोसेणं देसूणाइ दो पालिओवमाइं।

प्रश्न—नागकुमाराण भंते! केवलइकालस्स आणमंति वा? 4

उत्तर—गोयमा! जहण्णेणं सत्तण्हं थोवाणं उक्कोसेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स आणमंति वा 4।

प्रश्न—नागकुमाराणं आहारट्ठी?

उत्तर— हंता, आहारट्ठी ।

प्रश्न—नागकुमाराणं भंते! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

उत्तर— हंता, आहारट्ठी।

प्रश्न—नागकुमाराणं भंते! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

उत्तर—गोयमा! नागकुमाराणं दुविहे, आहारे पण्णते। तंजहा—आभोगनिव्वत्तिए, अणाभोगनिव्वत्तिए य। तत्थ णं जे से अणाभोग निव्वत्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से जहण्णेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेण दिवसपुहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेसं जहा असुरकुमाराणं, जाव नो अचलियं कम्मं निज्जरंति, एवं सुवत्रकुमाराणं वि, जावप थणियकुमाराणं ति।

संस्कृत छाया—प्रश्न—नागकुमाराणां भगवन् कियत्कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?

उत्तर— गौतम ! जघन्येन दश वर्ष सहस्राणि, उत्कृष्टेन देशोने द्वे पल्योपमे।

प्रश्न— नागकुमारा भगवन! कियत्कालेन आनमन्ति वा 4?

उत्तर–गौतम! जघन्येन सप्तभिः स्तोकैः; उत्कृष्टेन मुहूर्त्तपृथक्त्वेन आनमन्ति वा 4।

प्रश्न– नागकुमारा आहार्थिन :?

उत्तर– हन्त, आहारार्थिन :।

प्रश्न– नागकुमाराणां भगवन्! कियत्कालेन आहारार्थः समुत्पद्यते?

उत्तर–गौतम! नागकुमाराणं द्विविध आहारः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–आभोगनिर्वर्त्तितः, अनाभोगनिर्वर्त्तिततश्च। तत्र योऽसाव–आभोगनिर्वर्तितः सोऽनुसमयमविहित आहारार्थः समुत्द्यते। तत्र योऽसावा–भोगनिर्वर्तितः स जघन्येन चतुर्थभक्तेन उत्कृष्टेन दिवसपृथक्त्वेन आहारार्थः समुत्पद्यते। शेषं यथा असुरकुमाराणाम् यावत् नो अचलित कर्म निर्जरयन्ति। एवं सुवर्णकुमाराणामपि, यावत् स्तनितकुमाराणामिति।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन् नागकुमारों की स्थिति कितनी है?

उत्तर–गौतम! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट कुछ कम दो पल्योपम की।

प्रश्न– भगवन्! नागकुमार कितने समय में श्वासोच्छ्वास लेते हैं?

उत्तर–जघन्य सात स्तोक में और उत्कृष्ट मुहूर्त्त पृथक्त्व में श्वास लेते है और निःश्वास छोड़ते हैं।

प्रश्न–भगवन्! नागकुमार आहारार्थी हैं?

उत्तर–हां गौतम! हैं।

प्रश्न–भगवन्! नागकुमारों को कितना समय बीतने पर आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है?

उत्तर–गौतम! नागकुमारों का आहार दो प्रकार का है–आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित। अनाभोग आहार की अभिलाषा प्रतिसमय सतत उत्पन्न होती है और आभोगनिर्वर्तित आहार की अभिलाषा जघन्य एक दिवस में और उत्कृष्ट दिवसपृथक्त्व के पश्चात् होती है। शेष सब असुरकुमार की तरह समझना चाहिए। इसी प्रकार सुवर्णकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक समझना चाहिए।

पृथ्वीकाय आदि का वर्णन

मूलपाठ–

प्रश्न–पुढवीकाइयाणं भंते! केवइयंकालंठिई पण्णत्ता?

उत्तर–गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं।

प्रश्न–पुढवीकाइया णं भंते! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ?

उत्तर–वेमायाए अणमंति वा।

प्रश्न–पुढवीकाइया आहारट्ठी?

उत्तर– हंता, आहारट्ठी।

प्रश्न– पुढवीकाइयाणं केवइकालस्स आहरट्ठे समुप्पज्जई?

उत्तर– गोयमा! अणुसमयं अविरहिएआहारट्ठे समुप्पज्जइ।

प्रश्न–पुढवीकाइयां किं आहारं आहारेंति?

उत्तर–गोयमा! दव्वओ जहा नेरइयाणं, जाव निव्वाधएणं छद्दिसिं, वाधयं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउद्दिसिं, सिय पंचदिसि, वन्नओं काल–नील–पीत–लोहिय–हालिद्द–सुक्किलाणं। गंधओ सुब्भिगंधाइं 2, रसओ तित्ताइं 5, फासओ कक्खडाइं 8, सेसं तहेव। णाणत्तं–

प्रश्न–कइभागं आहारेंति, कइभागं आसादिंति?

उत्तर–गोयमा! असंखिज्जभागं आहरेंति, अणंतभागं आसाइंति। जाव–

प्रश्न–तेसिं पुग्गला कोसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

उत्तर–गोयमा! फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति। सेसं जहा नेरइयाणं, जाव नो अचलियं कम्मं निज्जरंति। एवं जाव वणस्सइ काइयाणं। णवरं ठिई वण्णेयव्वा जा जस्स। उस्सासो वेमायाए।

संस्कृत छाया—प्रश्न—पृथिवीकायिकानां भगवन्! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ताः?

उत्तर—गौतम! जघन्येन अन्तर्मुहूर्तं, उत्कृष्टेन द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि।

प्रश्न—पृथिवीकायिका भगवन्! कियत्कालेन आनमन्ति वा, प्राणमन्ति वा?

उत्तर—गौतम! विमात्रया आनमन्ति वा।

प्रश्न—पृथिवीकायिका आहारार्थिनः?

उत्तर—हन्त आहारार्थिनः।

प्रश्न—पृथिवीकायिकानां कियत्कालेन आहारार्थः समुत्पद्यते?

उत्तर—गौतम! अनुसमयमविरहित आहारार्थः समुत्पद्यते।

प्रश्न—पृथिवीकायिकाः किमाहारमाहरन्ति?

उत्तर—गौतम ! द्रव्यतो यथा नैरयिकाणां यावत् निव्वर्याधातन षड्दिशम्, व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशम्, स्यात् चतुर्दिशम्, स्यात् पञ्चदिशम्। वर्णतःकाल—नील—पीत—लोहित—हारिद्र—शुक्ला—नाम्। गन्धतः सुरभिगन्धानि 2, रसतः तिक्तानि 5, स्पर्शतः कर्कशानि 9, शेष तथैव, नानात्वम्।

प्रश्न— कतिभागं आहरन्ति, कतिभागं स्पर्शयन्ति?

उत्तर—गौतम ! असंख्येयभागमाहरन्ति, अनन्तभाग स्पर्शयन्ति यावत्।

प्रश्न—तेषां पुद्गलाः कीदृशतया भूयो भूयः परिणमन्ति?

उत्तर—गौतम ! स्पर्शेन्द्रियविमात्रतया, भूयो भूयः परिणमन्ति। शेषं यथा नैरयिकाणाम् यावद् नो अचलितं कर्म निर्जयन्ति। एवं यावत् वनस्पतिकायिकानाम्। नवरं स्थितिर्वर्णयितव्या या यस्स। उच्छ्वासो विमात्रया।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन्! पृथिवीकाय के जीवों की स्थिति कितनी है?

उत्तर—गौतम! जघन्य अन्तुर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव कितने काल में श्वासोच्छ्वास लेते है?

उत्तर—गौतम! विविध काल में श्वासोच्छ्वास लेते है—अर्थात् इनके श्वासोच्छ्वास का समय नियत नहीं है।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव आहार के अभिलाषी हैं?

उत्तर—हां, आहार के अभिलाषी हैं।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीवों को कितने समय में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है?

उत्तर–गौतम! प्रतिसमय–निरन्तर आहार की अभिलाषा होती है।

प्रश्न–भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव किसका आहार करते हैं?

उत्तर–गौतम! द्रव्य से अनन्त प्रदेश वाले द्रव्य का आहार करते हैं, इत्यादि नारकी के समान जानना पृथिवीकाय के जीव व्याघात न हो तो छहों दिशाओ से कदाचित् चार और कदाचित् पांच दिशाओं से आहार लेते हैं। वर्ण से पाचों वर्ण के द्रव्य आहार करते हैं। गंध से दोनो गंध वाले और रस से पांचों रस वाले द्रव्य का आहार करते हैं। स्पर्श की अपेक्षा आठों स्पर्श वाले द्रव्य का आहार करते हैं। शेष सब पहले के वर्णन के समान ही समझना चाहिए।

उत्तर–गौतम! असंख्यात भाग का आहार करते हैं और अनन्त भाग का आस्वादन करते हैं।

प्रश्न–भगवन्! उनके आहार किये हुए पुद्गल बार–बार किस रूप में परिणत होते हैं?

उत्तर–गौतम! विविध प्रकार की स्पर्शनेन्द्रिय के रूप में पुनः–पुनः परिणत होते हैं, शेष सब नारकियों के समान समझना चाहिए। यावत् अचलित कर्म की निर्जरा नहीं होती। इसी प्रकार जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवों के विषय में समझना चाहिए। अलबत्ता इनकी स्थिति पृथक–पृथक है, सो जिसकी जितनी स्थिति हो, उसकी उतनी स्थिति कहनी और उच्छवास भी विविध प्रकार से जानना चाहिए।

द्विन्द्रिय जीवों का वर्णन

मूलपाठ–

बेइंदियाणं ठिई भणिऊण उस्सासोवेमायाए।

प्रश्न–बेइंदियाणे आहारे पुच्छा?

उत्तर–अध्ससश्रससेगपिच्चत्तिए तहेव, तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से णं असंखेज्ज समइए अन्तोमुहुत्तिए वेमायाए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेस तहेव जाव अणंतभाग असायंति।

प्रश्न–बेइंदिया णं भंते! जे पोग्गलेआहरत्ताए गेण्हंति, ते किं सव्वे आहरंति, णो सव्वे आहारंति?

उत्तर–गोयमा ! बेइंदियाणां दुविहं आहरे पन्नते; तंजहा–लोमाहरे पक्खेवाहारे य। जे पोग्गले लोमाहारत्ताए गिण्हंति ते सव्वे अपरिसेसए आहारेंति। जे पक्खेवाहारत्ताए गिण्हंति तेसि णं पोग्गलाणं असंखेज्जइभागं आहारेंति, अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणासाइज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं, विद्धंसं आगच्छंति।

प्रश्न–एएसि णं भंते! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वो विसेसाहिया वा?

उत्तर–सव्वथोवा पुग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा।

प्रश्न–बेइंदिया णं भंते! जे पोग्गला आहारत्ताए गिण्हंति, ते णं तेसिं पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति?

उत्तर–गोयमा! जिब्भिदिय–फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

प्रश्न–बेइंदियाणं भंते! पुव्वाहारियापोग्गला परिणया ?

उत्तर– तहेव, जाव चलिअं कम्मं निज्जरंति।

संस्कृत छाया–द्वीन्द्रियाणं स्थितिर्भणित्वा उच्छ्वासो विमात्रया।

प्रश्न–द्वीन्द्रियाणामाहारे पृच्छा?

उत्तर–अनाभोगनिर्वर्तितस्तथैव। तत्र योऽसावाभोगनिर्वर्तितः सोऽसंख्येयसमयिक आन्तमौहूर्तिकः विमात्रया आहारार्थः समुत्पद्यते। शेषं तथैव यावद् अनन्तभागमास्वादयन्ति।

प्रश्न–द्वीन्द्रिया भगवन्! यान् पुद्गलान् आहारतया गृह्णन्ति तान् किं सर्वान् आहरन्ति, सर्वानाहरन्ति?

उत्तर–गौतम! द्वीन्द्रिया णं द्विविध आहारः प्रज्ञप्तः तद्यथा–लोमाहारः प्रक्षेपाहारश्च। यान् पुद्गलान् लोमाहारतया गृह्णन्ति तान् सर्वान् अपरिशेषितान् आहरन्ति। यान् प्रक्षेपाहारतया गृहणन्ति तेषां पुद्गलानामसंख्येयभागमाहरन्ति, अनेकानि च भागसहस्राणि अनाखाद्यमानानि, अस्पर्श्यमानानि विध्वंसमागच्छन्ति।

प्रश्न–एतेषां भगवन्! पुद्गलानां अनास्वाद्यमानानां अस्पर्श्यमानानां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा, बहुका वा, तुल्या वा विशेषाधिका वा?

उत्तर–गौतम! सर्वस्तोकाः पुद्गला अनास्वाद्यमाना अस्पर्श्यमाना अनन्तगुणा।

प्रश्न–द्वीन्द्रिया भगवन्! यान् पुद्गलान् आहारतया गृह्णन्ति, ते तेषा पुद्गलाः कीदृशतया भूयो भूयः परिणमन्ति?

उत्तर–गौतम ! जिह्वेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रियविमात्रया भूयो भूयः परिणमन्ति।

प्रश्न– द्वीन्द्रियाणं भगवन्! पूर्वाहृता पुद्गलाः परिणताः?

उत्तर–तथैव, यावत् चलितं कर्म निर्जरयन्ति।

मूलार्थ–दो–इन्द्रिय जीवों की स्थिति कहकर उनका विमात्रा से अनियत– श्वासोच्छ्वास कहना चाहिए।

तत्पश्चात् द्वीन्द्रिय जीव के आहार का प्रश्न होता है कि–भगवन! द्वीन्द्रिय जीव को कितने काल में आहार की अभिलाषा होती है?

उत्तर–अनाभोगनिर्वर्तित आहार पहले के ही समान समझना चाहिए। जो आभोगनिर्वर्तित आहार है वह द्वीन्द्रिय जीवों का दो प्रकार का है– रोमाहार (रोमों द्वारा खींचा जाने वाला आहार) और प्रक्षेपाहार (कौर करके मुंह में डालकर किया जाने वाला आहार) जो पुद्गल रोमाहार के रूप में ग्रहण किये जाते हैं, उन सब के सब का आहार होता है और जो पुद्गल प्रक्षेपाहार के रूप में ग्रहण किये जाते हैं, उनमें से असंख्यातवां भाग खाया जाता है,

शेष अनेक हजार भाग बिना आस्वाद के और बिना स्पर्श के ही नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न–भगवन्! नहीं आस्वादन किये जाने वाले और नहीं स्पर्श किये जाने वाले पुद्‌गलों में से कौन किससे अल्प है, बहुत है, तुल्य है या विशेषाधिक हैं? अर्थात् जो पुद्‌गल आस्वाद में नहीं आये, वे अधिक है या जो स्पर्श में नहीं आये वे अधिक हैं?

उत्तर–गौतम! आस्वाद में नहीं आने वाले पुद्‌गल सब से कम हैं और स्पर्श में नहीं आये हुए पुद्‌गल उनसे अनन्त गुने हैं।

प्रश्न–भगवन! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्‌गलों को आहार रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्‌गल किस रूप में पलटते हैं?

उत्तर–गौतम! जिह्वा इन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप में पलट जाते हैं।

प्रश्न–भगवन्! द्वीन्द्रिय जीव द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्‌गल परिणत हुए–पलटे हैं?

उत्तर–यह सब वक्तव्य पहले की भांति ही समझना। यावत् चलित कर्म की निर्जरा होती है।

त्रीन्द्रिय आदि जीवों का वर्णन

मूलपाठ–

तेइंदिय–चउरिंदियाणं णाणतं ठिइए, जाव णेगाइं णं भागसहस्साइं अणाघाइज्जमाणाइं अणासाइज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं विद्धंसं आगच्छन्ति।

प्रश्न–एएसिं णं भंते! पोग्गलाणं अणाधाइज्जमाणाणं 3 पुच्छा?

उत्तर–गोयमा! सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा, अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणां, तेइंदियाणं घाणिंदिय–जिब्भिदिय–फासिंदिय–वेमायाए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

संस्कृत छाया–त्रीन्दिय–चतुरिन्द्रियाणं नानात्वं स्थितौ यावत् अनेकानि च भागसहस्राणि अनाघ्रायमाणानि, अनास्वाद्यमानानि, अस्पृश्यमानानि विध विध्वंसमागच्छन्ति।

प्रश्न–ऐतेषां भगवन्! पुद्गलानामनाघ्रायमाणानां 3 पृच्छा?

उत्तर–गौतम! सर्वस्सतोका पुद्गला अनाघ्रायमाणाः, अनास्वाद्यमाना अनन्तगुणाः, अस्पश्र्यमाना अनन्तगुणाः। त्रीन्द्रियाणं घ्राणेन्द्रिय–जिह्वेन्द्रिय–स्पर्शन्द्रियविमात्रया भूयो भूयः परिणमन्ति।

मूलाथ–तीन इन्द्रिय वाले और चार इन्द्रिय वाले जीवों की स्थिति में भेद है, शेष सब पहले की भांति है। यावत् अनेक हजार भाग बिना सूंघे, बिना चखे, बिना स्पर्श ही नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न–भगवन्! इन नहीं सूंघे, नहीं चखे और नहीं स्पर्श किये हुए पुद्गलों में कौन किससे थोड़ा, बहुत तुल्य या विशेषाधिक है?

उत्तर– हे गौतम! सब से कम नहीं सूंघे हुए पुद्गल हैं, उनसे अनन्त गुने नहीं चखे हुए और उनसे अनन्त गुने नहीं स्पर्श किये हुए पुद्गल हैं। तीन

इन्द्रिय वाले जीवों द्वारा खाया हुआ आहार घ्राणन्द्रिय के रूप में, जिह्वा इन्द्रिय के रूप में और स्पर्श–इन्द्रिय के रूप में बार–बार परिणत होता है। चार इन्द्रिय वाले जीवों द्वारा खाया हुआ आहार आंख, नाक, जीभ और स्पर्शनेन्द्रिय के रूप में बार–बार परिणत होता है।

पञ्चेन्द्रियतिर्यंच–तथा–मनुष्य आदि का वर्णन

मूलपाठ

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं ठिइ भणिऊणं उस्सासो वेमायाए। आहारो अणाभोगनिव्वत्तिओ अणुसमयं अविरहिओ, आभोगनिव्वत्तिओ जहण्णेणं अंतोमुहुत्तस्स, उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स। सेसं जहा चउरिंदियाणं, जाव–चलियं कम्मं णिज्जरेंति। एवं मणुस्साण वि, णवरं–आभोगनिव्वत्तिए जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्स। सोइंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति। सेसं जहा तहेव जाव–निज्जरेंति।

संस्कृत छाया–पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां स्थितिर्भणित्वा उच्छ्वासो विमात्रया। आहारोऽनाभोगनिर्वर्तितोऽनुसमयमविरहितः, आभोगनिर्वर्तितो जघन्येन अन्तर्मुहूर्त्तेन, उत्कृष्टेन षष्टभक्तेन शेषं यथा चतुरिन्द्रियाणाम्। यावत्चलितं कर्म निर्जरयन्ति।

एवं मनुष्याणामपि, नवरम् आभेगनिर्वर्तितो जघन्येन अन्तर्मुहूर्तेन, उत्कृष्टेन, अष्टमभक्तेत। श्रोत्रेन्द्रियविमात्रतया भूयो भूयः परिणमन्ति।

मूलार्थ–पांच अन्द्रिय वाले तिर्यञ्चों की स्थिति कह कर उनका आहार विमात्र से विविध प्रकार से–कहना चाहिए। अनाभोगनिर्वर्तित आहार प्रतिसमय निरन्तर होता है। आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त में और उत्कृष्ट षष्ठ भक्त (दो दिन व्यतीत हो जाने पर) होता है। शेष वक्तव्यता चतुरिन्द्रिय जीवों के समान समझना चाहिए। यावत् चलित कर्म की निर्जरा होती है। मनुष्यों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही जानना चाहिए। विशेषता इतनी

है कि उनका आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अष्टम भक्त–तीन दिवस बीतने पर होता है। पंचेन्द्रिय द्वारा गृहीत आहार (पूर्वोक्त चार इन्द्रियों के अतिरिक्त) श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में भी परिणत होता हैं। शेष सब पहले के समान समझना चाहिए, यावत् चलित कर्म की निर्जरा करते हैं।

वाण–व्यन्तर आदि का वर्णन

मूलपाठ

वाणमंतराणं ठिइए नाणत्त्वं। अवसेसंजहा णागकुमाराण। एवं जोइसियाण वि, णवरं उस्सासो जहण्णेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स। आहारों जहण्णेण्धं दिवसपुहुत्तस्स, उक्कोसेण वि दिवसपुहुत्तस्स। सेसं तहेण। वेमाणियाणं ठिई भाणियव्वा ओहिया। ऊसासो जहण्णेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स, उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं। आहारो आभोगनिव्वत्तिओ जहण्णेणं दिवसपुहुत्तस्स, उक्कासेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं। सेसं चलियाइयं तहेव निज्जरावेंति।

संस्कृत छाया–वानव्यन्तराणां स्थितौ नानात्वम् अवशेषं यथा नागकुमाराणाम्।

एवंचं ज्योतिष्काणामपि, नवरं उच्छ्वासौ जघन्येन मुहूर्तपृथक्त्वेन, उत्कृष्टेनापि मुहूर्त्तपृथक्त्वेन। आहारो जघन्येन दिवसपृथक्त्वेर, उत्कृष्टेनापि दिवसपृथक्त्वेन्। शेषं तथैव।

वैमानिकानां स्थितिर्भणितव्या औधिकी। उच्छ्वासो जघन्येन मुहूर्त्तपृथक्त्वेन उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिंशता पक्षैः, आहार आभोगनिर्वर्तितो जघन्येन दिवसपृथक्त्वेन, उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिशता वर्षसहस्रैः। शेषं चलितादिकं तथैक निर्जरयन्ति।

मूलार्थ–वाण–व्यन्तरदेवों की स्थिति में भेद है, शेष सब नागकुमारों के समान समझना चाहिए।

यही ज्योतिषी देवों के संबंध में भी जानना चाहिए। विशेषता यह है कि–ज्योतिषी देवों को उच्छ्वास–निश्वास जघन्य और उत्कृष्ट मुहूर्त्तपृथक्त्व के बाद होता है; और आहार जघन्य एवं उत्कृष्ट से दिव–पृथक्त्व के पश्चात् हुआ करता है। और सब बातें पहले के समान ही समझना चाहिए।

वैमानिकों की स्थिति ओधिकी (सामान्य) कहनी चाहिए। उनका उच्छ्वास जघन्य मुहूर्तपृथक्त्व और उत्कृष्ट तेतीस पक्ष के पश्चात् होता है। उनका आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य दिवसपृथक्त्व के बाद और उत्कृष्ट तेतीस हजार वर्ष बाद होता है। चलित कर्म की निर्जरा होती है, इत्यादि शेष सब पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

व्याख्यान–ऊपर जो विविध प्रकार के जीवों का वर्णन दिया गया है, उसकी कुछ विशेष बातों पर टीकाकार ने प्रकाश डाला है।

असुर कुमार की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम से कुछ अधिक की कही गई है, सो बलि नामक असुरराज की अपेक्षा से है। चरमेन्द्र की आयु एक सागरोपम की ही है। और बलिराज का आयुष्य चरमेन्द्र के आयुष्य से कुछ अधिक है।

असुरकुमार का श्वासोच्छ्वास जघन्य सात स्तोक में बतलाया है, किन्तु स्तोक किसे कहते हैं, यह जान लेना आवश्यक है–टीकाकार कहते हैं–

हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरूवकिट्ठस्स जंतुणो।
एगे ऊसास नीसासे एस पाणुत्ति वुच्चई ।।
सत्त पाणुणि से थोवे, सत्त थोवणि से लवे।
लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहूत्ते वियाहिए।।

स्तोक का परिमाण बतलाने के लिए श्वासोच्छ्वास से आरम्भ किया है; पर प्रत्येक जीव का श्वासोच्छ्वास समान कालीन नहीं होता, अतएव शास्त्र में कहा है कि इस गणना में मनुष्य का श्वासोच्छ्वास लेना चाहिए। वह मनुष्य हृष्ट हो, बहुत बूढ़ा न हो, शोक–चिन्ता वाला न हो, रुग्ण न हो। ऐसे मनुष्य के एक श्वास और उच्छ्वास को प्राण कहते हैं। सात प्राण का एक स्तोक होता है सात स्तोक का लव होता है और सतत्तर लव का एक मुहूर्त होता है।

काल के लौकिक माप पराधीन हैं। आज घड़ी से काल का माप होता है, लेकिन घड़ी टूट जाये तो क्या किया जाएगा। ज्ञानियों का कथन है कि प्रकृति स्वयं काल नापती है, उसे समझ लेना चाहिए। अनुयोग द्वारा सूत्र में प्रकृति का माप सरसों आदि से बतलाया है।

जो माप किसी और के आश्रित नहीं है, किन्तु प्रकृति के आश्रित हैं, वह लोकोत्तर माप है। दुनिया स्वतंत्रता को त्याग कर परतंत्रता के माप में पड़ रही है, लेकिन अन्त में प्रकृति का आश्रय लेना ही पड़ता है।

ऊपर मूहूर्त का परिमाण बतलाया गया है। तीस मूहूर्त का अहोरात्र और पन्द्रह अहोरात्र का पक्ष (पखवाड़ा) होता है। एक मास में दो पक्ष होते हैं। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार महीने में कम ज्यादा दिन हो जाते हैं, इसलिए पक्ष में भी कम ज्यादा होते हैं। "आजकल संवत्सरों पर्व ज्योतिष के हिसाब से माना जाता है, लेकिन शास्त्रकारों ने काल के माप के लिए पांच संवत्सर अलग कर दिये हैं। शास्त्र में कहा है कि 77 लव का एक मुहूर्त होता है, 30 मुहूर्त का एक दिन–रात होता है, 14 दिन–रात का एक पक्ष और 30 दिन–रात का एक मास होता है। इस काल गणना में किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं पड़ती।

काल–गणना की अनेक विधियां प्रचलित हैं। अंग्रेज लोग काल मापने के लिए ज्योतिष के सहारे नहीं रहे। उन्होंने तारीखें नियत कर ली हैं और चार वर्ष में एक दिन बढ़ा दिया है।

अगर हमारे यहां जीव व्यवहार से ऐसा कोई नियम बना दिया जाये तो संवत्सरी आदि में कोई अन्तर न रहे। प्रश्न होता है, नियम किस आधार पर बनाया जाये ? इसका उत्तर स्पष्ट है–77 लव का एक मुहूर्त, 30 मूहूर्त का एक अहोरात्र, 15 अहोरात्र का एक पक्ष और दो पक्ष का एक मास होता हैं दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक संवत्सर होता है।"

असुरकुमार का आहार जघन्य चार भक्त में बतलाया है। चार भक्त का अर्थ एक दिन आहार करे, फिर एक दिन और दो रात न खाकर तीसरे दिन खावे। इसे चतुर्थ भक्त कहते हैं। चतुर्थ भक्त उपवास की एक संज्ञा है।

नागकुमार की दो पल्योपम की स्थिति कही गई है। यह उत्तर दिशा के नागकुमार की अपेक्षा से है। दक्षिण दिशा के नागकुमार की अपेक्षा डेढ पल्योपम की ही स्थिति है।

मुहूर्त पृथक्त्व का अर्थ है, 77 लव बीतने पर एक मुहूर्त होता है और दो मुहूर्त से लेकर नौ मुहूर्त तक को मुहूर्त पृथक्त्व कहते हैं। दो से लेकर नौ तक की संख्या सिद्धान्त में पृथक्त्व कहलाती है।

असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक का वर्णन किया गया है। इनके बीच में किन–किन का समावेश है, यह बात इस संग्रह गाथा से ज्ञात हो सकती है :–

असुरा नाग–सुवण्णा,विज्जु–अग्गी य दीव–उदही य ।
दिसि–वाऊ थणिया वि य, दसभेया भवणावासीणं।।

अर्थात्–भवनवासी देवों के दस भेद हैं– (1) असुरकुमार (2) नागकुमार (3) सुवर्णकुमार (4) विद्युतकुमार (5) अग्निकुमार (6) द्वीपकुमार (7) उदधिकुमार (8) दिक्कुमार (9) वायुकुमार और (10) स्तनितकुमार।

एक दण्डक नारकी जीवों का और दस दण्डक भवनवासी देवों के, यह ग्यारह दण्डक हुए। इसके पश्चात् एक दंडक पृथ्वीकाय के जीवों का आता है।

पृथ्वीकायिक जीवों की आयु अन्तर्मुहूर्त्त की है। ऊपर जो परिमाण मुहूर्त्त का बतलाया गया है, उससे कुछ कम समय अन्तर्मुहूर्त्त कहलाता है। पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट स्थिति 22 हजार वर्ष की, खर पृथ्वी की अपेक्षा से कही गई है। पृथ्वी के छह भेद हैं–

सण्हा य सुद्ध वालुय, मणांसिला सक्कारा य खर पुढवी।
एगं बारस चोद्दस सोलस अट्ठारस बावीस त्ति।।

पहली स्निग्ध–सुहाली पृथ्वी है। इसकी स्थिति एक हजार वर्ष की है। दूसरी शुद्ध पृथ्वी की बारह हजार वर्ष की स्थिति है। तीसरी बालुका पृथ्वी की चौदह हजार वर्ष की, चौथी मनःशिला पृथ्वी की सोलह हजार वर्ष की, पाचवीं शर्करा पृथ्वी की अठारह हजार वर्ष की, और छठी खर पृथ्वी की बाईस हजार वर्ष की स्थिति है।

विमात्रा–आहार करने से यह तात्पर्य है कि उसमें कोई मात्रा नहीं है। कोई कैसा आहार लेता है, कोई कैसा, पृथ्वीकाय के जीवों का रहन–सहन भिन्न–भिन्न और विचित्र है। इसलिए उनमें श्वास की भी मात्रा नहीं है कि कब–कितना लेता है। तात्पर्य यह है कि इनका श्वासोच्छ्वास विषम रूप है। उसकी मात्रा का निरूपण नहीं किया जा सकता।

शास्त्र सम्बन्धी वार्त्ता बड़ी आनन्ददात्री है। मगर जिसमें इस वार्ता का रस लेने का सामर्थ्य हो, वही आनन्द ले सकता है। आजकल हम लोगों का ज्ञान अत्यल्प है और जीवन में जंजाल बहुत हैं। अतएव हम लोग शास्त्र के रहस्य को भली–भांति समझ नहीं पाते। मगर आज जीवन कितना ही व्यस्त क्यों न हो, जिस समय शास्त्र का निर्माण हुआ, उस समय ऐसा जंजाल न था। इस कारण उस समय शास्त्र बड़े महत्व की दृष्टि से देखे जाते थे।

उक्त वर्णन से इस बात का भी भलीभांति अनुमान किया जा सकता है कि जैन धर्म क्या है? उसकी बारीकी और व्यापकता कहां तक जा पहुंची है! एक छोटे से राज्य का राजा होता है, दूसरा बडे राज्य का होता है। वासुदेव का भी राज्य और चक्रवर्ती का भी। चक्रवर्ती का राज्य सबसे बड़ा गिना जाता है, क्योंकि उसके राज्य में सभी एक छत्र आ जाते हैं। सबका एक छत्र के नीचे आ जाना, यही चक्रवर्ती का चक्रवर्तीपन है।

हम लोग तीर्थंकरों की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं–'प्रभो! तू त्रिलोकीनाथ है।' अगर भगवान् को त्रिलोकनाथ कहते हैं तो उनके राज्य में तीनों लोक के जीवों का समावेश हो जाना चाहिए। फिर भले ही कोई छोटा हो या बड़ा हो। चक्रवर्ती मनुष्यों पर ही शासन करता है, लेकिन त्रिलोकनाथ का छत्र तो चौबीस दण्डकों के जीवों के सिर पर है। उनका छत्र नारकी जीवों पर भी है। जैसे बड़ा राजा, अपने राज्य को प्रान्तों में विभक्त करता है, उसी प्रकार भगवान् ने अपने राज्य चौबीस दण्डक रूपी प्रान्तों में विभक्त किया है। इन दण्डकों में से पहला दण्डक नारकी का है। भगवान् ने नारकियों को सबसे पहले याद किया है। मनुष्य के शरीर में भी पहले पांव गिना जाता है, सिर नहीं। लोग पैर पूजना कहते हैं, सिर पूजना नहीं कहते। पैर का महत्व बढ़ने से सिर का महत्व आप ही बढ़ जाता है। भगवान् का राज्य तीनों लोकों में फैला है। उन्होंने नरक को भी एक प्रान्त बनाया है।

यहां यह आशंका हो सकती है कि असुरकुमार आदि के जो समीप ही हैं, दस दंडक माने गये हैं और नारकी जीवों का एक ही। इसका क्या कारण है? इस आशंका का समाधान यह है कि नारकी जीवों में इतनी अधिक उथल–पुथल नहीं होती; क्योंकि वे दुःख में पड़े हैं। भवनवासी उथल–पुथल करते रहते हैं। इत्यादि कारणों से उनके दस दंडक किये गये हैं।

फिर प्रश्न होता है कि असुरकुमार के सिवा नौ भवनवासी समान ही हैं, फिर इनके अलग अलग दंडक क्यों बताये गये हैं। एक ही दंडक क्यों न बता दिया?

जिन भगवान् ने दंडक रूपी प्रान्त बनाये हैं, इन्हें उस विषय में अधिक ज्ञान था। हमें उनकी व्यवस्था पर ही निर्भर रहना चाहिए।

इस विषय में सूत्रों में कोई स्पष्टीकरण नहीं हैं किन्तु आचार्यो की धारणा ऐसी है कि नारकी में सातों नरक के नेरयिक परस्पर संलग्न हैं–इनके

बीच में कोई दूसरे त्रस जीव नहीं हैं किन्तु भवनपति देवों में यह बात नहीं है, इनकी बीच में व्याघात होने से इनके दंडक पृथक–पृथक माने हैं अर्थात् प्रथम नरक के 13 प्रतर और 12 अन्तर हैं। अन्तर में एक–एक जाति के भवनपति रहते हैं और प्रतर में नेरिये रहते हैं परन्तु प्रथम नरक के नीचे के प्रतर से सातवीं नरक तक बीच में कोई भी नहीं होने से नेरयिकों का एक और दश जाति के भवनपतियों के दंडक (विभाग) किये गये हैं ऐसी पूर्वाचार्यो की धारणा है।

पृथ्वीकाय के जीवों का एक दंडक है। पृथ्वीकाय के जीवों को यह मालूम नहीं है कि मैं पृथ्वी हूं। लेकिन भगवन् कहते हैं कि जो खेल असुरकुमारों में हो रहा है, वही पृथ्वीकाय के जीवों में भी हो रहा है। जैन शास्त्रों में जैसा अनन्त विज्ञान भरा है, वैसा ज्ञान अन्यत्र देखने में नहीं आता।

भगवान् ने नरक के जीवों, असुरकुमार और पृथ्वीकाय के विषय में 72 बातें कही हैं। इन जीवों के जितनी–जितनी इंन्द्रिया हैं, उनका वर्णन भी किया गया है। भगवान् की करुणा सभी जीवों पर समान है।

पृथ्वीकाय की ही तरह जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय का भी एक एक दंडक माना गया है। फिर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का एक एक दंडक किया और एक दंडक मनुष्य का किया है। चाहे मनुष्य किसी भी क्षेत्र का और किसी भी जाति का हो, सबका दंडक एक ही है। मनुष्य के दंडक के बाद वान–व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक का दंडक गिना गया है।

देव और असुर दो योनियां हैं। देव में ज्योतिष्क और वैमानिक गिने जाते हैं और असुर योनि में असुरकुमार आदि गिने जाते हैं। देवों में इतने झगड़े नहीं होते, जितने असुरों में होते है। भगवान् ने असुरकुमार आदि दस के दस दंडक गिनाये और देवों का एक ही दंडक गिना यह त्रिलोकीनाथ का राज्य है।

पृथ्वीकायिक जीवों के आहार के विषय में कहा गया है कि अगर व्याघात न हो उनका आहार छहों दिशाओं से होता है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि व्याघात किसे कहते हैं?

लोक के अन्त में,जहां लोक और अलोक की सीमा मिलती है,वहीं व्याघात होना संभव है। जहां व्याघात नहीं है वहां छहों दिशा का आहार लेते

हैं,जहां व्याघात हो वहां तीन,चार या पांच दिशा से आहार लेते हैं। तात्पर्य यह है कि लोक के अन्त में,कोने के ऊपर रहा हुआ पृथ्वीकाय का जीव तीन,चार या पांच दिशाओं से आहार ग्रहण करता है। तब तीन दिशाएं अलोक में दब जाती हैं– तीन तरफ अलोक आ जाता है,तब तीन दिशा से आहार लेते हैं। जब दो दिशाएं अलोक में दब जाती हैं तब चार दिशा का और जब एक दिशा अलोक में दब जाती है तब पांच दिशाओं से आहार लेते हैं। मतलब यह है कि जो दिशा अलोक में दब जाती है, उसका आहार नहीं लेते।

पृथ्वीकाय जीवों के एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। उन्हे रसेन्द्रिय नहीं है। जिसके रसेन्द्रिय नही है वह उसके द्वारा आहार ग्रहण करके स्वाद लेता है, मगर यह बात इनमें नहीं पाई जाती। इसलिए यह जीव स्पर्शनेन्द्रिय से ही आहार ग्रहण करके उसका आस्वादन करते हैं। इनका यह स्पर्श भी एक प्रकार का आस्वादन है।

पांच स्थावरों की स्थिति में अप्काय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की है। अग्निकाय के जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन दिन की है वायुकाल की उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्ष की, वनस्पति काय की दस हजार वर्ष की और पृथ्वीकाय की बाईस हजार वर्ष की स्थिति है। इस प्रकार इन सबकी स्थिति है।

दो–इन्द्रिय की स्थिति उत्कृष्ट बारह वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। दो इन्द्रिय वाले जीवों को अभोगआहार की इच्छा असंख्यात समय बाद होती है। असंख्यात समय कितना लेना चाहिए, यह बताने के लिए अन्तर्मुहूर्त्त का असंख्यात समय ग्रहण किया गया है। द्वीन्द्रिय जीवों के आहार का कोई निश्चित समय नहीं है, अतएव वह विमात्र से कहा गया है।

इन जीवों का आभोग आहार रोम द्वारा भी होता है जब वर्षा होती है तब रोमों द्वारा शीत आप ही आ जाता है। वह रोमाहार कहलाता है।

द्वीन्द्रिय जीवों के आभोग–आहार के विषय में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वे रोम द्वारा गृहीत आहार को पूर्ण रूप से खा जाते है और प्रक्षेपाहार का बहुत सा भाग नष्ट हो जाता है और असंख्यातवां भाग शरीर रूप में परिणत हो जाता है। इस कथन के आधार पर यह प्रश्न किया गया

है कि जो पुद्गल स्पर्श में तथा आस्वाद में आये बिना ही नष्ट हो जाते हैं, उनमें कौन–से अधिक हैं? अर्थात् स्पर्श में न आने वाले पुद्गल अधिक हैं या आस्वाद में न आने वाले? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि आस्वाद में न आने वाले पुद्गल थोड़े हैं और स्पर्श न किये जाने वाले पुद्गल अनन्त गुण है।

त्रीन्दिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की स्थिति में अन्तर हैं त्रीन्द्रिय जीवों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट 49 रात दिन की है। चौइन्द्रिय जीवों की जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट छह मास की है। आहार आदि में जो अन्तर है, वह पहले बतलाया जा चुका है।

पंचेन्द्रिय तिर्यच का आहार षष्ठभक्त अर्थात् दो दिन बीत जाने पर बतलाया गया है। यह आहार देवकुरु और और उत्तर कुरु के युगलिक तिर्यचों की अपेक्षा कहा गया हैं। इसी प्रकार मनुष्यों का जो अष्टमभक्त अर्थात तीन दिन बाद आहार कहा है, वह भी देवकुरु, उत्तरकुरु के युगमलिक मनुष्यों की अथवा भरतादि में जब प्रथम आरा प्रारम्भ होता है या छठा आरा उतसर्पिणी का पूर्ण होता है, उस समय के मनुष्यों की अपेक्षा समझना चाहिए।

वान्:व्यन्तर की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक पल्योपम की है ज्योतिषी देवों की जघन्य पल्योपम के आठवें भाग की और उत्कृष्ट एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की है।

दो र्मुहूर्त्त से लेकर नौ मुहूर्त्त तक को मुहूर्त्तपृथक्त्व कहते हैं। जघन्य मुहूर्त्तपृथक्त्व में दो या तीन मुहूर्त्त समझना चाहिए और उत्कृष्ट में आठ या नौ मुहूर्त्त लेना चाहिए।

वैमानिकों की स्थिति औधिक कही है। औधिक का परिमाण एक पल्योपम से लेकर तेतीस सागरोपम तक है। इसमें जघन्य स्थिति सौधर्म देवलोक की अपेक्षा और उत्कृष्ट अनुत्तर विमानों की अपेक्षा से कही गई है।

श्वासोच्छ्वास का जघन्य परिमाण जघन्य स्थिति वालों की अपेक्षा और उत्कृष्ट परिमाण उत्कृष्ट स्थिति वालों की अपेक्षा से जानना चाहिए। यहां संग्रह–गाथा कही है, जो इस प्रकार है:–

जस्स जाइं सागराइं तस्स ठिई तत्तिएहिं पक्खेहिं।
उस्साओ देवाणं, वाससहस्सेहिं आहारो ।।

अर्थात्–वैमानिक देवों को जितने सागरोपम की स्थिति हो, उनका श्वासोच्छ्वास उतने ही पक्ष में होता है और आहार उतने ही हजार वर्ष में समझना चाहिए।

यह चौबीस दंडकों के विषय में व्याख्यान हुआ। किस दंडक वाले जीव की कितनी स्थिति है; क्या आहार है, कर्म पुद्गल कैसे लगते हैं, और किस प्रकार झड़ते हैं, इत्यादि अनेक–विध प्रश्न गौतम स्वामी ने किये और भगवान् महावीर ने उनका उत्तर दिया।

अब तक जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उन सबके आधार पर यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि जब आत्मा अरूपी है तो उसमें आहार आदि का झगड़ा क्यों है? श्वासोच्छ्वास और कर्मबंध आदि भी कैसे होते हैं? आत्मा अमूर्त होने के कारण आकाश की भांति निर्लेप, निर्विकार रहनी चाहिए।

सांख्यमत में आत्मा अकर्त्ता है, क्योंकि अमूर्त्तिक है। जो अमूर्त्तिक होता है, वह कर्ता नहीं होता; जैसे आकाश। आकाश अमूर्तिक है, अतएव कर्ता नहीं है, इसी प्रकार आत्मा भी कर्ता नहीं होनी चाहिए।

सांख्य के इस मत में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा अमूर्त्त होने से अगर कर्ता नहीं है तो सुख–दुःख का भोग क्यों करती है? इस प्रकार उत्तर सांख्य यह देते हैं कि यह सब प्रकृति करती है। प्रकृति के संसर्ग से आत्मा अपने आपको सुखी–दुःखी मान लेती है, पर वास्तव में सुख–दुःख प्रकृति के ही होते हैं।

सांख्य की यह मान्यता न जैनो को स्वीकार है, न वेदान्तियों को। इस मान्यता पर सर्वप्रथम ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा अगर अरूपी और अकर्त्ता है तो? वह शरीर में क्यों पड़ी है? सांख्य यह कह सकते हैं कि पकृति ने इसे कैद कर रक्खा है, मगर यदि प्रकृति के रोकने से यह शरीर में रुकी रहती है और कर्ता नहीं है, तो उसे मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? इसके अतिरिक्त जड़ प्रकृति को तो कर्ता माना जाये और चेतन आत्मा को अकर्ता कहा जाये, यह कहां तक तर्कसंगत हो सकता है?

अब यह कहा जा सकता है कि आपके (जैन) मत में आत्मा रूपी है या अरूपी? रूपी तो आप स्वीकार नहीं करते। अगर अरूपी है और ज्ञानवान् भी है तो वह अज्ञान के कार्य क्यों करती है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा स्वभाव से अरूपी होते हुए भी प्रकृति के साथ लगी हुई है। आत्मा अनादिकाल से है और अनादि काल से ही कर्मों के साथ उसका संयोग हो रहा है। कर्मो के साथ एकमेक हो जाने के कारण संसारी आत्मा कथञ्चित् रूपी बनी हुई

है और अपने असली स्वरूप को भूल गयी है। वास्तव में आत्मा ही कर्ता है। वह सब क्रियाएं करती है आत्मा शरीर में रहने वाली देही है और शरीर, देह है। आत्मा के दो देह हैं। एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। स्थूल देह जब छूट जाती है, तब भी सूक्ष्म देह आत्मा के साथ बनी रहती है। सूक्ष्म शरीर के साथ रहने से ही आत्मा बार–बार जन्म–मरण करती है। जन्म–मरण का यह कारण जब मिट जाता है तब जनम–मरण भी मिट जाता है। जन्म–मरण का कारण क्या है, यही वर्णन अब भगवती सूत्र में आता है।

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर
– एक परिचय –

स्थानकवासी जैन परम्परा में आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा. एक महान् क्रांतिकारी संत हुए हैं। आषाढ़ शुक्ला संवत् 2000 को भीनासर में सेठ हमीरमलजी बांठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला में उन्होंने संथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध संघ की एक श्रद्धांजलि सभा आयोजित की गई जिसमें उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालाल जी बांठिया ने उनकी स्मृति में भीनासर में ज्ञान–दर्शन चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदन्तर दिनांक 29.4.1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप में इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

शिक्षा–ज्ञान एवं सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित करते हुए संस्था ने अपने छह दशक पूर्ण कर लिए हैं। आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. के व्याख्यानों से संकलित, सम्पादित ग्रंथों को 'श्री जवाहर किरणावली' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान में इसकी 32 किरणों का प्रकाशन संस्था द्वारा किया जा रहा है इसमें गुंफित आचार्यश्री की वाणी को जन–जन तक पहुंचाने का यह कीर्तिमानीय कार्य है। आज गौरवान्वित है गंगाशहर–भीनासर की पुण्यभूमि जिसे दादा गुरु का धाम बनने का सुअवसर मिला और ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा. की कालजयी वाणी जन–जन तक पहुंच सकी।

संस्था द्वारा एक पुस्तकालय का संचालन किया जाता है जिसमें लगभग 5000 पुस्तकें एवं लगभग 400 हस्तलिखित ग्रंथ हैं। इसी से सम्बद्ध वाचनालय में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक– कुल 30 पत्र–पत्रिकायें उपलब्ध करवाई जाती हैं। प्रतिदिन करीब 50–60 पाठक इससे लाभान्वित होते हैं। ज्ञान–प्रसार के क्षेत्र में पुस्तकालय–वाचनालय की सेवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और क्षेत्र में अद्वितीय है।

महिलाओं को स्वावलम्बी बनाने हेतु संस्था द्वारा सिलाई, बुनाई, कढाई–प्रशिक्षण–केन्द्र का संचालन किया जाता है, जिसमें योग्य अध्यापिकाओं द्वारा महिलाओं व छात्राओं को सिलाई, बुनाई, कढ़ाई व पेन्टिंग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यों में योगदान दे सकती हैं और आवश्यकता पड़ने पर इस कार्य के सहारे जीवन में स्वावलम्बी भी बन सकती हैं।

संस्था के संस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालाल जी बांठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति में एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमें उच्च कोटि के विद्वानों को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयों पर प्रवचन आयोजित किए जाते हैं।

उपरोक्त के अलावा प्रदीप कुमार जी रामपुरिया–स्मृति–पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एवं वाणिज्य संकाय में बीकानेर विश्वविद्यालय में प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिन्ह देकर सम्मानित किया जाता है एवं स्नातकोत्तर शिक्षा में बीकानेर विश्वविद्यालय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप में प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिन्ह देकर सम्मानित किया जाता है।

विद्यापीठ द्वारा ठण्ड़े, मीठे जल की प्याऊ का संचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वयं–सिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यों से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर है।